भारतीय धर्मों का इतिहास—ग्रन्थ—१

वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत

लेखक

रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर

अनुवादक

महेश्वरी प्रसाद

प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति व पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक :—
भारतीय विद्या प्रकाशन
पोस्ट बाक्स १०८, कचौड़ी गली
वाराणसी
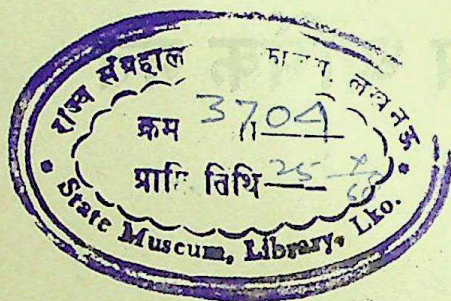
प्रथम संस्करण
अगस्त, १९६७
मूल्य ७·५०

:—
...श कपूर
... लिमिटेड
...१५४-२४
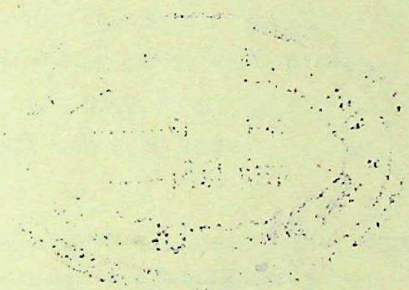
विष्णुं यं कतिचिद्विदन्ति गिरिशं केचिद्विशाखं परे
शक्तिं केऽपि रविं गणेशमपरे ब्रह्माणमेवेतरे ।
अन्तर्यामितया स्फुरन्तमनिशं विश्वम्भरं भास्वरं
भेदेऽभेदधिया वसन्तमनघं नत्वार्पयामः कृतिम् ॥
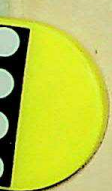
प्रस्तावना

हिन्दूधर्म न तो ईसाई और मोहम्मदीय धर्मों के समान पैगम्बरीय ही है और बौद्ध धर्म के समान रहस्यवादी ही। इस रूप में हिन्दूधर्म विलक्षण है। यह एक विच्छिन्न परम्परा की ऐतिहासिक परिणति है। यह ऐतिहासिक विकास आवयविक -एक वृक्ष के समान, जिसमें पूर्ववर्ती तत्त्व परवर्ती रूप में न्यस्त होकर विकसित होते हैं। इतिहास की इस सनातन प्रक्रिया के कारण हिन्दूधर्म युगपत् रीति से संरक्षण- और गतिशील है। इसमें प्राचीनता के साथ-साथ अर्वाचीनता अर्धनारीश्वर के न एक दूसरे से संमिश्र हैं।

प्रायः सभी पारम्परिक संस्कृतियों का अन्तःप्राण धर्म है। वैज्ञानिक विकास, ाजिक व्यवस्थाओं का प्रसार, दार्शनिक विवेचन का आधार और सांसारिक न का मेरुदण्ड धर्म के केन्द्र से सम्बद्ध हैं। अतः ऋग्वेदीय वाक् के समान कृति भी अपने आन्तरिक स्वरूप को धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रकट करती है। मृद्भाण्ड धातुनिर्मित उपकरण संस्कृति के केवल एकांश को उद्भिन्न कर सकते हैं, किन्तु कृति का विशेषक तो धार्मिक अनुष्ठान, देवमूर्ति अथवा अनुष्ठान में प्रयुक्त उपादान हो सकता है। उदाहरण के लिए मेही (दक्षिण बलूचिस्तान) के मृद्भाण्ड उसी र नीललोहित हैं, जिस प्रकार झुकर-झंकर संस्कृतियों के। किन्तु चञ्चुमुख मृण्मय याँ मेही-संस्कृति की अपनी विशेषतायें हैं। इन चञ्चुमुख मूर्तियों के पृष्ठ पर अंकित ों से तथा ऋग्वेद १०, ११४ के वर्णन के आधार पर उनका सुपर्ण के साथ ात्म्य हो सकता है। चमस के ऊपर सारमेय का अंकन भी महत्त्वपूर्ण है। अतः -संस्कृति का नीललोहित मृद्भाण्ड-संस्कृति के रूप से वर्णन संस्कृति का वैसा चायक नहीं हो सकता जैसा सुपर्ण-सारमेय प्रसंग में उसका अध्ययन।

श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दूधर्म के इतिहास में कृत् है। १९०५ ई० में फ्री चर्च कॉलेज लिटरेरी सोसाइटी ऑफ बाम्बे के तत्त्वाव- ा में शोध की नवीन दिशाओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने धार्मिक इतिहास की र भी इंगित किया था। उन्होंने स्वयं इस दिशा में कार्य आरम्भ किया और ाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डो-आर्यन रिचर्स ग्रंथमाला के लिए 'वैष्णविज्म शैविज्म ऽ माइनर रिलीजस सिस्टम्स' का लेखन प्रारम्भ किया। इसका १९११ ई० में ापन और १९१३ ई० में प्रकाशन हुआ।

इस ग्रंथ के लेखन-काल में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्मों के तुलनात्मक ायन का प्रचलन था, इसलिए स्वाभाविक था कि भण्डारकर ने धर्म की तुलनात्मक ययन-विधि से प्राप्त निष्कर्षों को दृष्टि में रखकर हिन्दूधर्म का विकास देखा।

ऋग्वेदीय देवताओं को केवल प्राकृतिक उपकरणों का मानवीकरण मानना इस प्रवृत्ति का निदर्शन है। इस अन्तराल में धर्म के अध्ययन की विधियाँ अनेकशः विकसित हुईं और सम्प्रति धर्म का समाज-वैज्ञानिक अध्ययन जनप्रिय हो गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ से लेकर जी० एस० घुर्ये के 'रिलीजन एण्ड मैन' तक धर्म के अध्ययन-विधि का एक लम्बा सोपान है। भण्डारकर के इस ग्रन्थ के मूल प्रकाशन के बाद कुछ नवीन पुरातात्त्विक सामग्री भी प्राप्त हुई है। सैन्धव सभ्यता के प्रकाशन ने भारतीय संस्कृति के अध्ययन में एक नया आयाम जोड़ा है। फिर भी इस ग्रन्थ के निष्कर्ष अद्यावधि मान्य हैं।

भण्डारकार के निष्कर्ष नपे-तुले हैं। उनका आदर्श न्यायाधीश का है। उनकी दृष्टि व्यापक है और उनकी शैली समीक्षात्मक है। धर्म का इतिहास लिखने में उन्होंने साहित्य, अभिलेख, मुद्रा तथा शिल्प इन सभी साधनों का उपयोग किया है और यथास्थान प्रमाण के प्रामाण्य एवं तिथि पर भी विचार किया है। इन्हीं सब कारणों से भाण्डारकर की प्रस्तुत कृति अब तक भारती-विद्या के क्षेत्र में पूर्ववत् अपना स्थान बनाए हुए है। ऐसी कृतियाँ राष्ट्रभाषा में अवश्यमेव अनूदित होनी चाहिए।

प्रस्तुत अनुवाद में इस बात का बराबर ध्यान रखा गया है कि मूल पुस्तक के गुण अनुवाद में खो न जायें। फिर भी सुधी-जनों के सुझावों का स्वागत किया जायेगा।

१५ अगस्त, १९६७
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

महेश्वरी प्रसाद

विषय-सूची

१

२

३

संकेत-सारिणी

अ० उ० = अथर्वशिरस् उपनिषद्
अ० वे० = अथर्ववेद
आ० गृ० = आश्वलायन गृह्यसूत्र
इण्डि० एण्टि० = इण्डियन एण्टिक्वेरी
ऋ० वे० = ऋग्वेद
ऋ० वे० सं० = ऋग्वेद संहिता
एपि० इण्डि० = एपिग्राफिया इण्डिका
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
ओ० एस० टी० = ओल्ड संस्कृत टेक्ट्स
क० उ० = कठ उपनिषद्
के० उ० = केन उपनिषद्
कौ० ब्रा० = कौषीतकि ब्राह्मण
कौ० ब्रा० उ० = कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद्
जे० आर० ए० एस० = जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जे० बी० बी० आर० ए० एस० = जनरल ऑफ बाम्बे ब्राञ्च ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी
छा० उ० = छान्दोग्य उपनिषद्
तै० आ० = तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ० = तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
पा० गृ० = पारस्कर गृह्यसूत्र
बि० इ० = बिब्लियोथिका इण्डिका
बृ० उ० = बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं० = बृहत्-संहिता
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
भ० गी० = भगवद्गीता
महा० = महाभारत
मु० उ० = मुण्डक उपनिषद्
मै० उ० = मैत्रायणी उपनिषद्

य० वे०	= यजुर्वेद
वा० सं०	= वाजसनेयी संहिता
श० ब्रा०	= शतपथ ब्राह्मण
श्वे० उ०	= श्वेताश्वर उपनिषद्
ह०	= हरिवंश
हि० गृ०	= हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र

टिप्पणी :—पृ० १३९ पर १३वीं पंक्ति में (२) अविद्या के स्थान पर (२) कला पढ़ें।

वैष्णवधर्म

प्राचीन वैदिक देव-पूजा एक ऐसी पद्धति के अभिन्न अंग थे जो, आयाससाध्य और यान्त्रिक थी। उसमें इस बात का प्रतिपादन किया गया था कि पूजा की विधि और नियम युक्तियुक्त हैं, तथा उनमें मनुष्य के ऐहलौकिक और पारलौकिक कल्याण करने की शक्ति है। परन्तु इस सबसे लोगों के धार्मिक उत्साह की सन्तुष्टि नहीं हुई। लगभग मन्त्रकाल की समाप्ति के समय अधिक सहज धार्मिक चिन्तन आरम्भ हुआ, जो उपनिषद् काल तक प्रचलता रहा। ईश्वर, जीव तथा जगत् सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं ने अनेक विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया और वे विविध निष्कर्षों पर पहुँचे। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि उपनिषदों में एक मात्र अद्वैत मत का प्रतिपादन है। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से प्रकट होगा कि उनमें ईश्वर, जीव, जगत् तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में किसी एक मत का नहीं, अपितु अनेक मतों का उपदेश दिया गया है। आज के परस्पर-विसंगत धार्मिक-दार्शनिक पन्थ अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रमाण के लिए उपनिषदों के वचन उद्धृत करते हैं। उनके द्वारा उद्धृत प्राचीन ग्रन्थों के कुछ निर्देश तो समीचीन हैं। किन्तु इन मतों के प्रचारक विपरीत प्रकृति के ग्रन्थों में भी बलात् अपने सिद्धान्त के अनुरूप अर्थ निकालने लगते हैं। ...संगत है। उपनिषद् किसी एक मत का नहीं अपितु अनेक मतों का प्रवचन .. हैं। यह बात इस तथ्य से समझ लेनी चाहिये कि ऋग्वेद संहिता की भाँति उपनिषद् भी संकलन हैं। प्राचीन ऋषियों ने अपने चिन्तनों को वाणी प्रदान की, मौखिक परम्परा ने उनका मार्ग प्रशस्त किया और वे एकराशि होकर लहराने लगे। जब इनके संग्रह का विचार उदय हुआ, तब इन्हें विभिन्न वैदिक शाखाओं के लिए ग्रन्थों का रूप दे दिया गया। यही कारण है कि एक उपनिषद् में प्राप्त होने वाले कतिपय श्लोक, वाक्यांश अथवा सम्पूर्ण खण्ड अन्य उपनिषदों में भी मिलते हैं।[1]

जगत् में ईश्वर की व्यापकता का विचार निःसन्देह उपनिषदों में उदग्र है। परन्तु यदि यही विश्वात्मवाद (Pantheism) है तो यूरोप के आधुनिक उदार (लिबरल) धार्मिक चिन्तन को भी विश्वात्मवादी माना जाना चाहिए। ईश्वर

१. द्रष्टव्य, प्राणादि शारीरिक तत्त्वों की श्रेष्ठता के बारे में छा० उ० (५,१,१) तथा बृ० उ० (६,१,१) में प्राप्त होने वाले स्थल; पञ्चाग्निविद्या के बारे में छा० उ० (५, ४, १) तथा बृ० उ० (६, २, ९) में प्राप्त होने वाले स्थल; अहंकारी बालाकि एवं अजातशत्रु के बारे में कौ० ब्रा० उ० (४) तथा बृ० उ० (२, १) में प्राप्त स्थल एवं अन्य स्थल (तै० उ० २, ८ तथा बृ० उ० ४, ३, ३३)। श्लोकों की पुनः प्राप्ति के बारे में देखिए मु० उ०; श्वे० उ० एवं कठ उपनिषद्।

विश्व में व्याप्त (विश्वानुग) होने के साथ-साथ उससे परे (विश्वोत्तीर्ण) भी है जैसा कि वेदान्त सूत्र (११, १, २७)[1] में बतलाया गया है। इन दो सिद्धान्तों के साथ-साथ उपनिषद् यह शिक्षा भी देते हैं कि ईश्वर समस्त भूतों का पालक है, सर्व-भूताधिपति है तथा मनुष्यों के हृदय में निवास करता है। जैसा वह है, उस रूप में एवं सर्वत्र उसका दर्शन करना शाश्वत आनन्द है। इसकी प्राप्ति समाधि एवं आत्म-शुद्धि से होती है तथा आनन्दमयी स्थिति में जीव ईश्वर के साम्य को प्राप्त हो जाता है।[2] जिस प्रकार नदी सागर में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा के परमात्मा में विलीन होने तथा आत्मा की उस अचेतन स्थिति की शिक्षा भी उपनिषदों में दी गई, जब उसके ज्ञान से अपने अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ तिरोहित हो जाती हैं। इस दृष्टि से इस सिद्धान्त को अद्वैतवादी या समस्त वस्तुओं को भ्रमात्मक प्रतिपादित करने वाला माना जा सकता। उपनिषद् काल का चिन्तन बड़ा उन्मुक्त था तथा यह तत्त्व-रूप में आत्मा के निषेध की प्रतिकूल दिशा तक पहुँच गया था।[3]

धार्मिक-चिन्तन एवं उपासना के उत्तरकालीन विकास में उपनिषद्-सिद्धान्तों ने सक्रिय योग दिया। हेनोथीज्म, जिसकी विशद् व्याख्या मैक्समूलर ने की है तथा विभिन्न देवताओं के एकीकरण ने भी, जो हेनोथीज्म का ही एक परिणाम था, उत्तर-कालीन चिन्तकों को प्रभावित किया। अग्नि, वरुण, मित्र, इन्द्र एवं अर्यमन् वस्तुतः एक हैं।[4] इस एक देववाद का विकास विपरीत दिशा में उपनिषदों की इस धारणा में हुआ कि परमात्मा अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करता है। यदि ये अनेक देव एक हैं तो एक देव अनेक हो सकता है। इसने अवतारों की कल्पना को जन्म दिया, जिसका बाद के धार्मिक मतों में प्रमुख स्थान है।

सामान्य जन के लिए उपनिषदों के ईश्वर की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट व्यक्तित्व वाले उपास्य की आवश्यकता थी। दार्शनिक चिन्तन द्वारा उनकी व्यावहारिक आवश्यक-ताओं की पूर्ति नहीं हुई। अतएव कुछ नवीन और कुछ प्राचीन वैदिक देव पूजा के विषय बन गये।

---

१. अपने ब्रह्म सूत्र-भाष्य में शंकराचार्य द्वारा उद्धृत स्थल देखिए।

२. परमं साम्यं उपैति, देखिए मु० उ० ३, १, ३। कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों का यह मत कि औपनिषदिक शिक्षाओं का सार जगत् की भ्रमरूपता एवं केवल आत्मा की ही तात्विकता का प्रतिपादन है, स्पष्टतया गलत है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यह निष्कर्ष युक्तिहीन है। जैसा कि इस ग्रन्थ में कहा गया है कि संकलन ग्रंथ होने के कारण उपनिषदों से किसी एक सिद्धान्त के उपदेश की नहीं अपितु अनेक सिद्धान्तों के उपदेश की आशा की जाती है।

३. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २०, पृ० ३६१ में मेरे एक लेख "ए पीप इन्टू द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया" में उद्धृत बृ० उ० ३, २, १३।

४. ऋग्वेद, ५, ३, १-२।

नवीन भक्ति मार्ग का उदय

उन्मुक्त चिन्तन की घटा पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। इन मतों ने सृष्टा-रूप में ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया अथवा पुण्य संवर्धन के निमित्त इस विचार का प्रयोग नहीं किया। बौद्ध-मत ने तो तत्त्व के रूप में मानव आत्मा के अस्तित्व का एक तरह से निषेध ही कर दिया। फिर भी इन मतों में अपने संस्थापकों के रूप में अपेक्षित व्यक्तिपरक तत्त्व विद्यमान था। किन्तु पश्चिम भारत में लोगों के मध्य निवास करने के लिए अवतरित होने वाले ईश्वर पर आधारित भक्ति मत का उदय हुआ। चतुर्थ शतक ई० पू० में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा मिथ्या धर्मों का निर्देश निद्देस के (यह टीका के रूप में है, किन्तु पालि बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में उसकी गणना है) निम्नलिखित अवतरण में किया गया है;[1] आजीवक उपासकों के देवता आजीवक, निघण्ठों के निघण्ठ, जटिलों के जटिल, परिव्राजकों के परिव्राजक, अवरुद्धकों के अवरुद्धक हैं तथा जो लोग हाथी, घोड़ा, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द, मणिभद्द, अग्गि, नाग, सुपण्ण, यक्ख, असुर, गन्धब्बों, महाराज, चन्द, सुरिय, इन्द, ब्रह्मा, देव, दिशा के भक्त हैं उनके देवता क्रमशः हाथी, घोड़ा, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द, मणिभद्द, अग्गि, नाग आदि हैं। यहाँ एक बौद्ध ने जिससे दूसरे धर्मों के प्रति उदार बनने की अधिक आशा नहीं की जा सकती, वासुदेव एवं बलदेव के पूजकों को, अग्नि, चन्द्र, सूर्य तथा ब्रह्मा के उपासकों किंवा हाथी, कौआ, कुक्कुर तक के उपासकों के समान स्तर पर रखा है। परन्तु यहाँ पर यह निरूपित किया गया है कि वासुदेवोपासना, अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं ब्रह्मा की उपासनाओं तथा अधम-पशुओं की मिथ्या-उपासनाओं को दबा कर भारत के विशाल भू-भाग का प्रमुख धर्म बन गई थी। अब हमारा कार्य इसके उदय एवं विकास का पता लगाना है।

पाणिनि, ४,३,९८ पर अपने भाष्य में पतञ्जलि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सूत्र में विद्यमान वासुदेव, 'पूजार्ह' (तत्रभवतः) अर्थात् ईश्वर का नाम है, जो कि प्राधान्यतया पूज्य हैं।[2] अतएव वासुदेव की पूजा पाणिनी के ही समान मानी जानी चाहिए।

राजपूताना[3] के घोसुण्डी में पाये गये एक अभिलेख में, जो कि दुर्भाग्यवश खण्डित अवस्था में है, संकर्षण एवं वासुदेव के उपासना-मण्डप के चारों ओर एक भित्ति के निर्माण का उल्लेख है। अभिलेख के अक्षरों के स्वरूप से प्रतीत होता है कि यह अभिलेख ईसासे कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व उत्कीर्ण हुआ होगा।

---

१. यह परिच्छेद मुझे श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने उपलब्ध कराया है।

२. द्रष्टव्य, जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० १६८

३. लूडर की 'लिस्ट ऑव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स' सं० ६

बेसनगर[1] में हाल में प्राप्त एक अन्य अभिलेख में होलिओदोर ने अपने को देव-देव वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज खड़ा कराने वाला बतलाया है। होलिओदोर ने स्वयं को भागवत कहा है। वह दिय का पुत्र, तक्षशिला का निवासी तथा यवन-दूत था। इसलिए वह अंतलिकित के पास से भागभद्र (जो सम्भवतः पूर्वी मालवा का शासक था) के पास दूत के रूप में आया था। इस अभिलेख में अंतलिकित नाम मिलता है जो कि यवन मुद्राओं का एण्टियालकिडस ही है। इस नाम तथा अक्षरों के स्वरूप से प्रकट होता है कि यह अभिलेख द्वितीय शतक ई० पू० के प्रारम्भिक भाग का है। उस समय वासुदेव देवाधिदेव रूप में पूजे जाते थे तथा उनके उपासक भागवत कहलाते थे। भागवत-धर्म भारत के पश्चिमोत्तर-भाग में फैला था और हेलिओदोर जैसे यूनानियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया था।

नानाघाट[2] की विशाल गुफा के अभिलेख सं० १ में प्रारम्भिक वन्दन में अन्य देवों के नामों के साथ संकर्षण एवं वासुदेव के नाम द्वन्द्व-समास में प्राप्त होते हैं। अक्षरों की आकृति से यह अभिलेख ईसा पूर्व प्रथम शतक का प्रतीत होता है।

पाणिनी, ४,३,९८ में वासुदेव नाम के पाये जाने की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि यह क्षत्रिय की संज्ञा नहीं है अपितु पूजार्ह (तत्रभवतः) परमात्मा की संज्ञा है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या पतञ्जलि इस वासुदेव को वृष्णिवंशी वासुदेव से पूर्णतया भिन्न मानते हैं? निद्देस के ऊपर उद्धृतस्थल में वासुदेव एवं बलदेव नाम एक दूसरे के समीप हैं तथा उपर्युक्त तीन अन्य अभिलेखों में से दो में पूज्य या दिव्य व्यक्तियों के रूप में संकर्षण एवं वासुदेव का नाम द्वन्द्व समास में है। इससे यह प्रतीत होता है कि पूज्य (तत्रभवान्) के रूप में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित वासुदेव वृष्णिवंशी वासुदेव रहे होंगे। यद्यपि अभीप्सित रूप की सिद्धि अगले सूत्र (४,३,९९) से हो सकती थी, फिर भी इस सूत्र (४,३,९८) में वासुदेव नाम दिये जाने का कारण बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि पाणिनि वासुदेव को दिव्य पुरुष के रूप में देखते हैं, क्षत्रिय रूप में नहीं। हमें इसे इसी अर्थ में मानना चाहिए, क्योंकि उपर्युक्त घोसुण्डि अभिलेख, जिसमें संकर्षण एवं वासुदेव पूजार्ह व्यक्तियों के रूप में एक साथ उल्लिखित हैं, पतञ्जलि से भी प्राचीन होगा। पतञ्जलि पहले तो वासुदेव का क्षत्रिय होना स्वीकार करते हैं। तदनन्तर इसके विरुद्ध विप्रतिपत्ति करते हुए सूत्र का विचार प्रारम्भ करते हैं। इस विप्रतिपत्ति का एक समाधान यह है कि वासुदेव को तब भी क्षत्रिय माना जाता था। पतंजलि ने जो एक अन्य समाधान प्रस्तुत किया है कि यह नाम क्षत्रिय नाम नहीं है अपितु एक दिव्य पुरुष का नाम है, वह वैकल्पिक है। अतएव यह वैकल्पिक समाधान ऊपर दिये गये अर्थ में समझा जाना चाहिए। सम्पूर्ण साहित्य में

१. लूडर की 'लिस्ट ऑव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स' सं० ६६९
२. वही, सं० ११२२

विद्यमान भागवत संप्रदाय सम्बन्धी विवरणों से यह स्पष्ट है कि पूजार्ह वासुदेव वृष्णि-वंशी थे।

महाभारत के नारायणीय खण्ड का विश्लेषण

इस प्रकार अकाट्य साक्ष्य के आधार पर ई० पू० तीन-चार शताब्दियों के लगभग एक ऐसे धर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है जिसके केन्द्र वासुदेव थे और जिसके अनुयायी भागवत कहलाते थे। अब मैं साहित्य में विशेष रूप से महाभारत में विद्यमान विस्तृत विवरणों की समीक्षा आरम्भ करता हूँ। यह कार्य इससे पूर्व नहीं किया गया है, क्योंकि महाभारत या इसके किसी भी अंश की तिथि का निर्धारण निश्चय के साथ नहीं किया जा सकता। किन्तु शान्ति-पर्व का नारायणीय-खण्ड, जिस पर विस्तृत रूप से विचार किया जायगा, शंकराचार्य से अधिक प्राचीन है, जिन्होंने इससे उद्धरण दिये हैं।

नारद को नर एवं नारायण के दर्शनार्थ बदरिकाश्रम जाते हुए चित्रित किया गया है। नारायण धार्मिक विधियों के सम्पादन में लगे हुए थे। नारद ने नारायण से प्रश्न किया "आप किसकी पूजा करते हैं, जब कि आप स्वयं परमेश्वर हैं?" नारायण ने नारद को बतलाया कि मैं अपनी आदि प्रकृति की पूजा करता हूँ, जो सत् एवं असत् सभी की योनि है। धर्म के पुत्र नर एवं नारायण तथा कृष्ण एवं हरि को परमात्मा के चार रूपों में चित्रित किया गया है।

नारद, आद्या प्रकृति के दर्शनार्थ आकाश पर उड़े तथा मेरु पर्वत के शृङ्ग पर उतरे। वहाँ पर उन्होंने इन्द्रियों से विहीन, किसी भी वस्तु को न खाने वाले (अनशनाः) पाप रहित, छत्र के समान शिरों वाले, मेघ की गर्जना के समान निनाद करने वाले तथा भगवान् के भक्त श्वेत पुरुषों को देखा। युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं कि ये पुरुष कौन थे? ये कैसे उत्पन्न हुए? वे क्या थे? भीष्म राजा उपरिचर की कथा कहते हैं, जिसने सात्वत्-विधि के अनुसार भगवान् की पूजा की थी। वह इन्द्र द्वारा सम्मानित, यशस्वी, सत्यपरायण एवं पवित्र राजा था। पाञ्चरात्र मत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों को वह भोजन में अग्र आसन प्रदान करके सत्कृत करता था। इसके बाद कथाकार चित्रशिखण्डियों का वर्णन करता है, जो इस मत के आदि प्रकाशक मालूम पड़ते हैं। मेरु पर्वत पर उन्होंने इस मत को प्रकाशित किया। वे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, एवं वसिष्ठ सात थे। आठवें स्वायम्भुव थे। इन आठों से यह दिव्य शास्त्र निकला। इस शास्त्र का प्रकाशन उन्होंने परम भगवत् के समक्ष किया। तब भगवान् ने ऋषियों से कहा, "आप लोगों ने शतसहस्र उत्तम श्लोकों की रचना की है जिनमें समस्त लोक धर्म विद्यमान हैं, जो यजुः, साम, ऋक् तथा अथर्वशिरस् के अनुरूप हैं तथा जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के विषय में नियमों को निर्धारित करते हैं। ब्रह्मा को मैंने अपनी प्रसन्न प्रकृति से रचा तथा रुद्र को क्रोधमयी प्रकृति से। यह

शास्त्र एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के समीप परम्परागत रूप से पहुँचेगा तथा अन्त में यह बृहस्पति को प्राप्त होगा। बृहस्पति से राजा वसु इसे प्राप्त करेंगे। राजा इस शास्त्र का पालन करेगा और मेरा भक्त होगा। उसकी मृत्यु के उपरान्त यह शास्त्र लुप्त हो जायगा।" इतना कहकर पुरुषोत्तम अदृश्य हो गये। तदनन्तर चित्र-शिखण्डियों ने इस धर्म का प्रसार किया और क्रमशः यह शास्त्र बृहस्पति को प्राप्त हुआ। राजा वसु उपरिचर उनका प्रथम शिष्य था। उसने इस शास्त्र की शिक्षा बृहस्पति से प्राप्त की। एक समय उसने एक महान् अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें किसी भी पशु का वध नहीं किया गया। उस यज्ञ में आरण्यकों के पदों के अनुसार भाग उपकल्पित किये गये। देवदेव भगवान् ने वसु को साक्षात् दर्शन दिये तथा अपना भाग ग्रहण किया। परन्तु अन्य कोई भी उन्हें नहीं देख सका। चूँकि बृहस्पति से अदृश्य होकर हरि अपना भाग ले गये थे अतः बृहस्पति क्रुद्ध हो गये तथा उन्होंने स्रुक् को वेग से ऊपर उठाया। उस यज्ञ में प्रजापति-पुत्र एकत, द्वित एवं त्रित तथा सोलह ऋषि, जिनमें से मेधातिथि, तित्तिरि, तथा ताण्डय आदि अनेक ग्रन्थकर्ताओं के रूप में प्रसिद्ध हैं, उपस्थित थे। बृहस्पति के क्रुद्ध होने पर सबों ने कहा कि हरि के दर्शन केवल उसे सुलभ हो सकते हैं जो उनका कृपा-पात्र है, जिस किसी को नहीं। एकत, द्वित एवं त्रित ने कहा, "एक समय हम लोग निःश्रेयस प्राप्त करने के निमित्त उत्तर दिशा में क्षीरसागर के समीप गये तथा चार सहस्र वर्षों तक तप किया। अन्त में आकाश में अदृश्य वाणी ने यह कहा, 'तुम लोग उस विभु का दर्शन कैसे कर सकते हो? क्षीर समुद्र में एक श्वेतद्वीप है। वहाँ पर चन्द्रमा की सी कान्ति वाले, अनिन्द्रिय, निराहार तथा भगवान् के भक्त एकान्तिन् पुरुष उस सूर्य की तरह तेजस्वी भगवान् में प्रवेश करते हैं। उस द्वीप में जाओ। वहाँ पर मेरी आत्मा प्रकाशित है।' तदनुसार हम श्वेत-द्वीप गये। वहाँ पर उसके तेज को चकाचौंध के कारण हम उसको नहीं देख सके। तदनन्तर हमारे अन्दर यह ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ कि तप किये बिना हम उसका दर्शन नहीं कर सकते। सौ वर्षों तक और तप करने के उपरान्त हमने चन्द्रमा की सी कान्ति वाले, भगवान् के ध्यान में समाहितचित्त पुरुषों को देखा। उनमें एक एक की प्रभा प्रलयकालीन सूर्य की प्रभा के समान थी। इसके बाद हमने एक ध्वनि सुनी, 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष आदि' (ऐ कमल के समान नेत्र वाले तुम्हारी जय हो)। कुछ ही समय के बाद आकाशवाणी हुई, 'जैसे तुम आए हो, वैसे ही वापस चले जाओ। उस परमपुरुष का दर्शन वह व्यक्ति नहीं कर सकता जो उनका भक्त नहीं है। इसके बाद हम उसका दर्शन किये बिना वापस लौट आये। फिर आप उनका दर्शन कैसे कर सकते हैं?" एकत, द्वित और त्रित से यह सुनने पर बृहस्पति ने यज्ञ का समापन किया।

वसु उपरिचर को ऋषियों के शाप के कारण पृथ्वी के अन्दर एक विवर में रहना पड़ा। देवों के साथ एक संवाद में ऋषियों ने यह पक्ष प्रस्तुत किया कि यज्ञ में केवल बीजों से यजन करना चाहिए, पशुओं का वध नहीं करना चाहिए; जब कि देवों का मत

यह था कि यज्ञ में बकरे की बलि देना चाहिए। यह प्रश्न वसु के सामने रखा गया। उसने देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। नारायण ने, जिनकी राजा ने बड़ी भक्ति के साथ पूजा की थी, गरुड़ को भेजकर विवर से वसु का उद्धार किया। अनन्तर राजा ब्रह्मलोक पहुँचा।

इसके बाद नारद की श्वेतद्वीप-यात्रा की कथा चलती है। नारद पवित्रता एवं तेज के बोधक नामों द्वारा उस परम-पुरुष की स्तुति करते हैं। परम-पुरुष यह कहते हुए नारद के समक्ष प्रकट होते हैं कि जो उसके एकान्त-भक्त नहीं हैं, वे उसका दर्शन नहीं कर सकते। नारद उनके एकान्त-भक्त थे, अतः उन्होंने नारद को दर्शन दिये। तदुपरान्त नारद को वासुदेव-धर्म का उपदेश देते हैं। वासुदेव परमात्मा एवं समस्त भूतों की आत्मा है। वह परम स्रष्टा है। समस्त जीव संकर्षण द्वारा परि-संख्यात हैं। संकर्षण वासुदेव के ही एक रूप है। संकर्षण से प्रद्युम्न, जो कि मन हैं उत्पन्न हुए तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उद्भूत हुए जो कि अहंकार हैं। "जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें प्रविष्ट होते हैं और मुक्त हो जाते हैं"। परम-पुरुष ऊपर उल्लिखित चार स्वरूपों को अपनी मूर्तियाँ (मूर्तिचतुष्टय) कहते हैं। तदुपरान्त वह अपने द्वारा देवों एवं समस्त वस्तुओं की रचना करने तथा स्वयं में उनके विलय होने का वर्णन करते हैं। फिर अवतारों का वर्णन है, यथा वराह, नरसिंह, बलिमर्दक वामन, भृगु-वंशी क्षत्रियसंहारक परशुराम, दाशरथि राम और कृष्ण "जो मथुरा में कंस के वध के निमित्त प्रादुर्भूत होंगे तथा वहाँ पर अनेकों दानवों का वध करके अन्त में द्वारकापुरी में बस जाएँगे। इस प्रकार अपनी चार मूर्तियों से समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करके सात्वतों समेत द्वारका का नाश करेंगे तथा ब्रह्मलोक चले जायँगे।" परम पुरुष नारा-यण के मुख से यह सुनने के उपरान्त नारद बदरिकाश्रम लौट आये।

३३९ वें अध्याय के अन्त में तथा अगले चार अध्यायों में जो कुछ मिलता है। उसका हमारे विषय के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। केवल एक अध्याय में वासुदेव शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ दिया गया है कि वह समस्त जगत् को छादित करता है तथा सर्वभूतों का निवास है।

३४४ वें अध्याय में निष्कलुष पुरुषों का मार्ग इस प्रकार बतलाया गया है— सूर्य द्वार है तथा प्रवेश के उपरान्त उनके सांसारिक मल जल जाते हैं। परमाणुभूत होकर वे उसमें प्रवेश करते हैं। उससे निर्मुक्त होकर वे अनिरुद्ध स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं। तब मनोभूत होकर प्रद्युम्न स्वरूप में प्रवेश करते हैं। उस स्वरूप से निर्मुक्त होकर संकर्षण (अर्थात् जीव के स्वरूप) में प्रविष्ट होते हैं। इसके बाद तीनों गुणों से विनिर्मुक्त होकर वे सर्वत्र विद्यमान परमात्मा वासुदेव में प्रविष्ट होते हैं। ३४६ वें अध्याय में वैशम्पायन जन्मेजय से कहते हैं कि जो धर्म (ज्ञान) नारद को साक्षात् जगत् के स्वामी नारायण से प्राप्त हुआ था हरिगीता में जन्मेजय को उसी का संक्षेप में उपदेश दिया गया है। ३४८ वें अध्याय में इस एकान्तज्ञान को युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन को दिये गये ज्ञान से अभिन्न बतलाया गया है। प्रत्येक ब्रह्मा की सृष्टि के

समय इस धर्म का प्रकाशन स्वयं नारायण करते हैं तथा ब्रह्मा का अन्त होने पर यह तिरोहित हो जाता है। चतुर्थ ब्रह्मा के विवरण में प्रकाशित धर्म को दो बार सात्त्वत कहा गया है। इसी रीति से यह वर्तमान या सातवें ब्रह्मा तक आगे चला आया। यह धर्म सर्वप्रथम पितामह को दिया गया और पितामह से क्रमशः दक्ष को, दक्ष से उसके ज्येष्ठ दौहित्र को, उससे आदित्य को, उससे विवस्वान् को, विवस्वान् से मनु को एवं मनु से इक्ष्वाकु को प्रदान किया गया। बाद में यह बतलाया गया है कि यह आद्य, महान्, सनातन तथा दुर्विज्ञेय धर्म सात्वतों द्वारा धारण किया जाता है।

यह धर्म प्राणियों की अहिंसा से युक्त है एवं जब इसका उचित प्रयोग किया जाता है तो हरि इससे प्रसन्न होते हैं। कुछ स्थानों पर तो ईश्वर के एक स्वरूप या व्यूह का उपदेश दिया गया है और कुछ स्थानों पर एक, दो या तीन स्वरूपों का। वैशम्पायन यह कहते हुए उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार उन्होंने एकान्त धर्म की व्याख्या की।

यहाँ पर हमें दो विवरण मिलते हैं, जिनमें दूसरा विवरण प्रथम विवरण से सम्बद्ध है। किन्तु प्रथम विवरण अधिक प्राचीन वस्तु-स्थिति का बोधक प्रतीत होता है। यहाँ पर ये बातें उल्लेखनीय हैं—(१) वसु उपरिचर द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में किसी भी पशु का वध नहीं किया गया। (२) यज्ञ भाग का बटवारा आरण्यकों, जिनमें उपनिषद् भी अन्तर्भूत हैं, की शिक्षाओं के अनुसार किया गया। (३) आराध्य-देव देवाधिदेव हरि थे। (४) हरि का दर्शन उन लोगों को नहीं हुआ जो याज्ञिक उपासना-पद्धति के अनुयायी थे, जैसे बृहस्पति, तथा न उन्हें ही जिन्होंने सहस्रों वर्षों तक तपश्चरण किया था जैसे एकत, द्वित एवं त्रित। उनके दर्शन उसे ही होते थे जो भक्ति पूर्वक उनकी पूजा करते थे, जैसा कि वसु उपरिचर ने किया। यहाँ पर बौद्ध एवं जैन धर्मों की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी सिद्धान्तों पर आधारित धार्मिक सुधारों को लागू करने का प्रयास दिखलाई पड़ता है। पशुवध का परित्याग, याज्ञिक अनुष्ठान एवं तपश्चरण का असामर्थ्य—ये बातें इस धार्मिक सुधार में तथा बौद्ध-धर्म में समान रूपसे हैं। परम पुरुष हरि भक्तिपूर्वक उपासनीय हैं तथा आरण्यकों के वचन अनुल्लंघ्य हैं। इस धर्मसुधार के अपने विशिष्ट सिद्धान्त हैं। वसु उपरिचर की कथा का इतना ही तात्पर्य है।

मुख्य विवरण में, जिसके अनुसार नारद श्वेतद्वीप गये, हमें इस सिद्धान्त का अनुमोदन प्राप्त होता है कि परम पुरुष के दर्शन उसी को हो सकते हैं जो उसकी पूजा भक्ति पूर्वक करता है। महान् नारायण स्वयं नारद के समक्ष प्रकट होते हैं और उन्हें वासुदेव एवं उनके अन्य तीन व्यूहों के धर्म का उपदेश देते हैं। वे वासुदेव के भावी अवतारों का भी उल्लेख करते हैं। इनमें मथुरा में कंस के वध के निमित्त धारण किया गया वासुदेव कृष्ण का अवतार भी सम्मिलित है। नारायण स्वयं को चार व्यूहों वाले वासुदेव से अभिन्न बतलाते हैं। अन्त में यह बतलाया गया है कि यह धर्म सात्वतों द्वारा धारित है।

ये दो विवरण सुधार की दो अवस्थाओं का चित्रण करते प्रतीत होते हैं। प्रथम अवस्था में वासुदेव एवं उनके अन्य तीन व्यूहों की उपासना का ज्ञान नहीं था। परमात्मा का नाम 'हरि' दिया गया है तथा उस समय तक उसकी पूजा याज्ञिक-उपासना से पूर्णतया निर्मुक्त नहीं हो पाई थी। इस सुधार में किसी विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति का उल्लेख नहीं है। इसका प्रचार कतिपय ऐसे ऋषियों ने किया, जिन्हें चित्रशिखण्डिन् कहा गया है। उनके नाम परम्परागत रूप से वर्तमान समय तक चले आये। द्वितीय विवरण में धार्मिक सुधार को वासुदेव, उनके भ्राता, पुत्र एवं पौत्र से सम्बद्ध कर दिया गया है। इस नूतन धर्म को भगवद्गीता में उपदिष्ट धर्म से अभिन्न तथा स्वयं नारायण द्वारा प्रकाशित कहा गया है। ऐसा लगता है कि भक्ति-उपासना के विचार का उदय तो पहले ही हो चुका था, परन्तु इसे निश्चित स्वरूप तब प्राप्त हुआ जब वासुदेव ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। एक स्वतन्त्र संप्रदाय के रूप में इसका गठन तब हुआ जब कि वासुदेव के भ्राता, पुत्र एवं पौत्र कतिपय मनो-वृत्तियों के अधिष्ठाता उनके रूप मान लिए गये अथवा किसी उद्देश्य के निमित्त उनके द्वारा सृष्ट बतलाये गये। यह संप्रदाय सात्वतों की जाति से सम्बद्ध हो गया। अब हमें यह विचार करना है कि ये सात्वत कौन थे?

सात्वत और उनका धर्म

आदि-पर्व में वृष्णियों को सम्बोधित करते हुए वासुदेव कहते हैं कि पार्थ उन्हें (सात्वतों को) लोलुप नहीं समझता। आदि-पर्व २१८, १२ में वासुदेव को, आदिपर्व २२१, ३१ में कृतवर्मा को, द्रोणपर्व ९७,३६ में सात्यकि को तथा उद्योगपर्व ७०,७ में जनार्दन को सात्वत कहा गया है। भीष्म-पर्व के ६६ वें अध्याय के अन्त में भीष्म कहते हैं "इस नित्य, अद्भुत, शुभ एवं अनुरागी देव को वासुदेव रूप में जानना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अपने भक्ति युक्त आचरणों द्वारा उसकी पूजा करते हैं। द्वापर युग के अन्त में तथा कलि-युग के आदि में संकर्षण ने सात्वत विधियों के अनुसार उसका गान या प्रकाशन किया। विष्णु-पुराण के तृतीय खण्ड के बारहवें अध्याय के अन्त में यादवों एवं वृष्णियों की वंशावली के विवरण में यह बतलाया गया है कि सत्वत अंश का पुत्र था तथा उसके समस्त वंशज उसी के नाम पर सात्वत कहलाये। भागवत पुराण में सात्वतों का परम ब्रह्म को भगवत् या वासुदेव कहने वाले (९,९,४९) तथा वासुदेव की पूजा की विशिष्ट पद्धति रखने वाले पुरुषों के रूप में वर्णन है। इसमें यदु वंश के अंधकों एवं वृष्णियों के साथ सात्वतों का उल्लेख है (१, १४,२५ तथा ३,१,२९) और वासुदेव को सात्वतर्षभ कहा है (१०,५८,४२ एवं ११, २७, ५)। पाणिनि के सूत्र ४,१,११४ पर अपने भाष्य में पतञ्जलि ने वासुदेव एवं बालदेव शब्दों को वासुदेव एवं बलदेव के पुत्र, इस अर्थ में वृष्णि नामों से व्युत्पन्न

बतलाया है। काशिका में इस सूत्र के उदाहरण वासुदेव एवं आनिरुद्ध हैं। आनिरुद्ध का अर्थ है अनिरुद्ध का पुत्र। अतः वासुदेव का अर्थ वासुदेव का पुत्र होना चाहिए न कि वसुदेव का जैसा कि अभी स्पष्ट किया जायेगा। पाणिनि के सूत्र ४, २, ३४ पर काशिका में 'सिनिवासुदेवाः' और 'संकर्षणवासुदेवौ' शब्दों को राजवंशीय वृष्णि-नामों के द्वन्द्व-समास के रूप में दिया गया है। 'सिनिवासुदेवाः' में दोनों ही शब्द बहुवचन में हैं तथा 'संकर्षण-वासुदेवौ' में दोनों ही शब्द एकवचन हैं। अतएव 'वासुदेव' शब्द का अर्थ वासुदेव नामक व्यक्ति तथा उसके पुत्र दोनों ही हैं।

इस सबसे तथा पतञ्जलि के इसी प्रकार के अन्य स्थलों से ऐसा प्रतीत होता है कि सात्वत उस वृष्णि जाति का ही दूसरा नाम था, वासुदेव, संकर्षण एवं अनिरुद्ध जिसके सदस्य थे। सात्वतों का अपना निजी धर्म था जिसमें परम पुरुष के रूप में वासुदेव की पूजा की जाती थी। इस प्रकार नारायणीय के ऊपर दिये गये विवरण की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है।

अतएव ऐसा लगता है कि वासुदेव भक्ति का यह धर्म उतना ही प्राचीन है जितने कि पाणिनि। जैसा कि मैंने अन्यत्र उल्लेख किया है, उपनिषद्-काल[1] के आसपास क्षत्रिय लोग धार्मिक विषयों पर सक्रिय चिन्तन में लगे हुए थे। यहाँ तक कि नूतन ज्ञान के आद्य प्रवर्तकों के रूप में भी उनका उल्लेख मिलता है। बौद्धिक जागरण के इस काल में सिद्धार्थ एवं महावीर ने पूर्व में अथवा मगध देश में नूतन धार्मिक-सम्प्रदायों की स्थापना की। इन संप्रदायों में ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धान्त का खण्डन किया गया अथवा उसे मौन रहकर टाल दिया गया और मुक्ति के लिए आत्म-निषेध तथा कठोर नैतिक-आचरण के मार्ग की स्थापना की गई। सिद्धार्थ और महावीर क्षत्रियों के शाक्य एवं ज्ञातृक कुलों के थे। अतः बौद्ध एवं जैन धर्मों को उन जातियों का धर्म माना जा सकता है। पश्चिम भारत का चिन्तन इतना क्रान्तिकारी नहीं था। सात्वत-जाति ने एक ऐसे धार्मिक-संप्रदाय को विकसित किया, जिसने परमेश्वर के विचार को मान्यता दी तथा मुक्ति के लिए उनकी भक्ति का मार्ग बतलाया। इन सात्वतों तथा वासुदेव-कृष्ण-उपासना का स्पष्टरूप से सङ्केत मेगस्थनीज ने भी किया है जो चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में मकदूनियाई राजदूत था। चन्द्रगुप्त मौर्य ई० पू० चतुर्थ शतक के अन्तिम भाग में शासन करता था। मेगस्थनीज का कथन है कि एक भारतीय जाति सौरसेनोइ (Sourasenoi) हेरेक्लीज की पूजा करती थी। उनके प्रदेश में मेथोरा (Methora) एवं क्लेइसोबोरा (Kleisobora) नामक दो विशाल नगर थे तथा उनके राज्य से होकर नौका चलने योग्य जोबारेस (Jobares) नदी बहती थी। सौरसेनोइ सूरसेन थे, जो एक क्षत्रिय जाति थी। वे उस

---

(१) Verhandlungen des VII Internat. Orientalisten–Congresses Zu Wien. Ar. Sect., पृ० १०८–९

प्रदेश में रहते थे जहाँ मथुरा नगरी स्थित थी जो कि ऊपर के सन्दर्भ की मेथोरा है। उस प्रदेश में से होकर जोबारेस नदी बहती थी, जिसका समीकरण यमुना से किया गया है। यदि प्रथम मौर्य के समय में वासुदेव-कृष्ण पूजा प्रचलित थी तो इसकी उत्पत्ति मौर्य-वंश की स्थापना के बहुत पूर्व ही हो चुकी होगी। इससे मेरे इस पक्ष की पुष्टि होती है कि वासुदेवकृष्ण-पूजा की उत्पत्ति उस विचारधारा से हुई जो उपनिषदों के साथ प्रारम्भ हुई थी; पूर्व में यह विचार धारा बौद्ध तथा जैन धर्मों के रूप में शिखर पर पहुँची तथा जैनधर्म के उदय के आसपास ही वासुदेव उपासना का उदय हुआ।

प्रारम्भिक काल में परमेश्वर-बोधक नाम केवल वासुदेव था। निद्देस के उक्त अनुच्छेद तथा तीन अभिलेखों में वासुदेव ऐसा ही नाम है।

भगवद्गीता (७, १९) में कहा गया है कि "ज्ञानवान् व्यक्ति यह मानते हुए कि वासुदेव ही सब कुछ है स्वयंको मुझ में लगा देता है।" द्वादशाक्षरी भागवत मन्त्र में, जिसका जप वर्तमान समय में किया जाता है, तथा जिसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है, वासुदेव को ही नमस्कार करते हैं।[१] भीष्म-पर्व, अध्याय ६५ में पुरुष-परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए ब्रह्मदेव उनसे यदुवंश के विस्तार करने के लिए साञ्जलि प्रार्थना करते हैं और इसके बाद पूर्ववर्ती काल की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं:—हे वासुदेव ! यह परम-रहस्य, वस्तुतः यह जैसा है, वैसा ही आपकी कृपा से मैंने आपको बतलाया है। अपने को भगवान् संकर्षण के स्वरूप में रचने के अनन्तर आपने अपने पुत्र प्रद्युम्न को उत्पन्न किया, प्रद्युम्न ने अनुरुद्धि को, जो साक्षात् विष्णु ही हैं, उत्पन्न किया और उन्होंने मुझे (ब्रह्मदेव को) उत्पन्न किया। मैं वासुदेव-तत्त्व से निर्मित एवं आप द्वारा सृष्ट हूँ। इसी प्रकार अपना विभाग करते हुए आप पुनः मनुष्य-रूप में जन्म ग्रहण कीजिये"। इसी पर्व के ६६ वें अध्याय के प्रारम्भ में प्रजापति बतलाते हैं कि उन्होंने स्वयं सर्वभूतों के परमेश्वर से वासुदेव रूप में मनुष्य-लोक में आकर रहने की प्रार्थना की थी। यह कहा गया है कि परमेश्वर को वासुदेव रूप में जानना चाहिए। नित्य ईश्वर के वर्णन में पूरे अध्याय में केवल उसी नाम का प्रयोग किया गया है। इन दो अध्यायों का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि पूर्व काल में परमेश्वर वासुदेव ने संकर्षण एवं ब्रह्मापर्यन्त अन्यों को उत्पन्न किया था तथा इस अवसर पर ब्रह्मा ने पूर्वकाल की ही भाँति चार अंशों में अपना विभाजन करते हुए वासुदेव के रूप में यदुवंश में पुनः जन्म लेने की प्रार्थना की। इस प्रकार वासुदेव भक्ति-मार्ग के आचार्य का नाम था और उपर्युक्त वर्णन का सम्भवतः यह तात्पर्य निकला कि पूर्वकालमें वह अन्य तीनों के साथ विद्यमान था। वृष्णि-वंशी व्यक्ति के रूप में भी वासुदेव नाम ही महाभाष्य एवं काशिका के ऊपर उद्धृत

---

१. व्रतखण्ड (बि० इ०), पृ० २२५। मन्त्र 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय' इस प्रकार है।

उदाहरणों में मिलता है अन्य नाम नहीं। "एल्यूजन्स टु कृष्ण..." (इण्डि० एण्टि० भाग ३, पृ० १४ तथा आगे) शीर्षक अपने लेख में मेरे द्वारा उद्धृत अवतरणों में 'कृष्ण' नाम तीन बार, वासुदेव नाम तीन बार, तथा 'जनार्दन' नाम एक बार आता है। किन्तु महाभाष्य के कीलहॉर्न के संस्करण में (जो कि बनारस के उस संस्करण से अधिक शुद्ध है, जिसका प्रयोग मैंने उस समय किया था) तीन स्थानों में से दो स्थानों पर 'कृष्ण' पाठ की पुष्टि केवल एक पाण्डुलिपि द्वारा होती है। कृष्ण के स्थान पर दो में से एक जगह तो 'वासुदेव' नाम मिलता है और दूसरे स्थान को एकदम रिक्त छोड़ दिया गया है। इस प्रकार 'वासुदेव' नाम का प्रयोग चार बार किया गया है एवं 'कृष्ण' नाम का प्रयोग केवल एक बार। भगवद्गीता (१०, ३७) में भगवान् कहते हैं कि वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ। बौद्ध घटजातक में उपसागर एवं देवगम्भा के दो पुत्रों का नाम वासुदेव और बलदेव बतलाया गया है। गद्यभाग में अन्य नाम नहीं दिया गया है, किन्तु गद्य के बीच-बीच में विद्यमान गाथाओं में कान्ह एवं केशव नाम दिये गये हैं। व्याख्याकार ने प्रथम गाथा पर यह टिप्पणी दी है कि यहाँ पर कृष्ण को उसके गोत्र नाम 'काण्ह' से सम्बोधित किया गया है क्योंकि वह काण्हायन गोत्रीय था। इस प्रकार टीकाकार ने अपने इस विश्वास को व्यक्त किया है कि 'वासुदेव' किसी व्यक्तिविशेष का व्यक्तिवाचक नाम था। इस विश्वास को उसने महाउम्मग्गजातक की एक गाथा की अपनी टीका में पुनः व्यक्त किया है, जिसमें जाम्बवती का उल्लेख वासुदेव-कान्ह की प्रिय रानी के रूप में किया गया है। यहाँ पर भी वासुदेव का उल्लेख काण्हायन-गोत्रीय व्यक्ति के रूप में किया गया है। स्वयं उस गाथा से, जिसमें कि 'वासुदेवस्स कण्हस्स' आता है, ऐसा लगता है कि 'कण्ह' गोत्र-नाम था और इसका अर्थ कण्ह गोत्रीय वासुदेव था। इससे प्रकट होता है कि स्वयं गाथाकार ने वासुदेव को व्यक्तिबोधक नाम माना है। इस प्रकार गाथाकार एवं गद्यांश की आपस में सहमति है।

इस प्रकार वासुदेव व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है अपत्य-वाचक नहीं। जब वासुदेव धर्म या भागवत सम्प्रदाय का उदय हुआ तब यही वह नाम था जिस नाम से सर्वोच्च देव प्रख्यात थे। वसुदेव के उनके पिता होने की धारणा का उदय आगे चलकर हुआ होगा, जैसा कि महाभाष्य में दिये गये 'वासुदेवः' इस उदाहरण से मुझे प्रतीत होता है। यह उदाहरण 'वासुदेव के पुत्र या वंशज' इस अर्थ में दिया गया है 'वासुदेव के पुत्र' इस अर्थ में नहीं, जैसा कि 'बलदेव का अपत्य बालदेव' इस उदाहरण से अनुमेय है। बलदेव वासुदेव से सम्बन्धित थे, न कि वसुदेव से। कृष्ण, जनार्दन एवं केशव, वृष्णि-नाम नहीं प्रतीत होते। आगे चलकर जब कि वासुदेवोपासना चतुर्दिक् फैल चुकी थी ये नाम वासुदेव को दे दिये गये। ये तीनों नाम पतञ्जलि के महाभाष्य में भी प्राप्त होते हैं, परन्तु जनार्दन एवं केशव नाम जहाँ तक मुझे मालूम है सिर्फ ५-६ बार मिलते हैं। इनमें से जनार्दन, केशव

तथा बहुत से प्रयुक्त अन्य नामों की अपेक्षा कृष्ण नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है। वासुदेव की ही तरह यह भी (कृष्ण भी) व्यक्ति-वाचक नाम मालुम पड़ता है, यद्यपि वासुदेव नाम के साथ विशेष रूप से धार्मिक महत्त्व जुड़ा हुआ है। तब फिर इस 'कृष्ण' नाम का प्रयोग कैसे होने लगा ? यह ऋग्वेद में आठवें मण्डल के ७४ वें सूक्त के रचयिता एक वैदिक ऋषि का नाम था। सूक्त की तीसरी और चौथी ऋचा में वह ऋषि स्वयं को कृष्ण कहता है। अनुक्रमणी का लेखक उसे आङ्गिरस अर्थात् अङ्गिरस का वंशज बतलाता है। कौशीतिकी ब्राह्मण (३०, ९) में स्पष्टतया इसी कृष्ण आङ्गिरस का निर्देश किया गया है। पाणिनि के सूत्र ४, १, ९६ के गणपाठ में कृष्ण नाम प्राप्त होता है। पाणिनि के सूत्र ४, १, ९९ से सम्बद्ध गणपाठ में कृष्ण एवं रण से 'कार्ष्णायण' एवं 'राणायण' गोत्र नाम बनाये गये हैं। कार्ष्णायण एव राणायण ये ब्राह्मण गोत्र हैं और वासिष्ठगण में आते हैं। कार्ष्णायण, ऊपर उल्लिखित जातकों की गाथाओं के टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट गोत्र है। परन्तु उसने स्पष्टतया इस गोत्र को ब्राह्मण जाति तक ही सीमित नहीं रखा है। तदुपरान्त छान्दोग्य-उपनिषद् (३, १७) में देवकी-पुत्र रूप में कृष्ण का नाम मिलता है। वे आङ्गिरस घोर के शिष्य थे। यदि कृष्ण भी आङ्गिरस थे, जो असम्भव नहीं है, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि ऋवैदिक मन्त्रों के काल से लेकर छान्दोग्य-उपनिषद् के काल तक कृष्ण के ऋषि होने की तथा कार्ष्णायण नामक एक गोत्र की परम्परा थी (कार्ष्णायन का शाब्दिक अर्थ कृष्णों का समूह है), जिसके संस्थापक आदि कृष्ण थे। जब वासुदेव परम देवता के पद पर पहुँच गये तब इस परम्परा द्वारा वासुदेव के साथ ऋषि कृष्ण का अभेद-स्थापन आरम्भ हुआ। जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित जनमेजय (परीक्षितपुत्र) नाम को कालान्तर में उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया गया जिसे महाभारत सुनाया गया था और पाण्डव अर्जुन से उसका सम्बन्ध बतलाया गया है, उसी तरह यह भी सम्भव है कि ऋषि कृष्ण के साथ वासुदेव का अभेद-स्थापित किया गया तथा उनका वंश शूर और वसुदेव से होता हुआ वृष्णिवंश बतलाया गया। वासुदेव को कृष्ण कहे जाने का सबसे अच्छा स्पष्टीकरण शायद जातकों की गाथाओं के टीकाकार द्वारा दिया गया है कि कृष्ण एक गोत्र नाम है। मुझे लगता है कि इसका अनुमोदन स्वयं गाथाकार ने किया है। कार्ष्णायन का उल्लेख ऊपर निर्दिष्ट गण में वसिष्ठ वर्गीय ब्राह्मण गोत्र के रूप में और मत्स्य-पुराण[1] (अध्याय २००) में उसी वर्ग के (उप विभाग) पाराशर गोत्र के रूप में किया गया है। यद्यपि 'कार्ष्णायण' एक ब्राह्मण एवं पाराशर-गोत्र था परन्तु याज्ञिक कार्यों के निमित्त किसी क्षत्रिय ने इसे ग्रहण कर लिया होगा। आश्वलायन श्रौ० सू० (१२, १५) के अनुसार क्षत्रियों के लिए बतलाये गये गोत्र एवं प्रवर वही हैं जो कि उनके ऋत्विजों एवं पुरोहितों के होते हैं। समस्त क्षत्रियों के एकमात्र पूर्वज ऋषि मानव, ऐल एवं पौरूरवस हैं। इनके

१. पुरुषोत्तम की प्रवरमञ्जरी में भी उद्धृत (मैसूर संस्करण)

नाम से एक क्षत्रिय परिवार का दूसरे क्षत्रिय-परिवार से भेद नहीं हो पाते। इस प्रकार के भेद के लिये ऋत्विक् के गोत्र एवं प्रवर ग्रहण कर लिये जाते हैं। अतएव वासुदेव कार्ष्णायन-गोत्रीय थे, यद्यपि यह एक ब्राह्मण एवं पाराशर गोत्र था। इस गोत्र के होने के कारण वे कृष्ण नाम से पुकारे जाते रहे होंगे। कृष्ण नाम से विख्यात होने पर प्राचीन कृष्ण की विद्वत्ता एवं आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तथा उनके देवकी-पुत्र होने की भी परम्परा उन पर अध्यारोपित हो गई। इस प्रकार शान्तिपर्व, अध्याय ३८ में भीष्म कहते हैं कि कृष्ण को सर्वोच्च सम्मान प्रदान करने के दो कारणों में से एक कारण यह है कि वे वेदों एवं वेदाङ्गों के ज्ञान से सम्पन्न हैं तथा वे ऋत्विज् भी हैं। हिन्दू चिन्तन में अवतार सिद्धान्त के द्वारा अनेक देवों का एक देव के साथ अभेद करने की प्रवृत्ति रही है। इस प्रकार बहुदेववाद से एकेश्वरवाद का विकास हुआ और वासुदेव का अन्य देवों तथा गोकुल के बाल कृष्ण के साथ समीकरण हो गया। इनका निर्वचन हम आगे करेंगे।

नारायणीय में हमें भागवत या पाञ्चरात्र मत का व्याख्यान प्राप्त होता है। इसका भी पूर्ण विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। अभी हम इस वक्तव्य पर विचार करेंगे कि वासुदेव द्वारा प्रतिष्ठापित एकान्तिक धर्म की व्याख्या हरि-गीता में उस समय की गई थी जब कुरुओं एवं पाण्डवों की सेनाएँ एक दूसरे के सामने खड़ी थीं तथा अर्जुन वैक्लव्य को प्राप्त हो चुके थे। यह निर्देश वस्तुतः भगवद्गीता की ओर है।

इस बात का उल्लेख भक्ति-सूत्र ८३ तथा इस सूत्र के भाष्य में किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि एकान्त-भाव (जो कि नारायणीय का विषय है) या केवल एक देव के प्रति भक्ति ही भक्ति है। उस सन्दर्भ में एकान्त-भाव को भगवद्-गीता का मुख्य विषय बतलाया है। परन्तु भगवद्गीता में परमेश्वर के संकर्षणादि व्यूहों का निर्देश नहीं मिलता, जब कि संकर्षणादि व्यूह भागवत-संप्रदाय का एक वैशिष्ट्य है। गीता में वासुदेव की पाँच प्रकृतियों के रूप में मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीव इन पाँच तत्त्वों का अवश्य उल्लेख है (७, ४, ५)। भागवत-सम्प्रदाय में जीव को संकर्षण से, अहंकार को अनिरुद्ध से तथा मन को (जिससे संभवतः बुद्धि संबद्ध है) प्रद्युम्न से अभिन्न माना गया है। तथ्य यह प्रतीत होता है कि भागवत-मतके सिद्धन्तों के संप्रदाय-विशेष की अवस्था पर पहुँचने से पूर्व ही भगवद्गीता की रचना की जा चुकी थी। इसके उपरान्त ही परमेश्वर की तीन प्रकृतियों को संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध (जो वासुदेव के परिवार के थे) का व्यक्तित्व प्रदान किया गया। किन्तु प्राचीन काल में प्रचलित पूजन में वासुदेव के साथ केवल संकर्षण ही मिलते हैं, जैसा कि अभिलेखों एवं प्रारम्भ में उल्लिखित निद्देस के अवतरण में देखा गया है। पाणिनि के सूत्र २,२,३४ में पतञ्जलि ने एक श्लोक लिखा है, जिसका आशय यह है कि धनपति, राम एवं केशव के मन्दिरों में समारोहों में वाद्य बजाये जाते थे। राम और केशव यहाँ पर बलराम एवं वासुदेव-कृष्ण

हैं तथा यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय में उनके मन्दिरों में समारोह हुआ करते थे। पाणिनि के सूत्र ६, ३, ६ पर पतञ्जलि का "जनार्दन स्वयं चतुर्थ रूप में अर्थात् तीन सङ्गियों सहित" यह वचन यदि तीन व्यूहों का बोधक माना जा सके तो यह समझना चाहिए कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध ये चार व्यूह पतञ्जलि के काल में भी ज्ञात थे। किन्तु यह बात संशयग्रस्त है। यह बात मानी जा सकती है कि उस नवीनतम अभिलेख के काल तक, जिसे लगभग ई० पू० प्रथम शतक के प्रारम्भ में रखा गया है, वासुदेव एवं संकर्षण ये दो व्यूह ही ज्ञात थे। अतएव उस काल तक चार व्यूहों वाली अवस्था का पूर्ण रूपेण विकास नहीं हुआ था। यदि यह तर्क ठीक है तो भगवद्-गीता (जिसमें व्यूहों का उल्लेख नहीं पाया जाता है) की तिथि अभिलेखों, निद्देस एवं पतञ्जलि की तिथियों से बहुत प्राचीन होगी अर्थात् इसकी रचना ई० पू० चतुर्थ शतक के प्रारम्भ के बाद की नहीं होनी चाहिए। यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, यह कह सकना कठिन है। उस समय जब गीता की कल्पना और रचना की गयी नारायण एवं वासुदेव के बीच अभेद स्थापित नहीं हुआ था और न ही उस समय तक उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता था, जैसा स्वयं गीता से प्रकट होता है। ग्यारहवें अध्याय में वर्णन है कि जब अर्जुन को विराट्-स्वरूप का दर्शन कराया गया, तब अर्जुन ने उन्हें (तेज से) प्रत्येक वस्तु को भासित करने तथा समस्त जगत् में व्याप्त दुर्निरीक्ष्य तेज से युक्त होने के कारण दो बार विष्णु कहा। यहाँ पर विष्णु का निर्देश आदित्यों के प्रधान के रूप में किया गया है परमेश्वर के रूप में नहीं। इस अर्थ में वासुदेव विष्णु थे, जैसा कि दसवें अध्याय में उल्लिखित है (आदित्यानामहं विष्णु) क्योंकि किसी भी वर्ग या श्रेणी में जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु है उसे उनकी विभूति बतलाया गया है।

कोई भी नवीन धार्मिक मत जब प्रचलन में आ जाता है तब उसके अनुयायी इस विचार से संन्तुष्ट नहीं होते कि मत के संस्थापक रूप में विख्यात व्यक्ति से ही मत की उत्पत्ति हुई। वे इसकी उत्पत्ति को अनेकों युग पीछे ले जाते हैं। सिद्धार्थ के पूर्व अनेकों बुद्ध माने गये और इसी प्रकार महावीर से पूर्ववर्ती अनेक तीर्थङ्कर। इसी प्रकार भागवत-संप्रदाय के विषय में हम यह देख चुके हैं कि इस मत का उपदेश प्रत्येक ब्रह्मा के समय आदि में नारायण द्वारा दिया जाता है तथा विद्यमान ब्रह्मा के समय इसका उपदेश पहले पितामह को दिया गया; फिर यह उपदेश दक्ष, विवस्वत् , मनु, एवं इक्ष्वाकु के पास आया। इसके प्रकाशन के अन्तिम क्रम का निर्देश भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में मिलता है जिससे नारायणीय में उल्लिखित, नारायण-प्रकाशित एकान्तिक धर्म एवं गीता के धर्म की अभिन्नता विषयक परम्परा की पुष्टि हो जाती है। अपनी उत्पत्ति को पीछे ले जाने में भागवत सम्प्रदाय बौद्धधर्म एवं जैनधर्म से मिलता है।

भगवद्गीता का सारांश

अब हम भगवद्गीता के मुख्य विषयों का अनुशीलन करेंगे क्योंकि यह पूरी तरह से भक्ति मत या एकान्तिक-धर्म का प्राचीनतम प्रकाशन प्रतीत होता है।

अध्याय २—अर्जुन युद्ध से विमुख हैं, क्योंकि ऐसा करने में स्वजाति-बन्धुओं एव अन्य लोगों का क्षय होगा। भगवान् जीवात्मा के नित्य एवं अविनाशी होने का उपदेश देकर इस वैक्लव्य के अपनयन का प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर दो श्लोक ऐसे हैं जो किंचित् अन्तर के साथ कठ-उपनिषद् में भी प्राप्त होते हैं। इसके बाद युद्ध को क्षत्रिय का कर्तव्य बतलाया गया है, जिनके लिए धर्म्य युद्ध से बढ़कर और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है। इस प्रकार के चिन्तन को सांख्य कहा गया है तथा इसके बाद योग-मार्ग आता है। योग-मार्ग में बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। जो विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के निमित्त वेद के आदेशों के अनुसार विधानों को अनुष्ठित करते हैं उनमें व्यवसायात्मिका प्रज्ञा का अभाव होता है। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करने के लिए पुरुष को केवल करणीय कर्म का ही चिन्तन करना चाहिए, उससे प्राप्त होने वाले फल का नहीं। स्थिरचित्त तथा अनासक्त होकर कर्म में ही अपने को लगाना चाहिए। व्यवसायात्मिका बुद्धि के साथ कर्म-निष्ठा द्वारा मनुष्य अन्ततः स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेता है एवं उसकी समस्त कामनाओं का उन्मूलन हो जाने से वह पूर्ण ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति में रहकर अन्त में पुरुष ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धान्त का कठ एवं बृहदारण्यक-उपनिषदों में वर्णन है कि जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का उन्मूलन हो जाता है तो मर्त्य, अमर्त्य हो जाता है एवं ब्रह्म को प्राप्त करता है[१]। इस लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त निर्धारित आचरण केवल नैतिक ही नहीं है अपितु धार्मिक भी है, क्योंकि यह बतलाया गया है कि मन को चंचल बनाने वाली इन्द्रियों के निग्रह के उपरान्त भगवद् भक्ति में लग जाना चाहिए।

अध्याय ३—मार्ग दो प्रकार के हैं, सांख्यों के लिए ज्ञान योग का तथा योगियों के लिए कर्मयोग। प्रत्येक प्राणी का जन्म कर्ममय जीवन के लिए हुआ है। कृतकर्म उसे सांसारिक बन्धन में नहीं बाँधते, यदि वह कर्मों को यज्ञ के लिए करता है न कि निजी उद्देश्यों के लिए। जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति वाला, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट है उसके लिए कोई कर्म आवश्यक नहीं है। परन्तु अन्यों के लिए कर्म करना आवश्यक है तथा उन्हें बिना किसी आसक्ति के कर्म करना चाहिए। जनक आदि ने अपने को केवल कर्म में लगाकर अर्थात् कर्मयुक्त जीवन का आश्रय लेकर सिद्धि प्राप्त की थी। कर्म परमात्मा को समर्पित कर देना चाहिए एवं मनुष्य को उनसे अपने लिए किसी भी फल की कामना नहीं करना चाहिए। परन्तु शारीरिक प्रकृति एवं ऐन्द्रिक वासनाओं के वशी साधारण जन के लिए इस प्रकार की मनः स्थिति प्राप्य नहीं है। तदन्तर यह प्रश्न किया गया है कि वह कौन-सी

---

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः यस्य हृदि स्थिताः। क० उ०, ६, १४ तथा बृ० उ० ४, ४, ७ में भी।

वस्तु है जो मनुष्य को पाप की ओर प्रेरित करती है ? इसका उत्तर यह है कि ये काम एवं क्रोध हैं जो अत्यधिक शक्तिशाली हैं एवं जो मनुष्य की आत्मा को आवृत कर लेते हैं। काम इन्द्रियों द्वारा ही सक्रिय होता है, परन्तु मन इन्द्रियों से परे है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है। अपनी आत्मा को बुद्धि से परे जान कर अपने को प्रयत्नों द्वारा नियन्त्रित करना चाहिए तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि के माध्यम से कार्य करने वाले 'काम' का हनन करना चाहिए। यहाँ पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा के उत्तरोत्तर परे होने का जो विचार है, वह कठ-उपनिषद् से लिया गया है। 'कर्म आसक्ति-रहित होकर करना चाहिए' इस उपदेश के प्रसङ्ग में भगवान् सांख्य के इस सिद्धान्त के यथासंभव समीप है कि 'अहंकार विमूढ़ पुरुष स्वयं को प्रकृति के गुणों से क्रियमाण कर्म का कर्ता मानता है तथा प्रकृति के गुणों द्वारा भ्रान्त होकर वह गुणों एवं कर्मों में फँस जाता है।

अध्याय ४— इस अध्याय का प्रारम्भ भगवान् द्वारा इस योग को सर्वप्रथम विवस्वान् से कहे जाने के उल्लेख के साथ होता है। प्रसङ्गवश विवस्वत् के समय में उनके अस्तित्व का प्रश्न उठता है। तब भगवान् अपने पुनः पुनः जन्म लेने तथा दुष्टों के विनाश के निमित्त अपनी प्रकृति द्वारा अवतरित होने की बात बतलाते हैं। जो पुरुष भगवान् के जन्म एवं उनके दिव्य कर्मों को जानता है, वह शरीर को त्याग कर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता। ज्ञान द्वारा पवित्र होकर, राग, भय और क्रोध से रहित होकर, भक्ति से उनका आश्रय लेकर तथा उनमें स्थित होते हुए मनुष्य भगवान् की ही स्थिति को प्राप्त करते हैं। जो भगवान् को जैसे भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजता है। मनुष्य सर्वत्र उनके मार्ग का अनुवर्तन करते हैं।

अनासक्त कर्म के विचार का आगे और विकास हुआ है। इसके बाद लाक्षणिक यज्ञों का उल्लेख किया गया है, जैसे कि संयमाग्नि में इन्द्रियों का हवन (यज्ञ), इन्द्रियाग्नि में इन्द्रिय-विषयों का हवन, तथा आत्मसंयम-योगाग्नि में इन्द्रियों की चेष्टाओं तथा प्राणों के व्यापारों का हवन। ये सब यज्ञ क्रियाओं के बिना निष्पन्न नहीं हो सकते। इन समस्त यज्ञों में ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि इसके द्वारा पुरुष अपने अन्दर तथा ईश्वर में समस्त भूतों को देख सकता है। यह परम ज्ञान समस्त पापों से मुक्त कर देता है तथा कर्मों के दूषित फलों को भी भस्म कर देता है। यह परम ज्ञान संशयों का उच्छेदन करता है तथा इससे जीवात्मा पूर्ण मुक्त हो जाती है। यहाँ पर यज्ञों की तर्कसंगत व्याख्या करने की प्रवृत्ति, जो कि उपनिषद्काल में विद्यमान थी, अपने विकसित-रूप में दिखलाई पड़ती है, क्योंकि यहाँ पर इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञानाधिगम एवं ऐसी ही अन्य प्रक्रियाओं को यज्ञ बतलाया गया है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि "भगवान् पुरुष को उसी रूप में भजते हैं, जिस रूप में पुरुष उन्हें भजता है" अर्थात् जिस भावना के साथ मनुष्य ईश्वर के पास पहुँचता है, ईश्वर भी उसी भावना का आश्रय लेता है। इसके बाद यह घोषणा आती है कि मनुष्य सर्वत्र भगवान् के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं, उनके

मतभेद कुछ भी हों। यहाँ पर इस सिद्धान्त के बीज मौजूद हैं कि समस्त धर्मों में सत्य का आधार रहता है।

अध्याय ५—सांख्य एवं योग को संन्यास एवं कर्मयोग से सम्बद्ध किया गया है! वे एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। दोनों में से किसी एक में भी अच्छी प्रकार स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त करता है। सांख्य वालों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही स्थान योग वालों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। ज्ञान-यज्ञ द्वारा पुरुष स्वयं में एवं ईश्वर में समस्त वस्तुओं के दर्शन करने में समर्थ बनता है। तथा यह ज्ञान उसे पाप से मुक्त कर देता है। वही स्थिति कर्मयोग द्वारा भी प्राप्त होती है, जब कि तत्त्वभूत ब्रह्म में ध्यान लगाकर, कर्म अनासक्ति के साथ अथवा फल की इच्छा के बिना किये जाते हैं। यद्यपि बात ऐसी है, फिर भी योग के बिना संन्यास को समझना कठिन है। योग द्वारा पुरुष संन्यास को शीघ्र प्राप्त कर लेता है। कोई योगी जब देखता है, सुनता है, खाता है, सोता है अथवा अन्य कार्य करता है, तब वह यह कभी नहीं सोचता कि वह कुछ कर रहा है। ऐसा तब होता है जब ये सारे कर्म अनासक्ति पूर्वक ब्रह्मानुभूति के उद्देश्य से किये जाते हैं। योगी आत्म-शुद्धि के निमित्त अनासक्तिपूर्वक केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा ही कर्म करते हैं। योग द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है और योग की स्थिति में पुरुष समस्त भूतों को समान रूप से देखता है। पुरुष जब समस्त भूतों को सम-भाव से देखता है तब उसका उद्देश्य ब्रह्म होता है तथा ब्रह्म में ही वह स्थित होता है। इससे ब्रह्म-निर्वाण मिलने तथा उसे प्राप्त करने के उपायों का विचार सामने आता है। ब्रह्म-निर्वाण बौद्ध-मत के अर्हत् की स्थिति से मिलता-जुलता है। परन्तु भगवद्गीता यहीं अन्त नहीं कर देती। इसमें इतनी बात और जोड़ देती है कि पुरुष सब प्रकार के यज्ञों और तपों के भोक्ता, समस्त लोकों के महेश्वर तथा समस्त प्राणियों के सुहृद् रूप में परमेश्वर का ज्ञान करके निर्वाण की स्थिति में शान्ति प्राप्त करता है।

अध्याय ६—जो पुरुष कर्म के फल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है। मुनि होने के लिए कर्म आवश्यक है। जब पुरुष मुनि की महिमा को प्राप्त कर चुकता है तो इसका सार शम (शान्ति) होता है। इसके बाद योगारूढ पुरुष की अवस्था का वर्णन आता है। तदनन्तर योग-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। जब पुरुष योग की प्रक्रियाओं को कर चुकता है, तब वह भगवान् में शान्ति प्राप्त कर लेता है अर्थात् भगवान् में शान्तिपूर्वक निमग्न हो जाता है। योगावस्था में मन के समस्त कर्मों का निरोध हो जाता है। इसके बाद ध्यान एवं समाधि की प्रक्रिया का वर्णन है। योगी अपने को सर्वभूतों में तथा सर्वभूतों को अपने में देखता है तथा सबके प्रति समदर्शी होता है। परमात्मा उसके लिए अदृश्य नहीं है, जो उसे सर्वत्र देखता है और सबको उसमें देखता है। सम्पूर्ण भूतों में विद्यमान परमात्मा को जो एकत्व में देखता है, वह योगी सर्वत्र विचरण करता हुआ भी भगवान् में ही स्थित है। जो सुख अथवा दुःख में सबको अपने ही

समान देखता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी है। इसके बाद अर्जुन इस योग की कठिनता के बारे में कहते हैं। वे कहते हैं कि 'मन चञ्चल है'। परन्तु भगवान् उत्तर देते हैं कि अभ्यास एवं वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। अन्त में भगवान् यह उपदेश देते हैं कि वह व्यक्ति योगियों में परम श्रेष्ठ है जो मुझमें श्रद्धा रखता हुआ अपनी आत्मा को केवल मुझमें ही लगाकर मुझे भजता है।

इस अध्याय में वर्णित योग कतिपय उपनिषदों में विशेष रूप से श्वेताश्वतर में मिलता है। 'स्वयं को स्वयं में तथा अन्यत्र देखता है' यह घोषणा बृहदारण्यक (४,४,२३) में प्राप्त होती है। लेखक ने इस अध्याय का उपसंहार ऐसे श्लोक से किया है जो कि हर माने में भक्तिपरक है। ऐसा लगता है कि उसने पाँचवें अध्याय का उपसंहार भी इस प्रयोजन से किया है ताकि पाँचवें अध्याय में विद्यमान मनोनिग्रह के वर्णन तथा इस अध्याय के योग-वर्णन में अभक्तिपरक निष्कर्ष न निकले। समस्त वस्तुओं को परमात्मा से सम्बद्ध करने का ध्यान रखा गया है।

अध्याय ७—पिछले ६ अध्यायों में फलनिरपेक्ष कर्म के सम्पादन से लेकर ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति के लिए पूर्णतया क्रियाशील, वासना-मुक्त एवं समस्त भूतों में समदृष्टि रखने वाले योगी की स्थिति के प्राप्त होने तक की समस्त प्रक्रिया का वर्णन किया गया है तथा अन्त में यह भी कह दिया गया है कि वह योगी परम श्रेष्ठ है जो श्रद्धा एवं भक्ति से भगवान् को भजता है। यह बात यह प्रदर्शित करने के लिए जोड़ दी गई है कि योग-स्थिति की प्राप्ति के पूर्व की प्रक्रियाओं का आचरण कर सकना ऐसे पुरुषों के लिए कठिन है, जिनमें हम लोगों के समान मनोविकार विद्यमान हैं। इन मनोविकारों से मुक्त होने का उपाय भगवान् में आत्मसमर्पण करना है। अतएव इस अध्याय में भगवान् प्राणियों की प्रकृति तथा अपने साथ उनके सम्बन्धों का वर्णन करते हैं। वे यह कहते हुए प्रारम्भ करते हैं कि भगवान् की प्रकृति आठ प्रकार की है—पाँच तत्त्व तथा मन बुद्धि और अहंकार। जीव, एक दूसरी प्रकृति है जो कि जगत् को धारण करता है। इनसे सम्पूर्ण वस्तुओं एवं समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। भगवान् सम्पूर्ण जगत् के प्रभव तथा प्रलय हैं। भगवान् से परतर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के समान भगवान् में ही गुँथा हुआ है। किसी भी वस्तु में जो विशिष्ट तेज होता है वह स्वयं भगवान् है। तीनों गुण तथा उनसे उत्पन्न भाव भगवान् से ही होने वाले हैं। भगवान् उनमें नहीं हैं तथा वे भगवान् में नहीं हैं। भगवान् इन तीनों गुणों से परे हैं। तीन गुणों के कार्यरूप इन भावों से मोहित जगत् इन सबसे परे भगवान् को नहीं जानता। भगवान् की यह गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु, जो भगवान् को निरन्तर भजते हैं, वे इस माया से छुटकारा पा जाते हैं। दुष्ट लोग भगवान् को नहीं भजते क्योंकि उनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया जाता है तथा वे आसुर भाव का आश्रय ग्रहण करते हैं। भगवान् के भक्त चार प्रकार के हैं। इनमें ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि ज्ञानी भगवान् को

सर्वोत्तम आश्रय मानता है (भगवान् में एकीभाव से स्थित रहता है)। ज्ञानी पुरुष वासुदेव को सब कुछ मानता हुआ उन्हें आत्म-समर्पण कर देता है। अन्य लोग अन्य देवों को भजते हैं तथा वे भिन्न-भिन्न नियमों को धारण करते हैं। अपने देवों के प्रति उनकी श्रद्धा को भगवान् ही उत्पन्न करते हैं तथा वे ही इसे स्थिर करते हैं। वे उस श्रद्धा के साथ उन देवों को पूजते हैं तथा फल पाते हैं। यह फल स्वयं भगवान् ही देते हैं। परन्तु यह फल नाशवान् है। भगवान् के अव्यय एवं उत्तम पर-भाव को न जानते हुए बुद्धि-हीन लोग अव्यक्त भगवान् को व्यक्त मानते हैं। योगमाया से समावृत होने के कारण भगवान् सबको प्रत्यक्ष नहीं होते। वे अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को जानते हैं तथा उन्हें कोई भी नहीं जानता। इच्छा एवं द्वेष से सम्पूर्ण प्राणी संमोह को प्राप्त हैं। जो रागद्वेष के द्वन्द्वों से निर्मुक्त हैं, केवल वे अपने श्रेष्ठ कर्मों के आचरण से पापों के नष्ट हो जाने पर भगवान् को भजते हैं। जो पुरुष उन्हें अधियज्ञ (पूजा के अधिष्ठाता) अधिदैव (देवों के अधिष्ठाता) एवं अधिभूत (भूतों के अधिष्ठाता) रूप में जानते हैं, वे मरने पर भगवान् को जानते हैं।

भगवान् में समस्त सत्-पदार्थों के एक साथ गुँथे होने के विचार के लिए हम मु० उ० २,२, ५ तथा बृ० उ० ३,८, ३ एवं ४, ६, ७ से तुलना कर सकते हैं। सामान्य जन को कतिपय कामनाओं से प्रेरित होकर अन्य देवों का आश्रय लेते हुए बतलाया गया है। अपने देवों के प्रति उनकी श्रद्धा को भगवान् स्थिर करते हैं तथा उन देवों से जो फल उन्हें प्राप्त होते हैं वे भी उन्हें भगवान् ही देते हैं। परन्तु उन देवों से उन्हें जो फल प्राप्त होते हैं, वे विनाशी हैं। यहाँ हमें वही विचार प्राप्त होता है, जो हम अध्याय ४ में देख चुके हैं और अध्याय ९ में देखेंगे, कि अन्य देवों के उपासक वस्तुतः भगवान् के ही उपासक हैं। इस प्रकार भी धर्मों में एकता है।

अध्याय ८—पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में उल्लिखित तीन विषयों तथा ब्रह्म एवं अध्यात्म के विषय में प्रश्न करके अर्जुन इस अध्याय का आरम्भ करते हैं। इसके बाद भगवान् इनकी व्याख्या करते हैं। मृत्यु के समय भगवान् के दर्शन के विषय में वे कहते हैं, "जो पुरुष प्रयाण काल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।" अन्त में भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष भक्तियुक्त चित्त से सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, अणु से भी सूक्ष्म, सबके पोषक, अचिन्त्यरूप, आदित्य के सदृश प्रकाशमान तथा अविद्या से अति परे भगवान् का स्मरण करता हुआ योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके शरीर छोड़ता है, वह परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है। तदनन्तर भगवान् ने निगृहीत मन से 'अक्षर' की प्राप्ति और योग-क्रियाओं द्वारा 'ओं' के उच्चारण द्वारा किंवा भगवान् के चिन्तन द्वारा परम-पद की प्राप्ति का वर्णन किया है। जो पुरुष भगवान् का अनन्य-चित्त से ध्यान करता है एवं उनका भक्त है, वह उन्हें सहज में ही प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक प्राणी पुनर्जन्म

का विषय है, परन्तु भगवत्प्राप्ति के अनन्तर वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मा की रात्रि के अवसर पर समस्त भूत अव्यक्त में लय होते हैं तथा जब दिन आता है तो वे अव्यक्त से पुनः व्यक्त हो जाते हैं। उस अव्यक्त से विलक्षण एक दूसरा तत्त्व है जो कि स्वयं अव्यक्त है तथा जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। यह अव्यक्त तत्त्व अविनाशी (अक्षर) है। वह परम गति है, जिसको प्राप्त करके फिर वापस नहीं आते। यह भगवान् का परम धाम है। जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्व भूत हैं तथा जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण हैं वह परमपुरुष अनन्य-भक्ति से प्राप्य है। इसके बाद भगवान् दो मार्गों का उल्लेख करते हैं। जो लोग उस समय मरते हैं जब सूर्य उत्तरायण रहता है, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा जो सूर्य के दक्षिणायन रहने पर मरते हैं वे चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होते हैं, जहाँ से आत्मा लौट आती है।

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि "जो पुरुष प्रयाण काल में परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं" यह उल्लेख करने के उपरान्त भगवान् ने योग-प्रक्रिया का आश्रय लेकर परम लक्ष्य भूत 'अक्षर' की प्राप्ति का वर्णन किया है। यह अक्षर-प्राप्ति के निमित्त मानों मुण्डक (२,२,३) श्वेताश्वतर (१,१४) आदि उपनिषदों में उल्लिखित योग-क्रियाओं की ओर लौटना है। प्रथम अवतरण (मुण्डक २,२,३) में 'ओं' की तुलना धनुष से, 'आत्मा' की बाण से तथा 'ब्रह्म' की तुलना वेध के लक्ष्य से की गई है। द्वितीय अवतरण (श्वेताश्वार १,१४) के अनुसार पुरुष को अपने शरीर का प्रयोग नीचे की अरणि के रूप में तथा प्रणव का प्रयोग ऊपर की अरणि के रूप में करना चाहिए। अरणियों में छिपी हुई अग्नि जैसे अरणियों के परस्पर मन्थन से प्रकट हो जाती है, वैसे ही (हृदय में स्थित) परमेश्वर को पाने के लिए ध्यान करना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् के अक्षर-ब्रह्म को श्वेताश्वतर में देव का रूप दे दिया गया है। भगवद्गीता ने भी 'ओं' का उच्चारण किये जाते समय भगवान् के ध्यान का निर्देश किया है। अतएव यहाँ पर अव्यक्त, अक्षर ब्रह्म को सुदृढ़ एवं सुस्पष्ट व्यक्तित्व से विभूषित करने का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। बाद में इसी अध्याय में इस अव्यक्त के अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रलय होने पर समस्त भूत विलीन हो जाते हैं। यह अव्यक्त अविनाशी एवं सनातन है। इसे अक्षर तथा परम-गति कहा गया है। किन्तु यहाँ पर इस अक्षर को भगवान् का परम धाम कह कर भक्तिपरक बना दिया गया है।

अध्याय ९—इस अध्याय में भगवान् प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान (ज्ञान और विज्ञान) की व्याख्या करते हैं। यह राजविद्या एवं राजगुह्य है। यह प्रत्यक्ष गोचर है। यह पवित्र है एवं इसका साधन करना सुगम है। भगवान् ने इस समस्त जगत् को विस्तीर्ण किया है। सभी भूत उनमें है, वे सर्वभूतों में नहीं हैं तथा वे सब भूत भी उनमें स्थित नहीं है। उनका ऐश्वर्य अद्भुत है। वे सब भूतों के धारण करने वाले हैं तथा

वास्तव में उनमें स्थित नहीं हैं। उनकी आत्मा समस्त भूतों को उत्पन्न करती है। जैसे कि आकाश में स्थित वायु सदा ही सर्वत्र स्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत भगवान् में स्थित हैं। जगत् के प्रलय होने पर समस्त भूत उनकी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं और नूतन कल्प के आदि में उनको वे पुनः रचते हैं। ये समस्त कर्म उन्हें नहीं बाँधते, क्योंकि इन्हें वे बिना किसी कामना के करते हैं। अध्यक्ष के रूप में उनके साथ प्रकृति, चर एवं अचर भूतों को रचती है। मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले उस परमात्मा को तुच्छ समझते हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे समस्त भूतों के ईश्वर हैं। किन्तु दैवी प्रकृति वाले महात्माजन उनको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित जान कर अनन्य-मन से उन्हें भजते हैं। कुछ लोग एकत्व-भाव से या पृथक्त्व-भाव से अथवा विश्वतोमुख रूप में ज्ञान-यज्ञ द्वारा उनकी उपासना करते हैं। वही यम हैं, वही क्रतु हैं, । वह स्वाहा, स्वधा, मन्त्र एवं घृत हैं। वह अग्नि हैं तथा हवनरूप क्रिया भी वही हैं। वही इस जगत् के पिता, माता, धाता तथा पितामह हैं। वह ऋक् , साम आदि हैं। वह गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास और सुहृद् आदि हैं। त्रैविद्य (तीनों वेदों में विहित सकाम कर्म करने वाले) सोमपायी यज्ञों द्वारा उन्हें पूज कर स्वर्ग की प्राप्ति की कामना करते हैं, जहाँ पर वे अनेक आनन्दों को भोगते हैं। फिर पुण्यक्षीण होने पर वे मर्त्यलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए कर्मों को पालन करने वाले लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं। जो लोग अनन्य-भाव से उस परमात्माका चिन्तन करते हैं तथा भजते हैं, उनके योग क्षेम का वहन भगवान् करते हैं। अन्य देवों के उपासक भी उसी के पूजक माने जाने चाहिए। किन्तु उनका वह पूजन विधिपूर्वक नहीं है अर्थात् अज्ञानपूर्वक है। वह सभी प्रकार के यज्ञों का भोक्ता है। वह प्रभु है। परन्तु वे लोग उसे तत्त्वतः नहीं जानते। इसी से वे गिरते हैं। अन्य देवताओं को पूजने वाले तद्तद् देवताओं को प्राप्त होते हैं और भगवान् को पूजने वाले भगवान् को पाते हैं। अग्नि में जो कुछ हवन किया जाता है, जो कुछ खाया जाता है, दान दिया जाता है तथा जो तप किया जाता है वह सब उसको अर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार ये कर्म बन्धन नहीं बनते, पुरुष वास्तविक संन्यासी हो जाता है एवं उसे प्राप्त करता है। यदि कोई दुराचारी भी अनन्य भाव से भगवान् को भजता है, वह साधु हो जाता है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और परम शान्ति को प्राप्त करता है। स्त्री, शूद्र तथा वैश्य आदि भी उसकी शरण में आकर परमगति को प्राप्त होते हैं। कल्याण चाहने वालों को अपना मन उसमें लगाना चाहिए, उसका भक्त बनना चाहिए, उसकी पूजा करना चाहिए, उसे नमस्कार करना चाहिए। इस प्रकार आचरण करने पर एवं इस प्रकार पूर्णरूप से उसका भक्त होने पर वह भगवान् को प्राप्त कर लेगा।

यहाँ पर याज्ञिक अनुष्ठानों को(जिस रूप में उनकाप्रचलन है) केवल स्वर्ग की प्राप्ति के लिए समर्थ बतलाया गया है। पुण्यक्षीण हो जाने पर लोग उस स्थान से वापस आ जाते हैं। परन्तु जब कोई अनन्य भाव से भगवान् को भजता है, तब वापस नहीं

लौटता। इसके बाद भगवान् को व्यक्तित्व से विभूषित किया गया है तथा मनुष्य का माता, पिता, धाता, पितामह, मित्र एवं आश्रय आदि कह कर उसे मनुष्य बतलाया गया है। अन्य देवों के प्रति जो भाव है वह सहनशीलता का है। उनका पूजन वस्तुतः भगवान् का पूजन है। परन्तु उपासक भगवान् को यथार्थ रूप में नहीं जानते और इसीलिए वे भूल कर जाते हैं।

अध्याय १०—देवता एवं ऋषि लोग भगवान् के प्रभव को नहीं जानते। वह उन सबका आदि है। जो मनुष्य भगवान् को अजन्मा, अनादि एवं लोक-महेश्वर जानता है, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। बुद्धि, तत्वज्ञान, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख आदि उन्हीं से होते हैं। सप्तर्षि एवं चार मनु उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। संसार के सब मनुष्य उनकी प्रजा हैं। वह समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण है, उसके द्वारा ही जगत् चेष्टा करता है, ऐसा जानकर सज्जन शुद्ध हृदय से भक्तिपूर्वक निरन्तर उसे भजते हैं। निरन्तर उसमें मन लगाने वाले उसमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन उसके प्रभाव को जानते हुए सदैव आपस में उसका कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और उसमें सर्वदा रमण करते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह होने के कारण आत्मभाव में स्थित वह उनके अज्ञान-अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देता है।

जब वे इस प्रकार प्रेमपूर्वक उसे (भगवान् को) निरन्तर भजते हैं, तब वह उन भक्तों को ऐसी मनःस्थिति (बुद्धियोग) प्रदान करता है, जिससे वे भगवान् को प्राप्त होते हैं। इसके उपरान्त जगद्व्यापी भगवान् की विभूतियों के बारे में अर्जुन द्वारा पूछे जाने पर भगवान् उनका उल्लेख करते हैं। भगवान् सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा है। सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी वही है। वह आदित्यों में विष्णु, ज्योति वालों में सूर्य, सिद्धों में कपिल, समस्त दैत्यों में प्रह्लाद, धनुर्धारियों में राम, विद्याओं में अध्यात्मविद्या, समासों में द्वन्द्व, समस्त स्त्रियों में कीर्ति, वृष्णियों में वासुदेव तथा पाण्डवों में धनञ्जय है। जो भी विभूतियुक्त एवं कान्ति-युक्त है, उसको उसके तेजके अंश से ही उत्पन्न जानना चाहिए।

यहाँ पर भक्ति संप्रदाय की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि समस्त भक्त परस्पर में मिलते हैं, एक दूसरे को ईश्वर के स्वरूप के बारे में बतलाते हैं तथा ईश्वर-विषयिणी चर्चाओं द्वारा एक दूसरे के लिए प्रसन्नता एवं सन्तोष उत्पन्न करते हैं। यह भक्तों का विशिष्ट लक्षण है, जो उन्हें एकान्त में और एकाकी रह कर योगाभ्यास करने वाले योगियों से पृथक् कर देता है।

अध्याय ११—इस अध्याय में भगवान् के विराट् (जिसमें समस्त प्राणी मिलकर एक रूप दिखते हैं) और संहारक रूपों (जिसमें समस्त प्राणी उसके मुख में प्रविष्ट होकर विलीन हो जाते हैं) का वर्णन हुआ है। अर्जुन स्तुति करता है, कि 'मैं आपका आदि मध्य एवं अन्त नहीं देख पा रहा हूँ। आप शाश्वत धर्म के गोप्ता

हैं।' फिर वह उनसे (भगवान् से) उस भयंकर स्वरूप का त्याग करने एवं सामान्य और अधिक प्रिय नर-रूप धारण करने की प्रार्थना करता है। तीसवें श्लोक में अर्जुन यह कहते हुए कि उनका उग्र प्रकाश प्रत्येक वस्तु को तपा रहा है तथा उनका तेज सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो रहा है, उन्हें 'विष्णो' कह कर सम्बोधित करता है।

जगत् को ईश्वर के रूप में देखे जाने की कल्पना उतनी ही प्राचीन है जितना पुरुष सूक्त (ऋ० १०।९०)। ऋग्वेद, १०, ८१, ३ में ईश्वर को सर्वत्र आँखों वाला (विश्वतश्चक्षुः), सर्वत्र मुख वाला (विश्वतोमुखो) सर्वत्र भुजाओं वाला (विश्वतो बाहुः) तथा सर्वत्र चरणों वाला (विश्वतस्पात्) कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३, ३ में इसी मन्त्र को दुहराया गया है।

अध्याय १२—इस अध्याय का आरम्भ इस प्रश्न के साथ होता है कि वासुदेव और मूल अव्यक्त कारण, जो कि अक्षर है, की उपासना में क्या अन्तर है? उत्तर है, कि जो वासुदेव में मन को स्थिर करके अतिशय श्रद्धा के साथ उनका ध्यान करते हैं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं। जो पुरुष अपने इन्द्रियों को अच्छी प्रकार वश में करके अक्षर अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी तथा अचिन्त्य ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे भी उसे (वासुदेव को) ही प्राप्त होते हैं। परन्तु उन्हें विशेष कठिनाई होती है। जो अपने सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् में अर्पण करके तथा उनका चिन्तन करते हुए उनको भजते हैं, भगवान् मृत्यु रूपी सागर से उनका उद्धार कर देते हैं। अनन्तर कृष्ण अर्जुन को अपना चित्त भगवान् में लगाने तथा अपनी बुद्धि उनमें निवेशित करने की शिक्षा देते हैं। यदि वह अपना मन दृढ़ता के साथ भगवान् में न लगा सके तो भगवान् के सतत स्मरण द्वारा उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न करे। यदि भगवान् का सतत अनुस्मरण भी संभव न हो तो भगवान् के लिए कर्म करना चाहिए। ऐसा करते हुए वह सिद्धि को प्राप्त करेगा। परन्तु यदि वह इसमें भी असमर्थ है तो उसे अपने समस्त कर्मों के फल की इच्छा का त्याग कर देना चाहिए। इसके बाद भगवान् के भक्तों एवं प्रिय जनों के गुणों का वर्णन है यथा समस्त भूतों के प्रति द्वेष भाव न रखना, सभी का प्रिय होना, निरहंकार होना तथा सुख-दुःखों में सम रहना।

इस अध्याय में अक्षर, अव्यक्त (कारण) की उपासना को व्यक्तित्व-विभूषित भगवान् की उपासना से भिन्न बतलाया है। पूर्व अध्यायों के इस प्रकार के स्थलों में भक्तिपरक वाक्यांश जोड़ कर सगुण रूप दे दिया गया है। परन्तु इस अध्याय में अव्यक्त की उपासना को भगवान् को प्राप्त कराने वाली बतलाया है, किन्तु आचरण में अति कठिन होने के कारण इसकी आलोचना भी की है और ग्रंथ के भक्तिपरक लक्ष्य को सामने रखा है।

अध्याय १३—यह शरीर क्षेत्र है तथा जो इसे अपने शरीर के रूप में जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। ऋषियों ने क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ विषयक इस तत्त्व का विविध छन्दों में

बहुत प्रकार से गायन किया है तथा ब्रह्मसूत्र के हेतुमत् पदों द्वारा इसका विनिश्चिय किया है। सांख्य दर्शन में उल्लिखित चौबीस तत्त्व तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति. जो कि वैशेषिकों के अनुसार आत्मगुण हैं, क्षेत्र हैं। इसके बाद भगवान् अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणों की गणना कराते हैं। इन्हें ज्ञान कहा है, परन्तु इन्हें ज्ञान का साधन माना जाना चाहिए। इसके बाद ज्ञान एवं अज्ञान का निर्देश किया गया है। इसके बाद वे ज्ञेय (ज्ञान के विषय) का उल्लेख करते हैं। यह (ज्ञेय) परब्रह्म है, जो अनादि व अनन्त है, न सत् है न असत् है, जो सब ओर से हाथ-पैर वाला (सर्वतः पाणिपादं) है, जो सब ओर से नेत्र, शिर एवं मुख वाला (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) है, जो सब ओर से कानों वाला (सर्वतः श्रुतिमत्) है तथा जो समस्त भूतों को व्याप्त करके स्थित है। इस प्रकार उपनिषदों के शब्दों में ईश्वर का वर्णन आरम्भ होता है। प्रकृति और पुरुष अनादि हैं। समस्त विकार एवं गुण प्रकृतिसंभूत हैं। कार्य के उत्पन्न करने में प्रकृति कारण है तथा सुख एवं दुःखों के भोक्तृत्व में पुरुष। पुरुष, प्रकृति में स्थित होकर प्रकृतिज कार्यों एवं गुणों को भोगता है। अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण गुणों का संग ही है। पुरुष इस देह में स्थित रह कर भी वास्तव में परमात्मा, समस्त भूतों का उपद्रष्टा, भर्ता, भोक्ता एवं महेश्वर है। कुछ लोग ध्यान द्वारा आत्मा को आत्मा से देखते हैं। दूसरे लोग आत्मा को सांख्य योग द्वारा और अन्य कर्मयोग द्वारा देखते हैं। जो कुछ भी स्थावर या जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती है। जो नाशवान् समस्त भूतों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को देखता है, वही वास्तव में देखता है। समस्त भूतों में ईश्वर को समभाव से देखता हुआ पुरुष आत्मा द्वारा आत्मा को नष्ट नहीं करता और परमगति को प्राप्त होता है। जो सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किया हुआ देखता है तथा आत्मा को अकर्ता रूप में देखता है, वही वास्तव में देखता है। जब वह समस्त पृथक् पृथक् भूतों को एक में स्थित देखता है तथा वहीं से सब विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। अनादि, निर्गुण तथा अविनाशी होने से यह परमात्मा शरीर में स्थित होता हुआ भी वास्तव में न करता है और न लिप्त होता है। जैसे कि सर्वत्र व्याप्त आकाश लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी लिप्त नहीं होता। जैसे सूर्य संपूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ (आत्मा) क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

समस्त भूतों को समभाव से देखने वाले तथा उन भूतों और अपने में भेद न करने वाले योगी की स्थिति को प्राप्त कराने वाले कर्मयोग का वर्णन प्रथम ६ अध्यायों में किया गया। आगे के ६ अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग हैं। भक्ति-योग का चरम फल पूर्णतः पवित्र चरित्र का निर्माण है, जो कि भगवान् के प्रिय भक्त का (लक्षण) है। तेरहवें अध्याय के साथ-साथ आनुषङ्गिक विषयों पर विचार प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अथवा आत्मा और

आत्मा के निवास तथा क्षेत्र में ही रहने वाले एक अन्य आत्मा अर्थात् स्वयं का वर्णन करते हैं। इस प्रसंग में वे पूर्व ऋषियों की कृतियों तथा ब्रह्मसूत्र के पदों का प्रमाण देते हैं। ये कृतियाँ कौन-सी हैं, कह सकना कठिन है। इस उल्लेख के बाद ये विषय आते हैं: प्रथम, सामान्यतः सांख्य से सम्बद्ध २४ तत्त्वों तथा ७ अन्य तत्त्वों का वर्णन जो सब क्षेत्र हैं; दूसरे, ज्ञान की प्राप्ति में सहायक गुणों की गणना; तीसरे, ज्ञान (अथवा यथार्थ दर्शन) तथा अज्ञान विषयक विवेचन तथा इसके बाद ज्ञेय, (जो कि परब्रह्म है) का वर्णन ज्ञेय के वर्णन में उपनिषदों में दिये गये गुण उल्लिखित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् से डेढ़ श्लोक शब्दशः उद्धृत किया गया है। उपसंहार के श्लोकों में ऐसे अन्य कथन भी हैं जो क० उ० ५,११ तथा श्वे० उ० ५,४ से मिलते हैं। इसके बाद पुरुष एवं प्रकृति के स्वभाव के बारे में सांख्य मत से एकदम मिलता-जुलता एक कथन है परन्तु यहाँ पर शरीर में जीवात्मा के साथ परमात्मा के विद्यमान होने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार जब कभी भी सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, वहाँ सांख्य के अनीश्वरवाद का यत्नपूर्वक परिहार कर दिया गया है। इसके बाद ईश्वर-विषयक विचार तथा परमात्मा के सर्वत्र पाये जाने का प्रतिपादन है। अतएव यह अध्याय जिन कृतियों पर आधारित है, वे हैं कतिपय उपनिषद् तथा जगत् के निर्माण एवं आचार के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाले कुछ ग्रंथ। ये ग्रंथ संवाद रूप में रहे होंगे, पहले स्वतन्त्र, किन्तु बाद में महाभारत के शान्ति-पर्व तथा अन्य पर्वों में मिला लिये गये होंगे अथवा भिन्न रहे होंगे, जो अब अवशिष्ट नहीं हैं। उस सांख्य दर्शन का यहाँ पर कोई उल्लेख नहीं मिलता, न तो नाम द्वारा और न किसी विशिष्ट निर्देश द्वारा ही, जिसका आगे चलकर ईश्वरकृष्ण ने विकास किया। चौबीस तत्त्वों का विचार प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में दार्शनिक संप्रदायों के संस्थापकों ने इसे अपने उद्देश्यों के अनुरूप ग्रहण किया। चौबीस तत्त्वों के उल्लेख द्वारा तिथिक्रम सम्बन्धी कोई निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। "समस्त कार्य प्रकृतिसमुद्भूत हैं, आत्मा निष्क्रिय हैं एवं सुख-दुःख की उपभोक्ता मात्र है" इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया गया है। यह वास्तवमें सांख्य-सिद्धान्त है, किन्तु मनुष्य को नैतिक-उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए निरूपित है। परन्तु यह सिद्धान्त चौबीस तत्त्वों के साथ आनुषङ्गिक रूप से आया हुआ प्रतीत होता है।

अध्याय १४—परब्रह्म भगवान् की योनि है, जिसमें वह (भगवान्) बीज को स्थापित करते हैं। शरीर उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार की सब योनियों में ब्रह्म महत् योनि है। इसके बाद भगवान् तीन गुणों, उनके कार्यों तथा परलोकों में उनके फलों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हैं। ये गुण बन्धनभूत हैं। मनुष्य जब इन गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह बन्धन-मुक्त हो जाता है एवं अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इन तीनों गुणों से मुक्त पुरुष का असाधारण लक्षण उसकी शान्त,

स्थिर एवं अनुद्विग्न स्थिति है। उसके लिए सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मिट्टी-पत्थर तथा सोना सब समान होते हैं। जो पुरुष निरन्तर भक्ति-योग द्वारा भगवान् को भजता है, वह इन गुणों का अतिक्रमण कर लेता है और ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर लेता है। भगवान् अमृत एवं अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा अक्षयआनन्द का आश्रय है।

यहाँ पर भगवान् की सतत भक्ति द्वारा गुणों से आत्मा के मुक्ति पाने की स्पष्ट घोषणा मिलती है। ब्रह्मयोनि शब्द मु० उ० ३, १,३ में प्राप्त होता है तथा वह इस अध्याय के प्रारम्भ में 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इस रूप में व्याख्यात है।

अध्याय १५—भगवान् संसार या यावन्मात्र की तुलना एक पिप्पल-वृक्ष से करते हैं। इस वृक्ष को असङ्ग या वैराग्य के शस्त्र द्वारा काटना चाहिए और तब उस परमपद को खोजना चाहिए जिसमें गया हुआ पुरुष फिर संसार में वापस नहीं आता। मनुष्य को आदि-पुरुष की शरण में जाना चाहिए। मन, मोह, कामनाओं तथा सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त पुरुष उस अविनाशी परमपद को प्राप्त करते हैं। भगवान् का परमधाम वह है जो सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि द्वारा प्रकाशित नहीं है। जब जीवात्मा शरीर त्यागता है तब मनषष्ठक इन्द्रियों को उस शरीर से ले जाता है और जब यह दूसरे शरीर को ग्रहण करता है तब उसमें इन इन्द्रियों को लेता आता है। आत्मा भगवान् का अंश है तथा नित्य है। इन ६ इन्द्रियों का आश्रय करके यह आत्मा इन्द्रियों के समस्त विषयों का सेवन करती है। जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसे भगवान् का तेज समझना चाहिए। सोम बन कर भगवान् सम्पूर्ण औषधियों को पुष्ट करते हैं। अग्नि बनकर वे अन्न को पकाते हैं। वे सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। उनसे ही स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन उत्पन्न होते हैं। सब वेदों द्वारा भगवान् ही वेदान्तकृत तथा वेदवित् रूप में ज्ञेय हैं। इस संसार में नाशवान एवं अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य पुरुष है जो कि उत्तम है, जो परमात्मा कहलाता है तथा जो अव्यय ईश्वर के रूप में तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है। लोक एवं वेद में भी भगवान् पुरुषोत्तम नाम से प्रथित हैं।

इस अध्याय में एक नई बात प्रस्तुत की गई है कि जीवात्मा ६ इन्द्रियों के साथ शरीर को त्यागता है तथा उसी अवस्था में नूतन शरीर में प्रविष्ट होता है। संसार की पिप्पल-वृक्ष से तुलना क० उ० (६, १) मै० उ० (६, ४) में और भगवत् के परम धाम की अप्रकाश्यता की चर्चा क० उ० (५, १५), मु० उ० (२, २, १०) तथा श्वे० उ० (६, १४) में प्राप्त होती है। एक तीसरे परम पुरुष की सत्ता का सिद्धान्त भी इस भक्ति-परक ग्रन्थ की विशेषता माना जाना चाहिए। क्षर, अक्षर और आत्मा के त्रिक तथा ईश्वर का उल्लेख श्वे० उ० (१ १०) में, जो भगवद्गीता से पूर्ववर्ती है, किया गया है।

अध्याय १६—भगवान् दैवी संपत् के गुणों तथा आसुरी संपत् के दुर्गुणों की

गणना कराते हैं। दैवी संपत् से मुक्ति प्राप्त होती है तथा आसुरी-सम्पत् से विनाश। भूत दो प्रकारों के हैं–दैव और आसुर। आसुरी स्वभाव वाले लोगों में न शुद्धि रहती है, न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य। वे जगत् को असत्य, आश्रय-रहित, अनीश्वर, अपरस्पर-संभूत किंबहुना कामहैतुक मानते हैं। इस दृष्टि का अवलम्बन करके ये क्रूर तथा मन्द-बुद्धि लोग अपने उग्रकर्मों द्वारा जगत् का क्षय करते हैं। अतएव काम से पूर्ण तथा दम्भ, मान एवं मद-युक्त वे लोग मिथ्या सिद्धान्तों को अपनाकर भ्रष्ट आचरण करते हैं। कामोपभोगों के लिए वे अन्यायपूर्वक द्रव्य संचित करते हैं। अपने धन, अपनी शक्ति, अपने कुल का गर्व करते हुए वे दूसरों का अपमान करते हैं और अपवित्र नरकों में गिरते हैं। यदि वे पूजा भी करते हैं तो केवल नाम-मात्र का उच्चारण करते हैं तथा पाखण्ड का अवलम्बन करते हैं। वे अहंकार से युक्त रहते हैं। अपने एवं दूसरों के शरीर में स्थित भगवान् से द्वेष करते हैं। इन दुष्ट मनुष्यों को भगवान् आसुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ नरक के ये तीन द्वार हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए। जो इन तीनों द्वारों का त्याग करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। जो शास्त्रविधि को त्यागता है तथा अपनी इच्छा से आचरण करताहै, वह सिद्धि, सुख या परमपद को प्राप्त नहीं होता। अतएव मनुष्य को जब कुछ करना हो या जब किसी काम को न करना हो तब उसे शास्त्र विधियों का पालन करना चाहिए।

यहाँ पर दैवी एवं आसुरी, मनुष्यों की इन दो श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। आसुरी श्रेणी में केवल ईश्वर या सदाचार को न मानने वाले सांसारिक लोगों का ही अन्तर्भाव नहीं किया गया है अपितु भागवत-मत से भिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक मतों के अनुयायी भी इसमें अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। वे शास्त्र विधियों का खण्डन करते हैं; ईश्वर का निषेध करते हैं जैसा कि बौद्धों एवं जैनों ने किया है। वे जगत् को अतात्त्विक मानते हैं जैसे कि बौद्ध।

अध्याय १७—अर्जुन प्रश्न करते हैं, जो मनुष्य शास्त्र विधियों को त्याग कर भी श्रद्धा से युक्त होकर पूजन करते हैं उनकी मनःस्थिति कैसी होती है? क्या यह सात्त्विकी है? अथवा राजसी, किंवा तामसी है? भगवान् कहते हैं, श्रद्धा, सात्त्विकी तथा तामसी तीन प्रकार की होती है। मनुष्य की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है वह स्वयं वैसा ही होता है। सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष एवं राक्षसों को तथा तामस पुरुष प्रेतों एवं भूत-गणों को पूजते हैं। आसुरी स्वभाव वाले लोग दम्भ, अहंकार से युक्त होकर शरीर में स्थित भूत-समुदाय को एवं अन्तःकरण में स्थित भगवान् को कृश कर देने वाले उग्र तपों को तपते हैं। तदुपरान्त भगवान् ने तीन प्रकार के भोजनों का, तीन प्रकार के यज्ञों का, तीन प्रकार के तपों का और तीन प्रकार के दानों का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ सात्त्विक गुण के अनुसार किया गया यज्ञ वह है जो कि फल की आकांक्षा के बिना शास्त्र-विधि के अनुसार संपन्न किया जाता है। जो यश फल की प्राप्ति के

लिए दम्भ के साथ किया जाता है वह राजस यज्ञ हैं तथा जो यज्ञ शास्त्र-विधि से हीन, बना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा से किया जाता है वह तामस यज्ञ है। जहाँ तक दानों का सम्बन्ध है, दान देना कर्तव्य है ऐसे भाव से जो दान प्रत्युपकार न करने वालों को दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहा गया है। प्रत्युपकार की इच्छा के साथ फल के उद्देश्य से दिया गया दान राजस दान है। इसी प्रकार समस्त चारों विषयों का निरूपण किया गया है। अन्त में 'ओं तत्सत्' मन्त्र का उच्चारण करते हुए शुभ कर्मों के करने का उल्लेख किया गया है। "मनुष्य का धार्मिक विश्वास तथा उसके द्वारा पूजित ईश्वर का स्वरूप उसके अपने चरित्र पर आधारित है" इस सत्य को इस अध्याय में स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया है।

सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीन में जिस गुण द्वारा मनुष्य की प्रकृति प्रभावित होती है उसके अनुसार न केवल ईश्वर का स्वरूप अपितु भोजन, पूजन-प्रकार, दान एवं तप का रूप भी भिन्न हो जाता है।

अध्याय १८—उस अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन के संन्यास एवं त्याग-विषयक प्रश्न के साथ होता है। भगवान् उत्तर देते हैं कि काम्य कर्मों का परित्याग संन्यास है तथा कर्मों के फल का त्याग, त्याग है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। अन्यों का कहना है कि यज्ञ, दान एवं तप त्यागने योग्य नहीं हैं। निर्णय यह है कि यज्ञ, दान एवं तप का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये आत्मा को पवित्र करने वाले हैं। कर्म उनमें आसक्त हुए बिना एवं फलों की इच्छा के बिना करना चाहिए। कर्तव्य कर्म का त्याग उचित नहीं है। उस कर्तव्य का त्याग मोहात्मक कार्य है। जब कोई कर्म 'दुःखरूप है' ऐसा समझ कर त्यागा गया तो उसका यह त्याग राजस हैं। 'करना कर्तव्य है' ऐसा समझ कर जो नियत करणीय कर्म फल की इच्छा के बिना या अनासक्ति पूर्वक किया जाता है वह सात्विक त्याग माना जाता है। किसी भी देहधारी के लिए समस्त कर्मों का त्याग शक्य नहीं है। जो कर्मफल त्यागी है, वही त्यागी है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ तथा दैव ये पाँच विभिन्न हेतु हैं। इस प्रकार यह आगे चलता है। मन की कुछ चेष्टाओं तथा दशाओं को तीन गुणों के अनुसार परिवर्तित होते हुए बतलाया गया है, जैसे कि ज्ञान, विहित कर्म तथा कर्ता, बुद्धि, संकल्प धृति एवं सुख तथा विभिन्न वर्णों के कर्म।

जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उसको अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूज कर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। इसके बाद भगवान् मन के आत्म-संयम तथा वैराग्य जैसे उन समस्त गुणों एवं दशाओं का वर्णन करते हैं जो ब्राह्मी स्थिति की अनुभूति में सहायक हैं। जब इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब पुरुष शोक एवं आकांक्षा से मुक्त हो जाता है। सब भूतों में समभाव रखकर वह अपने में भगवान् की परा भक्ति को विकसित करता

है तथा भगवान् को तत्त्वतः और भलीभाँति जान कर भगवान् में प्रविष्ट हो जाता है। पुरुष को समस्त कर्म करना चाहिए और केवल ईश्वर पर आश्रित रहना चाहिए। तब पुरुष ईश्वर की कृपा से सनातन पद प्राप्त कर लेता है। पुरुष को अपने समस्त कर्म भगवान् में अर्पित करके अपना मन केवल भगवान् में लगाना चाहिए और तब वह भगवान् की कृपा से समस्त सङ्कटों को पार कर लेगा। इसके बाद भगवान् अर्जुन को सर्वभाव से उसी भगवान् (ईश्वर) की शरण में जाने का उपदेश देते हुए सारी बातों का उपसंहार करते हैं कि भगवान् सम्पूर्ण भूतों के हृदय में स्थित हैं तथा चक्र की भाँति समस्त भूतों को घुमाते हैं। इसके बाद वे कहते हैं कि उस परमात्मा की दया से वह परमशान्ति एवं शाश्वत परम धाम प्राप्त करेगा। अपना सम्पूर्ण भगवान् में लगा देने, उसका भक्त होने, उनकी उपासना करने तथा उन्हें प्रणाम करने का एक बार पुनः अर्जुन को उपदेश देते हैं और कहते हैं कि ऐसा करने से अर्जुन उन्हें प्राप्त कर लेगा। इस ज्ञान को परम गुह्य कहा है। तदनन्तर अर्जुन को मोक्ष के अन्य समस्त उपायों का परित्याग करने तथा एकमात्र भगवान् की शरण में जाने को कहा गया है। ऐसा करने से भगवान् उसे समस्त पापों से मुक्त कर देंगे। इस प्रकार अध्याय का अन्त हो जाता है।

यह एकान्तिक धर्म है जो कि नारायणीय के अनुसार अर्जुन को दिया गया था। यहाँ पर प्रदिपादित मुक्ति का उपाय कर्ममय जीवन में रहना है। परन्तु पुरुष को कर्मों के फल की कामना नहीं रखनी चाहिए। कर्म बिना आसक्ति के किये जाने चाहिए अर्थात् कर्म करते समय आदमी को निःस्वार्थ होना चाहिए। कर्म ब्रह्म में अर्पित होने चाहिए अर्थात् कर्म इसलिए करना चाहिए कि जगत् की मर्यादा इसे करणीय मानती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को कर्म करना चाहिए क्योंकि यह करणीय है। जब इसका और अधिक व्यक्ति-परक व्याख्यान दिया जाता है तो यह सिद्धान्त इस रूप में आता है कि पुरुष को केवल ईश्वरेच्छा की पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस प्रकार लगातार कर्म करने से मन की जो स्थिति होती है, वह है रागद्वेषादिकों से मुक्ति, ईश्वर की सर्वव्यापकता का भाव, तथा समस्त भूतों में समभाव। इससे ईश्वर में पराभक्ति की अनुभूति होती है तथा इस साधन से भगवान् को पूरी तरह से जान कर मनुष्य भगवान् में लीन हो जाता है।

निरन्तर और निःस्वार्थभाव से अपने कर्तव्य का पालन करना एक कठिन बात है, क्योंकि समस्त भूत तीनों गुणों के अथवा हमारी आधुनिक शब्दावली में मनोविकारों एवं वाञ्छाओं से प्रभावित होते हैं। स्वयं को ईश्वर की शरण में ले जाने से इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

भगवद्गीता के धर्म के स्रोत

फ़ल की इच्छा के बिना अर्थात् अनासक्ति से अथवा निःस्वार्थभाव से कर्मों के किये जाने पर निरन्तर आग्रह भगवद्गीता का वैशिष्ट्य है। परन्तु यह विचार

नया नहीं है। ईशोपनिषद् के दूसरे श्लोक में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कर्म को करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म मनुष्य में लिप्त नही होंगे। छा० उ० ४, १४, ३; बृ० उ० ४, ४, २३ तथा मै० उ० ६, २० में लिप्त न होने का वर्णन है जो समुन्नत मनोदशा का फल है।

गीता ने परम पुरुष के गुण (विशेषण) उपनिषदों से लिए हैं, जैसा कि विभिन्न अध्यायों पर विचार करते समय पहले ही दिखलाया जा चुका है। जहाँ एक ओर उपनिषदों के कतिपय स्थलों में ईश्वर का व्यक्तित्व पूर्णतया स्वीकार किया गया है वहीं अन्य स्थलों मे अव्यक्त ब्रह्म का भी वर्णन है। भगवद्गीता में जब ऐसे स्थलों को लिया गया है, तब, जैसा कि हम दिखला चुके हैं, 'अक्षर' या ब्रह्म को स्पष्ट रूप से व्यक्तित्व-विभूषित करने का ध्यान रखा गया है। 'आत्मा का निग्रह करना' 'स्थिर-प्रज्ञता एवं शान्ति की प्राप्ति' भगवद्गीता के इन सिद्धान्तों का उदय उस वातावरण में हुआ जिसमें धार्मिक और नैतिक भावों का प्राधान्य था और जो औपनिषदिक चिन्तन के आदि काल से लेकर आस्तिक अथवा नास्तिक मतों के संगठन-काल तक व्याप्त रहा। फलतः यद्यपि भगवद्गीता में ब्रह्म-निर्वाण के विषय में भी कहा गया है, किन्तु यह नहीं मानना चाहिए कि भगवद्गीता ने परा शान्ति का यह सिद्धान्त बौद्ध मत से लिया गया है। इन सभी मतों द्वारा आश्रित स्रोत एक ही हैं।

उपनिषदों तथा उस समय प्रचलित धार्मिक एवं नैतिक वातावरण के अतिरिक्त गीता ने उस दर्शन से भी लाभ उठाया जो बहुत प्राचीन काल में ही अस्तित्व में आ चुका था। यह सांख्य एवं योगदर्शन है। सांख्यमत के चौबीस तत्त्वों, प्रकृति की सक्रियता एवं पुरुष की निष्क्रियता तथा पचीसवें तत्त्व के रूप में पुरुष अथवा आत्मा का निर्देश भगवद्गीता में किया गया है। किन्तु भगवद्गीता ने इन में उत्तम पुरुष नामक एक अन्य आत्मा का समावेश कर दिया है, जो उत्तर-कालीन सांख्यमत में नहीं मिलता। इस प्रकार इस दर्शन को भक्ति-परक स्वरूप प्रदान कर दिया है। अपने सृष्टि वर्णनों में पुराणों ने इस दर्शन का अनुगमन किया है। उत्तरकालीन वैष्णव एवं शैव मतों ने भी इसे कम या अधिक परिस्कृत रूप में ग्रहण किया है। भगवद्गीता में 'सांख्य शब्द' उत्तरकालीन अनीश्वरवादी दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत नहीं होता। द्वितीय एवं पञ्चम अध्याय में 'सांख्य' शब्द संख्यान (ज्ञान) पर आधारित दर्शन का बोधक है तथा 'योग' शब्द कर्म पर आधारित दर्शन का। पुनश्च, अन्तिम अध्याय में वर्णित पाँच कारण, जिन्हें सांख्य दर्शन का बतलाया गया है, उत्तरकालीन सांख्य में अज्ञात प्रतीत होते हैं। अतएव श्वेताश्वतर उपनिषद् एवं भगवद्गीता के काल के आस-पास एक चिन्तन प्रधान दर्शन सांख्य नाम से प्रसिद्ध था तथा इसी से उत्तर-कालीन अनीश्वरवादी मत का प्रादुर्भाव हुआ। कर्म-दर्शन भी प्रचलित था। परन्तु जैसा कि पहले सूचित किया जा चुका है, यह चित्तवृत्ति निरोध के रूप में, जब सामान्य वृत्तियों को अक्षर ब्रह्म पर केन्द्रित कर देते हैं, अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा।

इस प्रकार भगवद्गीता बौद्ध-धर्म के उदय के पूर्व प्रचलित धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन के विकास का परिणाम थी। परन्तु भक्ति, जो कि भगवद्गीता की विशेषता है, की उत्पत्ति आजकल बड़े विचार का विषय बनी हुई है। अतः अब हम इस ओर मुड़ते हैं। उपनिषदों में उपासना का प्रतिपादन किया गया है। इसके विषय अनेक हैं, जैसे मन, सूर्य, चन्द्र, अन्न, प्राण आदि में विद्यमान पुरुष जिसे ब्रह्म माना गया है अर्थात् ब्रह्मरूप में उसका चिन्तन करना बतलाया गया है। उपासना उपास्य का विस्तार करती है तथा उसे महनीय रूप प्रदान करती है ताकि उसके प्रति अनुराग एवं प्रशंसा का भाव बढ़े। जिसे अन्तरात्मा कहते हैं बृहदारण्यक में उसे धनादि समस्त वस्तुओं तथा पुत्र से भी अधिक प्रिय कहा है (१, ४, ८)। यहाँ पर 'आत्मा' शब्द को संभवतः पुरुष की अपनी आत्मा के अर्थ में लिया जा सकता है। इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थल है जो इस प्रकार है, "यहवह महान् अजन्मा है जो प्राणों के बीच बुद्धि रूप में है, जो हृदय की गुहा में निवास करता है, जो सभी का नियामक, सभी का शासक किंवा सभी का प्रभु है। शुभ या अशुभ कर्मों के करने से वह अच्छा या बुरा नहीं होता। वह समस्त भूतों का ईश्वर है, वह ऐसी परिखा है जो कि वस्तुओं को एक दूसरे से भिन्न करती है तथा उनके परस्पर सांकर्य को रोकती है (वह धर्म का पालक है)। ब्राह्मण वेदवाक्यों द्वारा, उपासना, दान एवं तप द्वारा उसे जनाना चाहते हैं। उसे जानने पर पुरुष मुनि बन जाता है। आश्रय रूप में उसकी कामना करते हुए संन्यासी जगत् का त्याग कर देते हैं। इसी कारण, प्राचीन काल के ज्ञानियों ने, यह कहते हुए कि अब हम संतति का क्या करेंगे जब कि हमें यह सत्ता प्राप्त हो चुकी है, यह संसार रहने को मिल गया है, संतति की कामना नहीं की। इस प्रकार उन्होंने पुत्र धन तथा जगत् का परित्याग कर दिया एवं मुनियों का जीवन बिताने लगे" (४,४,२२)। यदि प्राचीनकाल के ज्ञानी जनों ने इस वाग्विभव के साथ वर्णित परमेश्वर का चिन्तन करने या उसमें स्थित होने के निमित्त जगत् के समस्त सुखों का त्याग कर दिया था तो क्या इसका अर्थ यह न माना जाये कि उन्हें भक्ति ने परमेश्वर की ओर प्रेरित किया था, यद्यपि 'भक्ति' शब्द यहाँ पर नहीं मिलता। जगत् में मनुष्य के हृदय में परमात्मा के दर्शन से शान्ति प्राप्त होती है, इस सम्बन्ध के आनन्दप्रद कथनों की तह में भक्ति जैसी ही कोई भावना रही होगी। जब ऋग्वैदिक काव्य की रचना की गई उस समय कवि के हृदय में एक देव या अनेक देवों के प्रति अनुराग प्रायः विद्यमान था। इन पदों से इस बात की पुष्टि होती है: 'द्यौ मेरा पिता है' (ऋग्वेद १, १६४, ३२); अदिति 'मेरी माता पिता एवं पुत्र है' (ऋ० १,८९,१०); 'हे पिता द्यौः, समस्त दुरितों को अपसारित करो, हमारे लिए गम्य बनो एवं जैसे पिता पुत्र के प्रति कृपालु होता है, वैसे ही तुम हमारे लिए कृपालु हो जाओ। इनके उत्तरकालीन यज्ञीय विनियोग ने इन मन्त्रों की भावना को नष्ट कर दिया तथा उन्हें मन्त्र मात्र में परिवर्तित कर दिया। किन्तु इन मन्त्रों के रचना-काल में जो भावना थी वह आगे भी बनी रही होगी, यद्यपि कुछ

काल के लिए इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पायी। उपनिषदों के समय यह भावना आश्चर्य एवं स्तुति से मिश्रित होकर पुनः प्रकट हुई। निश्चित ही, यह भावना उपनिषदों के समय में विद्यमान थी। एक दूसरे के साथी (सयुजा) और सखा, दो पक्षियों (जिनसे परमात्मा एवं जीवात्मा अभिप्रेत हैं) का वर्णन ऋग्वेद संहिता (१,१६४,२०) में मिलता है तथा मुण्डक-उपनिषद् (७, १,१) में इसे दुहराया गया है।

मुण्डक (३,२,३) तथा कठ उपनिषद् (२, १३) में इस आशय का एक श्लोक है कि, "यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुश्रुत होने से ही लभ्य है; यह उसे ही लभ्य है जिस पर परमात्मा अनुकम्पा करता है, उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।" पुनः यह सिद्धान्त मिलता है कि परम ज्ञानी सत्ता, जो कि सबका जीवन है, जिस मनुष्य को मुक्त करना चाहता है उसे शुभ कर्म में प्रेरित करती है।" (कौ० ब्रा० उ० ३,८)। "समस्त भूतों के हृदय में रहने वाला ईश्वर सभी का नियन्त्रण करता है।" यह सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसिद्ध स्थल (३,७) का विषय है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् काल में यह सिद्धान्त मान्य था कि 'जीवात्मा परमात्मा के अधीन है तथा केवल परमात्मा ही उसे मुक्ति प्रदान करते हैं'।

इस तरह वे सारी बातें, जो कि भगवद्गीता के एकान्तिक धर्म में हैं, भगवद्गीता से प्राचीन धार्मिक साहित्य में प्राप्त होतीं हैं। परन्तु श्वे० उ० के श्लोक के अतिरिक्त 'भक्ति' शब्द अनुराग के अर्थ में अन्यत्र नहीं मिलता। रामानुज ने भी प्रायः इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया। उनके दर्शन में भक्ति का अर्थ है सतत अनुचिन्तन तथा यह भक्ति उपनिषदों की उपासना से मिलती-जुलती है। व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द आश्रय ग्रहण करने तथा आश्रय भूत वस्तु से अनुराग का बोधक है। ४,३,९५ सूत्र में पाणिनि ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। परन्तु जैसा कि व्याख्याकारों ने व्याख्या की है यह शब्द भाववाचक है, इसका अर्थ है किसी वस्तु का आश्रय लेना, चाहना; इस प्रसंग में सामान्य एवं विशेष प्रत्यय निर्धारित किये गये हैं, जो नाम के साथ आने पर उस व्यक्ति को चाहने वाले या उससे अनुराग करने वाले पुरुष के बोधक हैं। 'भक्ति' शब्द का प्रयोग कतिपय वस्तुओं को 'अग्निभक्तीनि', 'इन्द्रभक्तीनि' अर्थात् 'अग्नि आदि पर आश्रित या उनसे सम्बद्ध वस्तुएँ' कहते हुए यास्क ने इसी अर्थ में किया है। इस प्रकार प्राचीनकाल में भी अनुराग की भावना इस शब्द के साथ जुड़ी हुई थी, यद्यपि उस समय यह शब्द प्रेम के स्थान पर 'प्रिय' का बोध करता था। यथार्थतः स्वयं पाणिनि के नियमों के अनुसार भक्ति को 'अनुराग' का बोधक होना चाहिए क्योंकि 'ति' प्रत्यय भावबोधक है। किन्तु यह शब्द बाद में प्रयोग में आया होगा। इससे वाच्य वस्तु अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा के प्रेम को उपनिषद्काल में प्रायः प्रिय या प्रेयस् शब्द से बोधित करते थे।

जिस परिस्थिति में भगवद्गीता का धर्म विकसित हुआ, मेरी समझ से यह रही होगी। जब विचाराधीन धार्मिक संप्रदायों का अभ्युदय हुआ, लगभग उस समय लोगों में सांसारिक जीवन को त्यागने तथा वनों अथवा पर्वतों में जाकर रहने की एक प्रवृत्ति थी, जैसा कि पालि जातक कथाओं से प्रकट होता है। बौद्ध, जैन एवं ऐसे ही अन्य मतों में भी यति-जीवन को धार्मिक-समुन्नति के लिए अपरिहार्य माना गया है। यह विश्वास तर्कसंगत है कि बौद्ध-धर्म के उदय से पूर्व भी श्रमणों का अस्तित्व था। वे धार्मिक-मत, जिनका उस समय उदय हुआ था, प्रायः नास्तिक थे। भारतीय मस्तिष्क भक्तिपरक विश्वास से स्वतन्त्र नैतिक प्रवचनों तथा नैतिक उत्कर्ष सम्बन्धी विचारों के निमज्जन में प्रवृत्त हो गया था जैसा कि बौद्ध और अन्य मतों तथा महाभारत के बहुसंख्यक शुष्क नैतिक प्रसंगों से प्रकट होता है। अतएव इन प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने के निमित्त भगवद्गीता जैसा मार्ग आवश्यक था। उपनिषदों में इतने भक्तिपरक विचार बिखरे पड़े थे कि व्यावहारिक उद्देश्य से उन्हें एक ऐसे मुक्ति-मार्ग के रूप में ढालना आवश्यक था, जो सरलता से ग्राह्य हो सके। यही वे परिस्थितियाँ प्रतीत होती हैं, जिनमें गीता अस्तित्व में आयी। वासुदेव एवं अर्जुन को सौर आख्यान में विलीन कर देने का मेरा विचार नहीं है, किन्तु जब भगवद्गीता की रचना वासुदेव के उपदेश रूप में हुई उस समय वासुदेव विद्यमान नहीं रहे होंगे। बुद्ध वचन भी जब लिपिबद्ध किये गये, उस समय बुद्ध जीवित नहीं थे। यह ध्यान देने की बात है कि उपदेश देते समय उन दोनों को ही भगवान् कहा गया है। अतएव भगवद्गीता के लिखे जाने से पूर्व ही वासुदेव देवता बन चुके होंगे।

प्राचीन विश्वासों के प्रति भगवत्गीता स्पष्टतः रूढ़िवादी है। भगवान् धर्म की पूर्ति के निमित्त आये थे, धर्म का उल्लंघन करने नहीं। यह पहले ही देख चुके हैं कि यज्ञीय उपासना को उन्होंने प्रायः उपनिषदों के ही दृष्टिकोण से देखा है। कामनाओं की पूर्ति को, जिसे यज्ञ विधान प्रोत्साहित करते हैं, हानिकारक माना है तथा कामनाओं द्वारा प्राप्त फल को विनाशी बतलाया है। इतना रूढ़िवादी होने के कारण ही इस एकान्तिक धर्म ने सामान्यरूप से हिन्दू समाज में अपना मार्ग प्रशस्त कर लिया, यद्यपि यह यज्ञों का उन्मूलन करने में सफल नहीं हो सका। फिर भी इसने स्त्रियों, शूद्रों एवं समस्त वर्णों के धर्म के रूप में अपने स्वरूप को सदैव कायम रखा। कालान्तर में जब ब्राह्मणों ने इसकी व्याख्या की तो उस समय प्रचलित वैदिक विधानों से इसका सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु जहाँ इसके अनुयायी निम्न जातियों के थे, वैदिक-विधानों से इसका सम्बन्ध नहीं रहा। अन्य देवों के उपासकों के प्रति भगवान् के भाव की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। इस विषय में यह धर्म पूर्ण उदार था। समस्त पूजाएँ, चाहे जिस देवता के लिए अभिप्रेत हों, अन्ततः भगवान् को प्राप्त होती हैं। परन्तु अन्य देवों के भक्त भगवान् को तत्त्वतः नहीं जानते और इस प्रकार भूल करते हैं। निम्न-

जातियों पर वासुदेव-कृष्ण के मत का प्रभाव फैलने में इस प्रवृत्ति का अवश्य हाथ रहा होगा।

नारायण से वासुदेव का तादात्म्य

'नारायण' शब्द नाडायन शब्द जैसा है, जो कि पाणिनि के सूत्र ४, १, ९९ द्वारा व्युत्पन्न है तथा जिसका अर्थ नाडायन गोत्र है। यहाँ पर फक् प्रत्यय अर्थान्वित है। इस उदाहरण में नाडायन का अर्थ है नाड या नडों का समूह। अतएव नारायण का अर्थ नार या नरों के समूह का अश्रय[1] है। नारायणीय में केशव या हरि अर्जुन से कहते हैं (१२, ३४१) कि 'मैं मनुष्यों के (नाराणाम्) आश्रय (अयन) या लक्ष्य के रूप में प्रसिद्ध हूँ। नृ या 'नर' शब्द का प्रयोग विशेषतः वेदों में वीर पुरुषों के अर्थ में देवों के लिए भी होता है। अतएव 'नारायण' शब्द की व्याख्या 'देवों का आश्रय' इस रूप में की जा सकती है। एक ऐसी परम्परा है, जो नारायण का सम्बन्ध आद्य जल से जोड़ती है। मनु (१, १०) तथा ऊपर के वाक्य में हरि कहते हैं कि जल को 'नाराः' कहा जाता है, क्योंकि वे नरसूनु हैं। मनु-स्मृतिके अनुसार जल ब्रह्मा का तथा नारायणीय के अनुसार हरि का आद्य आश्रय था, अतः ब्रह्मा और हरि नारायण कहलाये। वायु तथा विष्णु पुराण मनु से सहमत हैं। एक परम्परा और भी है कि विष्णु या नारायण की नाभि-कमल से ब्रह्मदेव उत्पन्न हुए (म० भा० ३, १२, ३४ तथा १२, ३४९, १८)। वायु-पुराण में नारायण को अव्यक्त से पूर्ववर्ती बतलाया है। अव्यक्त से ब्रह्माण्ड निकला तथा ब्रह्माण्ड से ब्रह्मदेव आविर्भूत हुए। इन परम्पराओं का आरम्भ ऋग्वेद १०, ८२, ५६ से दिखलाई पड़ता है, जिसका अनुवाद इस प्रकार है—"दिव से परे, पृथ्वी से परे, विद्यमान देवों से परे वह कौन गर्भ है, जिसने सर्वप्रथम जल को धारण किया तथा जिसमें समस्त देव स्थित हैं? जल ने सर्वप्रथम उसी गर्भ को धारण किया, जिसमें कि समस्त देव संगत होते हैं या स्वयं को स्थित पाते हैं। अज की नाभि में कोई ऐसी वस्तु स्थित है जिसमें समस्त भुवन स्थित हैं?" यहाँ पर सर्वप्रथम जल उल्लिखित मिलता है। जल में 'गर्भ' स्थित है, जो कि उत्तरकालीन परम्परा के ब्रह्मा (जिसने प्रत्येक वस्तु को रचा है) का प्रतिनिधित्व करता है। 'अजन्मा' (अज) नारायण-स्थानीय है, जिसकी नाभि से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। यह कहा गया है कि समस्त देव स्वयं को इस गर्भ में पाते हैं। ये नरों (मनुष्य या देवता) के स्थान में (नरस्थानीय) हैं, जिनका आश्रय नारायण था। इससे मनु एवं कतिपय पुराणों द्वारा उल्लिखित ब्रह्मा एवं नारायण के तादात्म्य की पुष्टि हो जाती है। अतएव नारायण, जो कि ऊपर उद्धृत कतिपय लेखकों द्वारा ब्रह्मा एवं स्वायम्भुव मनु से पूर्ववर्ती बतलाये गये हैं, अन्य व्यक्ति हैं। वे विराट्

---

१. द्रष्टव्य मनु पर मेधातिथि की टीका, १, १०

हैं, ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति नहीं। नारायण-विषयक इस कल्पना का विकास उत्तरकालीन ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में हुआ। शतपथ-ब्राह्मण (१२, ३, ४) में पुरुष नारायण को क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन सवनों (आहुतियों) द्वारा यज्ञस्थल से वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों को हटा देने वाला बतलाया गया है। वहाँ पर केवल वही रह गये थे। प्रजापति ने उन्हें पुनः यज्ञ करने को कहा। समस्त विवरण का सारांश यह है कि नारायण ने स्वयं को समस्त लोकों, समस्त देवों समस्त वेदों एवं समस्त प्राणों में प्रतिष्ठित किया तथा उनको स्वयं में। इससे नारायण के परमात्मा की स्थिति तक पहुँचने पर प्रकाश पड़ता है, जो सर्वत्र व्याप्त है, जिसमें समस्त भूत स्थित हैं तथा जिसने प्रारम्भ में समस्त देवों को स्वयं उनका आश्रय बनकर प्रेरित किया, जैसा कि ऋग्वेद १०, ८२, ६ में निर्देश किया गया है। अन्य स्थान में (१३, ६, १) पुरुष नारायण द्वारा समस्त भूतों में श्रेष्ठता पाने तथा समस्त भूत-रूप बनने के लिए पाञ्चरात्र-सत्र (लगातार पाँच दिनों तक चलने वाला यज्ञ) करने का उल्लेख है। यहाँ पर भी नारायण के परमेश्वर एवं सर्वभूत स्वरूप होने की बात कही गई है। नारायण पुरुष-सूक्त के ऋषि भी थे (ऋग्वेद १०, ९०)। अन्य सूक्तों के ऋषि विश्वकर्मा आदि जैसे काल्पनिक हैं, वैसे ही नारायण भी हैं। विश्वकर्मा आदि सूक्तों के देवताओं से सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार नारायण, पुरुष का ही दूसरा नाम है तथा ये दोनों नाम परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसा हम शतपथ-ब्राह्मण के ऊपर के उद्धरणों में देख चुके हैं। तैत्तरीय आरण्यक (१०, ११) में नारायण का वर्णन परमात्मा के उन समस्त विशेषणों द्वारा किया गया, जो कि सामान्यतया उपनिषदों में मिलते हैं। महाभारत और पुराणों में नारायण का वर्णन परमेश्वर रूप में हुआ है, विशेषतः सृष्टि-रचना के प्रसङ्ग में। पौराणिक आख्यान में उन्हें क्षीरसागर में शेषनाग पर शयन करते हुए चित्रित किया गया है और इस तरह सृष्टिकालीन जल से उनके सम्बन्ध वाली मूल-धारणा अब तक सुरक्षित रखी गई है। इस प्रकार नारायण पूजा के विषय हुए। पूर्व-उल्लिखित घोसुण्डी अभिलेख में नारायण-वाटिका का समर्पण किया गया है।

नारायण का लोक श्वेतद्वीप था। कथासरित्सागर (५४, १९; २१; २३) में देवसिद्धि द्वारा नरवाहनदत्त को श्वेतद्वीप में नारदादि भक्तों द्वारा सेवित शेषशायी हरि के समीप ले जाने का वर्णन है। इस ग्रन्थ में (११५, १०१-३) अन्य स्थल पर कतिपय देवों के श्वेतद्वीप में जाने तथा वहाँ पर मणि-निर्मित विशाल-मन्दिर में चरणों के समीप आसीन लक्ष्मी के साथ शेष-शय्या पर लेटे हुए हरि के दर्शन करने का वर्णन है। हरिवंश (१४३८४) में यह कहा गया है कि मोक्ष को चाहने वाले योगी या कपिल-सांख्य के अनुयायी बलि-रचित स्तोत्र का पाठ करके श्वेतद्वीप को प्राप्त होते हैं। अतएव श्वेतद्वीप स्पष्टतः वह स्वर्ग है, जिसमें नारायण (जिन्हें हरि भी कहा जाता है) निवास करते हैं। यह विष्णु के वैकुण्ठ, शिव के कैलास तथा गोपाल-कृष्ण के

गोलोक का स्थानापन्न है। नारायण के इसी स्वर्ग में नारद गये थे। वहाँ उन्होंने उनके दर्शन किये और उनसे वासुदेव के एकान्तिक धर्म की शिक्षा प्राप्त की। अतएव यह मानना आवश्यक नहीं है कि श्वेतद्वीप, श्वेत जातियों से बसा हुआ कोई ईसाई देश था।

उत्तर ब्राह्मण-काल में, इस प्रकार, परमपुरुष रूप में विकसित नारायण वस्तुतः वासुदेव से पूर्ववर्ती थे तथा महाकाव्य-काल में जब वासुदेव की पूजा का उदय हुआ, नारायण के साथ वासुदेव का तादात्म्य किया गया। वनपर्व (अध्याय १८८-८९) में जगत् के प्रलय काल का वर्णन है, जिसमें कहा गया है कि सर्वत्र जल ही जल था तथा उस जल के बीच न्यग्रोध-वृक्ष की एक शाखा पर एक बालक शयन कर रहा था। उस बालक ने अपना मुख खोला तथा मार्कण्डेय को अपने भीतर खींच लिया। मार्कण्डेय ने अन्दर परिभ्रमण किया और वे भीतर सारे जगत् को देखकर आश्चर्य में पड़ गये। तदनन्तर उस बालक ने मार्कण्डेय को उगल दिया। तब मार्कण्डेय ने पुनः सर्वत्र जल ही जल देखा। मार्कण्डेय ने उस बालक से पूछा "आप कौन हैं ?" उस बालक ने कहा "पहले मैंने जल को 'नाराः' नाम दिया और वे जल मेरे अयन थे अतः मैं नारायण हूँ" और उसने अपने महत्त्व का आगे वर्णन किया। अन्त में मार्कण्डेय, जिन्होंने इस सारी कथा का वर्णन किया है, युधिष्ठिर से कहते हैं 'आपके सम्बन्धी जनार्दन ही नारायण हैं'। नारायण एवं वासुदेव का यह तादात्म्य ही नारायणीय-खण्ड का सार है। समस्त भूतों के स्रष्टा इस नारायण के अलावा एक अन्य नारायण की भी परम्परा थी जो सदैव नर के साथ सम्बद्ध थे। एक वृक्ष पर रहने वाले सयुज एवं सखा दो पक्षियों की औपनिषदिक कल्पना में इस सायुज्य के चिह्न खोजे जा सकते हैं। इनमें से एक, जो स्वामी एवं साक्षी कहलाता है, प्रस्तुत परम्परा का नारायण है तथा दूसरा, जो वृक्ष के फलों के खाने में लगा हुआ है, नर है। इस प्राचीन कल्पना को समस्त नरों के आलय या आश्रय-स्वरूप नारायण की धारणा में परिवर्तित कर दिया गया। नारायणीय के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि विश्वात्मा नारायण चार मूर्तियों सहित धर्म के आत्मज हुए। चार मूर्तियाँ या चार पुत्र नर, नारायण हरि एवं कृष्ण थे। इनमें से नर और नारायण बदरी-आश्रम में तप करने लगे। यही कथा वामन पुराण (अध्याय ६) में भी दी गई है। इन चारों को धर्म का पुत्र बतलाया गया है। उनकी माँ अहिंसा थी। यह कथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। जब नये धार्मिक मतों का उदय हुआ, उस काल में जो विचार आलोड़ित हो रहे थे वे प्राचीन याज्ञिक विधान तथा पशुवध के विरुद्ध अहिंसा एवं धर्म के विचार थे। अतएव ये चार नाम एक ऐसे नूतन धार्मिक मत की प्रस्तावना से सम्बद्ध थे, जो अनीश्वरवादी नहीं था तथा जो धर्म एवं अहिंसा से सम्बन्धित था। धर्म को इन चारों का पिता तथा अहिंसा को उनकी माता कहे जाने का यही तात्पर्य प्रतीत होता है। नर

एवं नारायण को यदा कदा 'ऋषि' कहा गया है एवं इस बात को नारायण को पुरुष सूक्त का ऋषि मानने वाली धारणा में खोजा जा सकता है।

महाभारत की रचना के समय ये देवता अत्यधिक प्रसिद्ध रहे होंगे, क्योंकि विभिन्न पर्वों के प्रथम चरण में इन दोनों (नर और नारायण) की वन्दना की गई है। वनपर्व (१२,४६,४७) में जनार्दन अर्जुन से कहते हैं कि "हे अजेय, तूँ नर और मैं नारायण हूँ तथा हम दोनों नर-नारायण ऋषि इस जगत् में उचित समय पर आये हैं; हे पार्थ, तू मुझसे पृथक् नहीं है और मैं तुझसे पृथक् नहीं हूँ; हमारे मध्य कोई भेद सम्भव नहीं है। इसी पर्व (३०,१) में शिव अर्जुन से कहते हैं "पूर्वजन्म में तू नर था तथा अपने साथी नारायण सहित तूने सहस्रों वर्षों तक बदरी में तप किया था"। उद्योग पर्व (४९,१९) में कहा गया है कि दोनों वीर "वासुदेव एवं अर्जुन, प्राचीन नर-नारायण देव हैं, ऐसी अनुश्रुति है।" नर एवं नारायण से अर्जुन एवं वासुदेव के तादात्म्य के बहुत सारे उदाहरण हैं। इस प्रकार दोनों ऋषियों की परम्परा को भगवद्गीता के दो संवाद-कर्ताओं से सम्बद्ध कर दिया गया।

विष्णु से वासुदेव का तादात्म्य

विष्णु वैदिक देव हैं। यद्यपि ऋग्वेद में उनकी स्तुति कुछ ही सूक्तों में की गई है परन्तु उनका व्यक्तित्व किसी भी रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके विस्तीर्ण पदन्यास तथा तीन चरण जिनसे उन्होंने समस्त लोकों को माप लिया, सदैव बड़े ही उत्साह के साथ वर्णित हैं। उनके प्रथम दो चरणों को मनुष्य देख सकते हैं या उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु तृतीय का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है। यह पक्षियों की उड़ान से भी परे है (ऋग्वेद १,१५५,५)। विद्वान् (सूरयः) ही स्वर्ग में टकटकी लगाकर विष्णु के परमपद को देख सकते हैं (ऋग्वेद १,२२,२०)। विष्णु के परमपद में मधु का उत्स है, जहाँ पर देवगण आनन्द प्राप्त करते हैं (ऋग्वेद १,१५४,५)। विष्णु इन्द्र के सखा एवं सहायक प्रतीत होते हैं।

ऋग्वेद में अपेक्षाकृत गौण स्थिति होने पर भी विष्णु ब्राह्मण-काल में महत्त्व को प्राप्त होने लगे थे तथा महाकाव्य एवं पुराण काल के समय वे परमेश्वर के पद पर पहुँच गये थे। तृतीय चरण अथवा परमपद, जो सबकी पहुँच के परे है, के प्रति सम्मान की भावना ने विष्णु के उत्कर्ष में योग दिया। ब्राह्मण काल में अग्नि का उल्लेख सबसे छोटे देवता के रूप में तथा विष्णु का सर्वोच्च देव-रूप में प्राप्त होता है (ऐ० ब्रा० १,१)। शपथ ब्राह्मण और तैत्तरीय आरण्यक में तेज, ऐश्वर्य एवं अन्न प्राप्ति के निमित्त देवों द्वारा आयोजित एक यज्ञ की कथा मिलती है। देवों ने आपस में यह प्रस्ताव किया कि उनके बीच जो अपने कर्म से सर्वप्रथम यज्ञ के अन्त को प्राप्त कर ले, वह सर्वोच्च पद प्राप्त करे। विष्णुने सबसे पहले अन्त को प्राप्त कर लिया और

वे देवों में श्रेष्ठ हो गये। अतः कहा जाता है कि विष्णु देवों में श्रेष्ठ देव हैं (श० ब्रा० १४,१,१)। इस कथा के लिखे जाने के पूर्व ही विष्णु परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर चुके थे तथा यह कथा इसी ऐश्वर्य के वर्णन के निमित्त आविष्कृत हुई। इसी ब्राह्मण (१,२,५) में पुनः वामन विष्णु की कथा है। देव एवं असुर जब यज्ञ में भाग प्राप्त करने के लिए परस्पर युद्ध कर रहे थे तब असुर इस बात पर सहमत हो गये कि वे देवों को वामन के आकार के बराबर भूमि देने को तैयार हैं। इस पर विष्णु को लिटाया गया। शनैःशनैः विष्णु इतने बढ़ गये कि उन्होंने समस्त पृथ्वी को आच्छादित कर लिया और देवों को सारी पृथ्वी प्राप्त हो गई। इस कथा में विष्णु को अद्भुत शक्ति से संपन्न कर दिया गया है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वे परमात्मा रहे हों। मैत्री उपनिषद् (६,१३) में अन्न को, जगत् के धारक भगवान् विष्णु का स्वरूप कहा गया है। कठ उपनिषद् (३, ९) में जीवात्मा के उत्कर्ष की तुलना यात्रा से की गई है, जिसके अन्त में विष्णु का परमपद प्राप्त होता है। यही अन्तिम लक्ष्य तथा शाश्वत आनन्द का आलय है। विष्णु परमसत्ता के गौरव को प्राप्त कर सके इसका कारण यह है कि इस शब्द में इस प्रकार के अर्थ देने की शक्ति है। कुछ समय उपरान्त विष्णु गृह-देवता भी हो गये। विवाह-संस्कार की सप्त-पदी विधि में वर वधू से अपना चरण आगे को रखते समय कहता है, "विष्णु तुम्हारे साथ हों"। यह सूत्र आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् एवं पारस्पर गृह्य सूत्रों में प्राप्त होता है। परन्तु यह आश्वलायन गृह्यसूत्र में नहीं है। महाकाव्य-काल तक विष्णु हर दृष्टि से परमात्मा की कोटि पर पहुँच गये और विष्णु से वासुदेव का तादात्म्य हो गया। पूर्वोल्लिखित भीष्म-पर्व के अध्याय ६५ और ६६ में परमात्मा को नारायण एवं विष्णु कहा गया है तथा वासुदेव से उसका एकत्व प्रतिपादित किया गया है।

अश्वमेधिक पर्व (अध्याय ५३-५५) के अनुगीता खण्ड में द्वारका से लौटते समय कृष्ण मार्ग में भृगुवंश के उट्टंक नामक ऋषि से मिलते हैं। ऋषि कृष्ण से पूछते हैं कि क्या आपने अपने कलहरत सम्बन्धी कुरु एवं पाण्डवों में शान्ति स्थापित कर दी है तथा उनके मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं ? कृष्ण कहते हैं कि कुरुओं का विनाश हो चुका है तथा पाण्डव साम्राज्य पर अधिरूढ़ हैं। तब ऋषि क्रुद्ध होकर बोले कि मैं आपको शाप दूँगा, परन्तु यदि आप मुझे अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दें तो मैं शाप देने से विरत हो जाऊँगा। उट्टंक की प्रार्थना पर कृष्ण ने अध्यात्म-ज्ञान की शिक्षा दी तथा उन्हें अपना विराट् स्वरूप दिखलाया। यह वही स्वरूप है या उससे मिलता-जुलता है, जो भगवद्गीता में अर्जुन को दिखलाया गया है। किन्तु यहाँ पर उसे वैष्णव रूप कहा गया है, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार भगवद्-गीता तथा अनुगीता के काल के मध्य विष्णु एवं वासुदेव-कृष्ण का एकत्व मान्य हो चुका था। शान्तिपर्व (अध्याय ४३) में युधिष्ठिर कृष्ण की स्तुति में एक श्लोक का गान करते हैं, जिसमें कृष्ण को विष्णु माना गया है। महाकाव्य-

काल में विष्णु को परमात्मा माना गया था परन्तु नारायण एवं वासुदेव-कृष्ण नाम अधिकता से प्राप्त होते हैं।

महाभारत के कई स्थलों में ऐसी भी स्थिति मिलती है, जिसमें वासुदेव कृष्ण के देवत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। अनुगीता के उपर्युक्त प्रसङ्ग में उट्टङ्क कृष्ण को शाप देने को तैयार हैं जैसे कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति हों, और वे शाप देने से तभी विरत होते हैं जब कि उन्हें विराट् स्वरूप का दर्शन कराया जाता है। इसी प्रकार मूर (ओ० एस० टी० ४, पृ० २०५) द्वारा उल्लिखित अनेक स्थलों में कृष्ण के देवत्त्व को अस्वीकृत किया गया है। सञ्जय तथा भीष्म को इसे प्रतिष्ठापित करने के निमित्त बहुत प्रयत्न करना पड़ा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव धर्म, जिसमें वासुदेव को दैवी पद प्रदान किया गया, सात्वतों द्वारा प्रचारित हुआ था। देश की अन्य जातियों एवं लोगों के बीच इस धर्म के क्रमिक प्रसार पर महाकाव्य के इन अंशों से प्रकाश पड़ता है। पौराणिक-काल में वासुदेव मत प्रबल नहीं रह गया। उस काल में धार्मिक चिन्तन की तीन धाराएँ परस्पर मिलकर एक हो गईं—पहली, जिसके मूलमें वैदिक विष्णु थे; दूसरी, जो विराट् नारायण से विनिःसृत हुई तथा तीसरी, जो ऐतिहासिक देव वासुदेव से निकली। इस प्रकार उत्तरकालीन वैष्णव मत का निर्माण हुआ। इनके अतिरिक्त एक चौथी धारा भी है, जिसने उत्तर-कालीन कुछ वैष्णव सम्प्रदायों में प्राधानता प्राप्त कर ली। अब हम उसकी समीक्षा आरम्भ करते हैं।

गोपाल-कृष्ण से वासुदेव का तादात्म्य

अब तक हमने जिन प्रमाणों को उद्धृत किया है, उनमें गोपाल कृष्ण का उल्लेख नहीं है। अभिलेखों, पतञ्जलि के महाभाष्य एवं नारायणीय में भी ऐसे किसी देव की स्थिति का ज्ञान नहीं होता। नारायणीय में वासुदेव-अवतार का उल्लेख कंस-वध के लिए हुआ है, न कि गोकुल में दैत्यों के वध के लिए। किन्तु हरिवंश (श्लोक ५८७६-५८७८), वायुपुराण (अध्याय ९८, श्लोक १००-१०२) एवं भागवत-पुराण (२, ७) में गोकुल के समस्त दैत्यों एवं कंस के नाश के लिये कृष्ण के अवतार लेने का वर्णन है। यह अन्तर महत्त्वपूर्ण है। जब ये ग्रन्थ लिखे गये थे उस समय तक गोकुल के कृष्ण की कथा प्रचलित हो चुकी होगी तथा वासुदेव से उनका तादात्म्य हो गया होगा। वृष्णि राजपुत्र कृष्ण के गोकुल में पाले जाने की कथा महाभारत में वर्णित उनके उत्तरकालीन जीवन से एकदम मेल नहीं खाती और न महाभारत के किसी अंश से कृष्ण के इस प्रकार के बाल्यकाल की जानकारी ही होती है।

सभापर्व (अध्याय ४१) में कृष्ण की निन्दा करता हुआ शिशुपाल गोकुल में किये गये पूतना-वध आदि कृष्ण के विभिन्न कर्मों का वर्णन करता है तथा भीष्म

द्वारा उन कर्मों की प्रशंसा किये जाने का उल्लेख करता है। परन्तु भीष्म (अध्याय ३८) ने कृष्ण की जो स्तुति की है, उसमें उन कर्मों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतएव यह प्रकरण[1] प्रक्षिप्त है।

गोविन्द नाम भगवद्गीता में तथा महाभारत के अन्य भागों में प्राप्त होता है। यह एक प्राचीन नाम है, जो पाणिनि के सूत्र ३, १, १३८ पर एक वार्तिक से व्युत्पन्न है। यदि यह नाम कृष्ण को गोकुल में बाल्यावस्था में गायों के साथ सम्बन्ध होने के कारण दिया गया होता तथा यदि महाभारत के अप्रक्षिप्त अंशों के लिखे जाने के समय कृष्ण के गोकुल वाले इतिवृत्त का ज्ञान होता तो हमें इस नाम की इस आशय की व्युत्पत्ति प्राप्त हुई होती। इसके विपरीत आदि-पर्व (अध्याय २१, १२) में यह कहा गया है कि कृष्ण इसलिए गोविन्द कहलाते हैं कि उन्होंने वराह के रूप में पृथ्वी को (गां) जल में पाया था (विन्दति)। शान्ति-पर्व (अध्याय ३४२, ७०) में वासुदेव कहते हैं, "देवगण मुझे गोविन्द कहते हैं, क्योंकि पूर्वकाल में मैंने लुप्त एवं गुहागत

---

१. महाभारत के दक्षिणी संस्करण में अनेक प्रक्षेप हैं! नारायणीय के उत्तरी संस्करण का अध्याय ३३८ दक्षिणी संस्करण का अध्याण ३४४ है। नारायणीय के दक्षिणी संस्करण में ६ ऐसे श्लोक हैं, जो उत्तरी संस्करण में नहीं हैं। उनमें जीवित पशुओं के स्थान में आटा से बने हुए पशुओं की बलि देने का वर्णन है। यह उत्तर-कालीन सिद्धांत है, जिसका प्रबल समर्थन माध्व वैष्णवों ने किया किन्तु स्मार्तों ने उतनी ही दृढ़ता के साथ विरोध किया। सभापर्व (अ० २२, श्लोक २७—३६) में वर्णित कृष्ण की गोकुल में की गयी लीलायें दक्षिणी संस्करण में हैं, किन्तु उत्तरी में नहीं। दक्षिणी का अध्याय २३, जिसमें कृष्ण के जन्म और गोकुल ले जाने का वृत्तान्त है, उत्तरी में नहीं है। दक्षिणी संस्करण के अध्याय २४, श्लोक ४—५ में यह वर्णन है कि जरासन्ध ने कृष्ण के साथ युद्ध करना स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे गोप थे। यह अध्याय उत्तरी संस्करण का अध्याय २३ है, जिसमें ऐसा वर्णन नहीं मिलता। दक्षिणी संस्करण के अध्याय ३३ और ३४ उत्तरी में नहीं हैं। प्रथम में पाण्ड्यदेश में सहदेव के अभियान का और दूसरे में घटोत्कच के लंका भेजे जाने तथा विभीषण द्वारा कृष्ण के प्रति सम्मान व्यक्त करने का वर्णन है। दक्षिणी संस्करण के अध्याय ३९ (जो उत्तरी में अध्याय ३६ है) में एक प्रक्षिप्त अंश में कृष्ण की पूजा को एक गोप की पूजा कह कर उपहास किया है। उत्तरी संस्करण में यह अंश नहीं है। दक्षिणी संस्करण के अध्याय ४२-६१ उत्तरी संस्करण में नहीं हैं। उनमें विष्णु के अवतारों और गोकुल में उनकी लीलाओं का उल्लेख है। दक्षिणी संस्करण का अध्याय ६४ उत्तरी में ४१ है। इस प्रकार महाभारत में कही हुई कथाओं को प्रक्षेपों द्वारा नया कलेवर प्रदान करने का प्रयत्न बराबर चलता रहा है। अतएव ऊपर उद्धृत अंश स्पष्टतः प्रक्षेप है।

पृथ्वी को प्राप्त किया था"। गोविन्द नाम की उत्पत्ति इस अख्यान में खोजी जा सकती है। परन्तु अधिक संभव यह है कि 'गोविन्द' ऋग्वेद में गायों को पालने वाले अर्थ में इन्द्र के विशेषण 'गोविद्' शब्द का परिवर्तित रूप है। इन्द्र की ही एक अन्य उपाधि केशिनिषूदन की ही भाँति यह विशेषण (गोविद्) भी, जब कृष्ण प्रधान देव के रूप में माने जाने लगे होंगे, उस समय वासुदेव-कृष्ण के लिए अपना लिया गया होगा।

इससे यह प्रतीत होता है कि गोकुल में कृष्ण के बाल्यकाल की कथा का विकास ईसवीय शतक के प्रारम्भ तक नहीं हुआ था। हरिवंश में, जो इसका प्रधान साक्ष्य है, 'दीनार' (लैटिन डिनेरियस) शब्द प्राप्त होता है। अतः हरिवंश तृतीय शतक ईसवीय के लगभग लिखा गया होगा। उसके कुछ पूर्व कृष्ण के बाल्यकाल की कथाएँ प्रचलित हो चुकी होंगी। अपने प्रतिपालक पिता नन्द से इन्द्र-महोत्सव के स्थान पर गोवर्धन-पर्वत की पूजा करने के निमित्त कहे गये बालक कृष्ण के शब्दों से गोपालों की जाति का परिचय प्राप्त होता है। वे कहते हैं, "हम गोपालक हैं, वनों में विचरते हैं, गायों पर जीवन-यापन करते हैं, वे ही हमारी संपदा हैं, गौ, पर्वत एवं वन हमारे देव हैं" (ह० ३८०८)। गोपालक घोषों में रहते थे जिन्हें सरलता से एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता था, जैसा कि गोपों ने व्रज छोड़ा तथा वृन्दावन में जा बसे (ह० ३५३२)। घोष को आभीरपल्ली कहा गया है, जिसे सामान्यतया ग्वालों का बाड़ा समझा जाता है। परन्तु 'आभीर' शब्द का मूल अर्थ गोपाल नहीं है। यह एक ऐसी जाति का नाम है, जिसका मूल पेशा गो-पालन था और इसके फलस्वरूप 'आभीर' नाम आगे चलकर 'गोपालक' का समानार्थक बन गया। अतः गोपालक, जिनके बीच बलदेव और कृष्ण रहते थे, आभीर नामक पशु चराने वाली जाति के थे। ये आभीर मथुरा के समीपवर्ती मधुवन से लेकर द्वारका के आस-पास के अनूप या आनर्त तक विस्तृत क्षेत्र में बसे थे (ह० ५१६१-५१६३)। महाभारत में बतलाया गया है कि वृष्णियों के विनाश के सद्यः उपरान्त जब अर्जुन उनकी स्त्रियों को द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे उस समय आभीरों ने उन पर आक्रमण कर दिया था। उन्हें 'दस्यु' एवं 'म्लेच्छ' कहा गया है। वे 'पञ्चनद (जो कि संभवतः पञ्जाब है) के समीप रहते थे। विष्णु-पुराण ने उनकी स्थिति अपरान्त (कोंकण) तथा सौराष्ट्र के समीप बतलाई है। वराह-मिहिर ने भी उनकी स्थिति लगभग यही निर्धारित की है। उन्हें दाक्षिणापथ (वृ० सं० १४,१२) तथा नैर्ऋत्य दिशा का निवासी कहा गया है (वृ० सं० १४,१८)। आभीर लोग बड़े-बड़े झुण्डों में आकर इस प्रदेश में बस गये होंगे। पहले वे यायावर थे। बाद में वे लगभग पञ्जाब की पूर्वी सीमा से लेकर मथुरा के समीप तक, दक्षिण में सौराष्ट्र या काठियावाड़ तक अर्थात् राजपूताना तथा उससे पश्चिमोत्तर के समस्त क्षेत्र पर बस गये। बस जाने पर उन्होंने विभिन्न व्यवसाय अपनाये, जिनमें एक तो पुराना व्यवसाय अर्थात् गोपालन ही था। प्राचीन आभीरों

के वंशजों को आजकल 'अहीर' कहा जाता है तथा आजकल तो अहीर लोग बढ़ईगीरी, सुनारी, ग्वाले तथा पुरोहितों तक के व्यवसाय करते हुए पाये जाते हैं। एक समय उन्होंने महाराष्ट्र के उत्तरी भाग में एक राज्य स्थापित किया था। नासिक में आभीर शिवदत्त के पुत्र आभीर नरेश ईश्वरसेन के राज्यकाल के नवें वर्ष का एक अभिलेख भी प्राप्त हुआ है[1]। अक्षरों के स्वरूप से यह अभिलेख संभवतः तीसरी सदी ईसवीय के अन्तिम भाग का प्रतीत होता है। पुराणों में दस राजाओं वाले एक आभीर-वंश का उल्लेख किया गया है[2]। इससे पूर्व का एक अन्य अभिलेख काठियावाड़[3] में गुण्डा में मिला है जिसमें सेनापति रुद्रभूति, जिसे 'आभीर' कहा गया है, के दानों का उल्लेख है। यह अभिलेख रुद्रसिंह नामक क्षत्रप के राज्यकाल का है, जो शक संवत् १०२ (१८० ई०) में शासनारूढ़ था। यदि द्वितीय शताब्दी ई० के अन्त तथा तृतीय शताब्दी में आभीर उच्च राजनैतिक स्थिति प्राप्त कर चुके थे, तो वे इस देश में प्रथम शतक में ही बस चुके होंगे। संभवतः वे अपने साथ बालक (कृष्ण) की पूजा, उनके साधारण जन्म, उनके पिता का यह ज्ञान कि वे उनके पुत्र नहीं है एवं अबोध शिशुओं की हत्या की कथायें अपने साथ लाये थे। नन्द को यह ज्ञात था कि वे कृष्ण के पिता नहीं हैं तथा कंस शिशुओं का वध कर देता था। जंगली गर्दभ के रूप में धेनुकासुर[4] के वध जैसी कृष्ण के बाल्य-काल की कथाएँ आभीर अपने साथ लाये तथा अन्य कथाएँ उनके भारत में आने के बाद विकसित हुई। यह भी संभव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी लाये हों और इस नाम के कारण गोपाल का वासुदेव कृष्ण से तादात्म्य हुआ हो। गोवावासी तथा बङ्गाली लोग 'कृष्ण' नाम का उच्चारण प्रायः कुष्टो या क्रिष्टो करते हैं अतएव आभीरों के क्राइस्ट संस्कृत के कृष्ण बन गये होंगे। गोपियों के साथ कृष्ण की लीला के प्रचार से वासुदेव-मत में सदाचार विरोधी तत्त्व आ गये। यह यायावर आभीरों एवं उनके अधिक सभ्य आर्य पड़ोसियों के उन्मुक्त संसर्ग का परिणाम था। उस समय उन जातियों से, जिनकी अवस्था आभीरों जैसी थी, उच्च या नियन्त्रित आचरण की आशा नहीं की जा सकती थी, इससे उनके विलासी पड़ोसियों ने उनके शिथिल आचरण का लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त आजकल की तरह आभीर-रमणियाँ गौरवर्ण तथा सुन्दर भी रही होंगीं।

बौद्ध घटजातक की कथा में वासुदेव तथा उनके भाइयों को, कंस की भगिनी देवगब्भा तथा उपसागर का पुत्र बतलाया गया है। वे अन्धकवेण्हु नामक एक

---

१. लूडर की 'लिस्ट ऑव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, सं० ११३७

२. द्रष्टव्य - वायु-पुराण भाग २ अध्याय ३७ पृ० ४३३ (बि० इ०)

३. लूडर की 'लिस्ट ऑव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स', सं० ९६३

४. जे० आर० ए० एस०, १९०७, पृ० ९८१

पुरुष तथा उसकी पत्नी नन्दगोपा को (जो कि देवगब्भा की दासी थी) सौंप दिये गये थे। इस कथा में देवगब्भा नाम देवकी का स्मरण कराता है। इसमें नन्द एवं यशोदा या गोकुल की गोपा को मिला कर दासी का नाम नन्दगोपा रख दिया गया है, जिसने देवगब्भा के पुत्र को अपने पुत्र की तरह पाला था। अन्धकवेण्हु में दो सगोत्र यादव जातियों के नामों अन्धक और वृष्णि का समास कर दिया गया है, जो दासी के पति का नाम बन गया है। चूंकि प्रामाणिक साक्ष्यों के अनुसार अन्धक और वृष्णि दो भिन्न जातियों के नाम थे अतएव इस कथा में वास्तविक कथानक की स्मृति मात्र अवशिष्ट है तथा यह कथा बाद में विकसित हुई है। समस्त जातक साहित्य एक ही समय में नहीं लिखा गया। कुछ जातक ईसवा पूर्व के हैं, तथा अन्य बाद के। घटजातक मुझे दूसरे वर्ग का जातक प्रतीत होता है। अतः 'नन्द-गोपा' समास में यद्यपि बालक कृष्ण के प्रतिपालक माता पिता की स्पष्ट झलक विद्यमान है, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ईसवी संवत् के पूर्व गोपाल कृष्ण का वासुदेव के साथ एकीकरण हो गया था।

पांचरात्र या भागवत मत

इस प्रकार हमने उत्तरकालीन वैष्णव-धर्म के संगठन में सहायक अन्तिम तत्त्व की समीक्षा की। परन्तु यह तत्त्व प्राचीन पाञ्चरात्र सिद्धान्तों पर आधारित मतों का प्रधान अङ्ग नहीं है। एकान्तिक धर्म वह धर्म था जिसका प्रवर्तन भगवद्गीता ने किया था। परन्तु पाञ्चरात्र मत, जिसमें वासुदेव एवं उनके अन्य स्वरूपों की पूजा है, गीता का अंग नहीं है यद्यपि भक्ति दोनों में है। पांचरात्र-मत ई० पू० तृतीय शतक के लगभग विकसित हो चुका होगा, जैसा कि अभिलेखों तथा पूर्व उद्धृत ग्रन्थों के प्रकरण में देख आये हैं। इस प्रकार उनके गोपाल कृष्ण-तत्त्व से मुक्त होने की बात समझ में आ जाती है। रामानुज तथा माध्व के अर्वाचीन वैष्णव मतों ने न्यूनाधिक रूपों में प्राचीन भागवत सिद्धान्तों को मान्यता दी है किन्तु इस गोपाल-कृष्ण तत्त्व की पूर्णरूपेण अपेक्षा कर दी। अन्य मतों तथा सामान्यतया लोकप्रिय वैष्णव धर्म में इस तत्त्व को स्वीकार किया गया है। भागवतमत के आधार ग्रन्थ पांचरात्र संहिताएँ हैं। ब्रह्मसूत्र २,२,३९-४२ पर अपने भाष्य में रामानुज ने इनमें से कुछ संहिताओं से उद्धरण भी दिये हैं। प्रथम उद्धरण पुरस्कार-संहिता से है, जिसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण लोग पारम्परिक नामों द्वारा चतुर्विध आत्मा की उपासना करते हैं, अतएव इसे प्रामाणिक माना जाना चाहिए। दूसरा उद्धरण सात्वत-संहिता से है, जो इस आशय का है कि इस महाशास्त्र में ब्रह्म का रहस्य विद्यमान है तथा यह वासुदेव नामधारी सत्य ब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों को विवेक प्रदान करता है। दो उद्धरण परम-संहिता से हैं। इनमें से एक उद्धरण में प्रकृति का स्वरूप बतलाया गया है कि वह जड़, परोपभोगार्थ, नित्य, सदा परिणामिनी एवं त्रिगुणात्मिका है।

वह है, जिसमें कर्ताओं के कर्म सम्पादित होते हैं। दूसरे उद्धरण में किसी व्यक्ति [illegible] स्वयं शाण्डिल्य को यह कहते हुए बतलाया है कि उन्होंने वेदाङ्ग एवं वाकोवाक्य-सहित समस्त वेदों का अध्ययन किया है परन्तु उनमें परमानन्द-प्राप्ति का मार्ग प्राप्त नहीं हुआ। इनमें से सात्वतसंहिता नाम की एक संहिता मुद्रित हो चुकी है। इसका प्रारम्भ इस कथन से होता है कि नारद ने मलयाचल पर परशुराम को देखा। परशुराम ने नारद से कहा कि उन ऋषियों के यहाँ जाओ जो हरि के पद की खोज कर रहे हैं, और उनको सात्वत-मार्ग का उपदेश दो। नारद ने ऐसा ही किया और उन ऋषियों को गुह्य आम्नाय का उपदेश दिया। यहाँ पर नारायण को परमात्मा बतलाया गया है। पूर्वकाल में संकर्षण द्वारा प्रश्न किये जाने पर चक्रधारी ने गुह्य आम्नाय का उपदेश दिया था। त्रेतायुग आदि में संकर्षण ने विष्णु से यह प्रश्न किया था कि उनका मुख रक्त क्यों हो गया है? उत्तर में विष्णु ने कहा कि 'लोग इस युग में रागाभिभूत हो जायेंगे।' संकर्षण के यह प्रश्न किये जाने पर कि राग से उनकी मुक्ति कैसे होगी, यह बतलाया है कि अनेक प्रकार से नित्य एवं परम ब्रह्म की उपासना करने पर उनकी मुक्ति होगी। परमात्मा, जिसके कर, चरण एवं नेत्र सर्वत्र हैं तथा जो षड्गुण-विभूषित है [illegible] परे है। यह एक है तथा सर्वभूताश्रय है। इस परमात्मा के अतिरिक्त एक त्रिक है, जि[illegible]में प्रत्येक ज्ञान एवं अन्य गुणों के भेद से एक दूसरे से पृथक् हैं। इन तीनों को '[illegible]' सम[illegible]ना चाहिए, जो सरलता से वाञ्छित फल प्रदान करते हैं। तदनन्तर संकर्षण [illegible] [illegible]जा-वि[illegible]नों के बारे में प्रश्न किया। भगवान् ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया :—"[illegible] वासुदेवोपासक ब्राह्मणों के हृदय में ब्रह्म स्थित होता है, जो सृष्टि का लक्ष्य ए[illegible]न्त है, तब संसार से तारने के लिए ब्रह्म से महोपनिषद् (उत्तम शास्त्र) प्रकट होता है एवं विवेक प्रदान करता है। इसमें दैवी-उपाय रहते हैं तथा इसका अन्तिम फल मोक्ष[1] है। अब मैं तुम्हें उसका उपदेश दूँगा जो कि विविध है। यह रहस्ययुक्त शास्त्र उन लोगों के लिए फल-प्रद है जो कि अष्टाङ्गिक योग का अभ्यास कर चुके हैं तथा जिनकी आत्मा मानसिक यज्ञ में अनुरक्त है। वेदनियन्त्रित ब्राह्मण योगी, जिन्होंने मिश्रित पूजा का परित्याग कर दिया है, हृदय में रहनेवाले ईश्वर की पूजा के अधिकारी हैं। जहां तक चार व्यूहों के संस्कारों और विभवों की क्रिया और मन्त्रों का सम्बन्ध है[2], क्षत्रियादिक तीन वर्ण तथा वे जो कि प्रपन्न हैं मन्त्रों के साथ अथवा मन्त्रों के बिना चार व्यूहों के पूजा के अधिकारी हैं। इन समस्त व्यक्तियों को निःसङ्ग तथा अपने-अपने कर्तव्यों के संपादन में दत्तचित होना चाहिए। इन्हें मन, वचन और कर्म से परमेश्वर का भक्त होना चाहिए। इस प्रकार चारों वर्ण यदि मन्त्रों द्वारा दीक्षित हैं तो वे अधिकारी हो जाते हैं। अब एक स्वरूप से सम्बन्धित क्रिया को सुनो।" इसके बाद रहस्यमय अक्षरों के उपन्यास, मन्त्रों एवं

---

१. **इनमें से दो पंक्तियाँ ऊपर दिये गये रामानुज के उद्धरण में मिलती हैं।**

२. **विभव परमात्मा के अवतार हैं।**

समाधि के विषय में वर्णन होता है। इस कृति में आदि से अन्त तक मन्त्रों सौंप दिये प्रकार से विन्यास तथा पूजा की रहस्यमय विधियाँ विद्यमान हैं। इस बा नन्द एवं संभावना है कि भीष्मपर्व के अध्याय ६६ के अन्त में संकर्षण द्वारा सात्वत-विधि के अनुसार वासुदेव की स्तुति करने में उन विधानों की ओर संकेत है, जिनका सात्वत-संहिता में विस्तार से वर्णन है।

ब्रह्मसूत्र २, २, ४२ पर अपनी टीका में भागवत-संप्रदाय का उल्लेख करते हुए शङ्कराचार्य ने चतुर्मूर्ति परमेश्वर भगवान् वासुदेव की पूजा की पाँच विधियाँ बतलाई हैं जो टीकाकारों द्वारा दी गई व्याख्याओं के साथ इस प्रकार हैं : (१) अभिगमन—मन, वचन एवं शरीर को भगवान् पर केन्द्रित करके मन्दिर में जाना, (२) उपादान—पूजा-सामग्री को एकत्रित करना, (३) इज्या—पूजा, (४) स्वाध्याय—प्रचलित मन्त्र का जप, तथा (५) योग—समाधि। १०० वर्षों तक इन विधियों से पूजा करने पर समस्त पापों का नाश हो जाता है तथा भक्त भगवान् को प्राप्त करता है।

एशियाटिक सोसायटी, बङ्गाल द्वारा प्रकाशित नारद पांचरात्र नामक ग्रन्थ में ज्ञानामृतसार नाम की एक संहिता प्राप्त होती है। इस कृति में बाल कृष्ण का यशोगान किया गया है। कृष्ण की महिमा तथा उनकी पूजा-विधि के ज्ञान की कामना होने पर नारद को शिव के समीप जाने तथा उनसे उपदेश प्राप्त करने का कहा गया है। नारद कैलाश पहुँचते हैं; शङ्कर के प्रासाद में प्रविष्ट होते हैं जिसमें सात द्वार हैं। इन द्वारों पर कृष्ण के बाल्य-काल तथा गोकुल में उनके द्वारा की गयी विभिन्न लीलाओं के चित्र और शिल्प थे, जैसे वृन्दावन, यमुना नदी, गोपियों के वस्त्रों को लेकर कृष्ण का कदम्बवृक्ष पर बैठना एवं नग्नावस्था में गोपियों का यमुना से बाहर निकालना, कालियनाग का नाश, अपने हाथ पर गोवर्धन पर्वत को धारण करना, मथुरा की यात्रा, गोपियों एवं प्रतिपालक माता-पिता का रुदन आदि। लगभग दो वर्ष पूर्व जोधपुर के समीप मन्दोर में खुदाई में प्राप्त एक स्तम्भ पर इनमें से कुछ वृत्तान्तों का अङ्कन पाया गया था। यह स्तम्भ चौथी शताब्दी इसवी के पहले का नहीं है। शिव मंदिर के द्वारों पर इस प्रकार के शिल्पों की कल्पना का विचार उपर्युक्त ग्रंथ के लेखक को तभी आया होगा जब द्वारों एवं स्तम्भों को इस प्रकार के शिल्पों से अलङ्कृत करने की परिपाटी चल पड़ी होगी। अतएव ज्ञानामृतसार चतुर्थ शतक ई० से पूर्व की नहीं होगी। मुझे तो यह काफी बाद की मालूम पड़ती है, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा। इस ग्रन्थ में ऐसे अनेक मन्त्र दिये गये हैं जिनके जपने से गोलोक की प्राप्ति होती है। गोलोक वह स्वर्ग है जहाँ पर कृष्ण निवास करते हैं और जहाँ पर कृष्ण के भजने वाले पहुँचते हैं। इस कृति के अनुसार भक्ति द्वारा

---

१. आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, १९०५-६, पृ० १३५

वह केरि वेव उत्तम मुक्ति है। हरि को भजने के ६ प्रकार हैं—(१) स्मरण, (२) संभूत भिलेश का कीर्तन, (३) प्रणमन, (४) चरणों का सेवन, (५) भक्ति के स उत्तर प्रदेशाजन तथा (६) उनके समक्ष पूर्ण आत्म-निवेदन। भागवत-पुराण में इनके उहैं। इसभजन के तीन प्रकार और बतलाये गये हैं—श्रवण, दास्य तथा सख्य। दो प्रजाथा सख्य पूर्ण आत्मनिवेदन से पहले करना चाहिए। इस पुस्तक में राधा का सर्वोत्तम नारी के रूप में वर्णन है, जिससे कृष्ण प्रेम करते थे। ईश्वर के दो में विभक्त हो जाने से उनकी उत्पत्ति बतलायी गयी है (२, ३, २४)। इस प्रकार राधा का समुत्कर्ष भी इस संहिता का एक मुख्य विषय है।

इस प्रकार ज्ञानामृतसार संहिता का लक्ष्य राधाकृष्ण की पूजा का विस्तार करना है। पाञ्चरात्र संप्रदाय के व्यूह इसमें उल्लिखित नहीं है। कालान्तर में वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित मत ठीक उसी रूप में है, जैसा इस पुस्तक में प्रतिपादित है। अतएव यह संहिता वल्लभ से कुछ ही समय पूर्व अर्थात् १६ वें शतक के प्रारम्भ में लिखी गई होंगी। रामानुजीय इस संहिता अप्रामाणिक को मानते हैं।

विष्णु या नारायण के अवतार

किसी देवता का अवतार और दो देवों के मात्र तादात्म्य दो भिन्न बातें हैं। अवतार में वह देवता, जिसे अवतार माना जाता है, मनुष्य किंवा पशु की तरह भी कार्य करता है। साथ ही उसके पास दैविक शक्तियाँ भी होती हैं। तादात्म्य की कल्पना का अवतार की कल्पना में संक्रमण आसान है। सशरीर व्यक्ति का तादात्म्य उस देवता से किया जाता है जो कि मात्र आत्मा है। अतएव जिस चिन्तन द्वारा वैदिक काल में अग्नि से कुछ देवों का तादात्म्य स्थापित हुआ था, वह अवतारों की इस धारणा में भी कार्यरत रहा है। नारायण या विष्णु के अवतार विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग प्रकार से दिये हैं। नारायणीय के उस प्रकरण में, जिसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है, केवल ६ अवतार बतलाये गये हैं—शूकर, नृसिंह, वामन, भृगुवंशी राम, दशरथि राम तथा कंस के नाश के लिए अवतरित वासुदेव-कृष्ण। थोड़ा आगे चलकर एक दूसरा प्रकरण है जिसमें दस अवतार बतलाए गए हैं तथा उपर्युक्त तालिका के प्रारम्भ में हंस, कूर्म और मत्स्य तथा अन्त में 'कल्कि' और जोड़ दिये गये हैं। कल्कि से पहले होने वाले अवतार को सात्वत अर्थात् वासुदेव-कृष्ण कहा गया है। ऐसा लगता है कि प्रथम अवतरण के इतने समीप स्थित यह दूसरा अवतरण उस समय जोड़ा गया, जब अवतारों की संख्या दस हो चुकी थी। हरिवंश ने प्रथम अवतरण में दिये गये ६ अवतारों का उल्लेख किया है। वायु पुराण में अवतारों का दो स्थलों में वर्णन है (अध्याय ९७, श्लोक ७२ और आगे, अध्याय ९८ श्लोक ६३)। पहले में बारह अवतार बतलाये गये हैं, जिनमें कुछ तो शिव और इन्द्र के अवतार मालूम पड़ते हैं। दूसरे में अवतारों की संख्या दस है, जो उस समय प्रचलित हो चुकी थी।

इनमें उपर्युक्त ६ अवतारों में दत्तात्रेय, वेदव्यास, कल्कि तथस्य भमन्त्रों सौंप दिये है, जिसका नामोल्लेख नहीं किया गया, केवल पञ्चम कह कर एवं स बा नन्द एवं वाराह-पुराण में उपर्युल्लिखित ६ अवतारों के अलावा, मत्स्यरंतर सात्वत-विधि के प्रकार दस अवतार मिलते हैं, जिन्हें आगे चलकर स्वीकार रिक्त केत है, या था। अग्नि-पुराण में ये ही १० अवतार दिये गये हैं। भागवत-पुराण में तीन भिन्न स्थलों में अवतारों की गणना की गयी है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों का उल्लेख है। द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में १६ अवतार दिये गए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इस पुराण में उल्लिखित अवतारों के अन्दर सनत्कुमार, देवर्षि नारद (जिन्होंने सात्वत मत का प्रचार किया था), कपिल (जिन्होंने आसुरि को सांख्यमत का उपदेश दिया था), दत्तात्रेय (जिन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद को आन्वीक्षिकी का उपदेश दिया तथा यदु एवं हैहय को योग द्वारा सिद्धि प्राप्त करायी थी, ऋषभ (नाभि एवं मेरुदेवी के पुत्र, जिन्होंने समस्त विषयों का सङ्ग त्याग दिया, चित्तनैर्मल्य प्राप्त किया तथा समस्त भूतों को समभाव से देखते हुए एवं योगशक्ति से सम्पन्न होकर इस प्रकार आचरण किया जैसे कि वे एक निर्जीव प्राणी हों) तथा अन्त में आयुर्वेद के आचार्य धनवन्तंरि—ये सभी आते हैं। यहाँ पर बतलाये गये कुल एवं अन्य लक्षणों से ऋषभ स्पष्ट रूप से जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर ही प्रतीत होते हैं। संभवतः उन्हें बौद्धों के बुद्ध के ही समान अवतार की महत्ता प्रदान कर दी गयी है। दत्तात्रेय, जिनकी पूजा अब भी बड़ी संख्या में लोगों द्वारा की जाती है, तथा राम, जिनके विषय में और अधिक आगे चल कर कहा जायगा, को छोड़कर इनमें से किसी भी अवतार की पूजा बहुत व्यापक नहीं है। कृष्ण यद्यपि अवतारों में अन्तर्भूत हैं, किन्तु उनका स्वतन्त्र्य स्थान है। उनकी पूजा सबसे अधिक व्यापक है। इसका कारण उनका अवतार होना नहीं है। इसका कारण यह है कि वे एक नवीन धर्म या धर्म सुधार (जैसा कि इसे कहने का मैंने साहस किया है तथा जो सर्वप्रथम सत्वतों में उदित हुआ) के अनुयायियों के उपास्य बन गये थे।

उत्तरकालीन भागवत-मत और वैष्णवधर्म

अब हम काल-क्रम सम्बन्धी उस सूत्र को पुनः पकड़ रहे हैं, जिसे हम मेगस्थनीज से नानाघाट के अभिलेख (ई० पू० प्रथम शतक) तक ले आये थे। इसके उपरान्त लगभग चार सौ वर्षों तक ब्राह्मण धर्म के किसी भी सम्प्रदाय का अभिलेख या शिल्प सम्बन्धी कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। ये प्रमाण उस समय के लगभग पुनः प्राप्त होते हैं जब कि चतुर्थ शतक के प्रथम भाग में गुप्तों की शक्ति का उदय हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त एवं स्कन्द गुप्त, इन गुप्त राजाओं को इनकी मुद्राओं में 'परमभागवत' उपाधि दी गई है। इस प्रकार वे भगवान् अर्थात् वासुदेव के उपासक थे। इनकी तिथियां ४०० ई० से लेकर ४६४ ई० तक पड़ती हैं।

वह केगि के एक पार्श्व पर चतुर्भुज देव की एक प्रतिमा है, जो संभवतः विष्णु की है। संभूत अभिलेख में ८२ गुप्त संवत् अर्थात् ४०० ई० दिया हुआ है।[१]

उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में भितरी में एक स्तम्भ है, जिस पर एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें स्कन्दगुप्त (४५४-६४ ई०) द्वारा शार्ङ्गिन् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा तथा इसकी पूजा के निमित्त एक ग्रामदान का उल्लेख है। शार्ङ्गी वासुदेव-कृष्ण होने चाहिए, क्योंकि स्कन्दगुप्त स्वयं भागवत था।[२]

स्कन्दगुप्त द्वारा सौराष्ट्र या काठियावाड़ के राष्ट्रिय पद पर नियुक्त पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने ४५६ ई० में एक विष्णु मन्दिर बनवाया था। इस बात का उल्लेख करने वाले अभिलेख का आरम्भ विष्णु की वन्दना के साथ हुआ है, जिन्होंने वामन अवतार धारण किया था।[३]

सागर जिला, म० प्र० में एरण के बुधगुप्तकालीन एक अभिलेख में, जिसपर १६५ गुप्ताब्द (४८३ ई०) उत्कीर्ण है, मातृविष्णु तथा उसके अनुज धान्यविष्णु द्वारा भगवान् जनार्दन के सम्मान में एक ध्वजस्तम्भ खड़े कराने की बात कही गई है। मातृविष्णु को अत्यन्त भगवद्-भक्त[४] कहा गया है। अतएव यहाँ पर भगवान् जनार्दन, वासुदेव ही होने चाहिए।

बघेलखण्ड में खोह गांव के पास मिले ४९५ ई० के एक ताम्रपत्र-अभिलेख में जयनाथ नामक एक राजा द्वारा भगवान् के मन्दिर का जीर्णोद्धार तथा पूजा के लिए भगवान् को एक ग्रामदान करने का उल्लेख है।[५]

दिल्ली में कुतुब-मीनार के पास एक लौह-स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख स्तम्भ का ध्वज रूप में वर्णन करता है, जिसे समस्त भूमण्डल के सम्राट् चन्द्र नामक राजा ने बनवाया[६] था।

कालिदास ने अपने मेघदूत (५, १५) में इन्द्रधनुष से विभूषित मेघ की तुलना स्फुरित रुचि वाले मयूर पंख से विभूषित गोपवेशधारी विष्णु से की है। यहाँ पर गोपालकृष्ण का विष्णु से तादात्म्य किया गया है। यदि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त द्वितीय था तो इस उल्लेख को पांचवें शतक के प्रारम्भिक भाग का माना जाना चाहिए।

जोधपुर के निकट मन्दोर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिल्पों का निर्देश हम पहले ही कर चुके हैं। इन शिल्पों में शिशु कृष्ण की शकट लीला, कृष्ण का गोवर्धन धारण तथा इसी तरह की अन्य लीलाओं का अंकन है। मैं उन्हें पञ्चम शतक में रखता हूँ।

---

१. कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम्, इण्डिकेरम्, भाग ३, पृ० ५१
२. वही, पृष्ठ ५२
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ८८
५. वही, पृ० १२१
६. वही, पृ० १३९

शकाब्द ५०० में दक्षिण के आरम्भिक चालुक्यवंशी राजा मंगलेश ने एक गुफा खुदवाई थी, जिसमें एक मन्दिर बनवाया था तथा एक विष्णु-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। नारायणबलि की व्यवस्था एक गाँव की मालगुजारी लगा कर की गयी[1] थी। इस गुफा-मन्दिर में चरण दबाती हुई लक्ष्मी के साथ शेषशायी विष्णु या नारायण, वराह, नरसिंह, एवं हरिहर (जिसमें हरि अर्थात् विष्णु तथा हर अर्थात् शिव के विशिष्ट लाञ्छन मिला दिये गये हैं) की अनेक प्रतिमायें हैं[2]।

कतिपय देवों की प्रतिमाओं को प्रतिष्ठापित तथा अभिषिक्त करने के अधिकारी पुरोहितों का उल्लेख करते समय वराहमिहिर ने कहा है कि विष्णु के सम्बन्ध में यह कार्य भागवतों को करना चाहिए[3]। इस प्रकार वराहमिहिर के समय में भागवत् विष्णु के विशिष्ट पूजक माने जाते थे। वराहमिहिर की मृत्यु शकाब्द ५०९ (५८७ ई०) में हुई[4]।

सुप्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह बौद्ध थे। सामान्य रूप से देव-वाचक शब्दों को देने के उपरान्त जब वे विशेष देवों के नामों पर पहुँचते हैं तब वे बुद्ध के नामों को देते हुए इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं और इसके अनन्तर विष्णु, नारायण आदि नामों को देते हैं, जो संख्या में ३९ हैं। इनको समाप्त करने पर वे कहते हैं कि वसुदेव उनके पिता थे। इसका अर्थ तो यही हुआ कि वसुदेव से पूर्व दिये गये नाम वासुदेव के हैं। यदि हम इन नामों की परीक्षा करें तो हम पायेंगे कि अमरसिंह से पूर्व ही विष्णु एवं नारायण से वासुदेव का तादात्म्य स्थापित हो चुका था। दामोदर के अलावा इनमें अन्य कोई नाम ऐसा नहीं है, जो वासुदेव का सम्बन्ध गोकुल से जोड़ता हो। दामोदर की व्युत्पत्ति, जो उनका सम्बन्ध गोकुल से जोड़ती, संदिग्ध है। यद्यपि कंसाराति (कंस के शत्रु) नाम मिलता है, परन्तु पूतनारि (पूतना के शत्रु) नाम नहीं मिलता। उन अनेक दानवों के नामों से व्युत्पन्न अन्य नाम भी नहीं मिलते, जिनका वध कृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था में किया था। यहाँ पर बलिध्वंसिन् नाम के अतिरिक्त अवतारों के नाम भी नहीं मिलते। किन्तु 'बलिध्वंसिन्' नाम की व्याख्या एक टीकाकार ने "बलि अथवा आहुति द्वारा अज्ञान का नाश करने वाला" इस रूप में की है। यहाँ पर वस्तुतः कई ऐसे नाम भी हैं जो अन्य दैत्यों के नामों से व्युत्पन्न हैं, जैसे कि मधुरिपु तथा कैटभजित्। किन्तु ये वे शत्रु नहीं हैं, जिनका नाश विष्णु ने अपने अवतारों में किया। वासुदेव-कृष्ण के पिता (वसुदेव) का नाम देने के उपरान्त अमरसिंह संकर्षण अथवा बलदेव, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के नामों का उल्लेख करते हैं। उसके बाद उन्होंने नारायण या विष्णु की भार्या लक्ष्मी के नामों का उल्लेख किया है, तदनन्तर

---

१. इण्डि. एण्टि. भाग ३, पृ० ३०५; भाग ६, पृ० ३६३
२. फर्गुसन व बर्गेस, केव टेम्पुल्स, पृ० ४०७
३. बृ. सं. ६०, १९
४. भाऊदाजी, लिट० रिमेन्स, पृ० २४०

विष्णु, उनके आयुधों एवं अलंकरणों के नाम दिये हैं और उनके वाहन गरुड़ के नामों के साथ इस प्रकरण की समाप्ति की है। इन नामों को समाप्त करके वे हिन्दुओं के दूसरे बड़े देवता शम्भु या शिव पर आते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि भागवतों द्वारा स्वीकृत वासुदेव के चार स्वरूप या चार व्यूह अमरसिंह की दृष्टि में थे। अतएव उनके समय में वैष्णव मत का जनसामान्य में प्रचलित रूप वही था, जिसका प्रतिपादन भागवतों ने किया था। अमरसिंह का निश्चित समय संदिग्ध है, परन्तु यदि वे बौद्ध थे तो महायान मार्गी रहे होंगे, जिनकी धार्मिक-भाषा संस्कृत थी। यह संप्रदाय चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ शतक में पूरे जोर पर था[1]। अतएव अमरसिंह उस कालमें हुए होंगे। यदि हम कालिदास और अमरसिंह की समकालिकता प्रतिपादित करने वाले श्लोक पर विश्वास करें एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय को विद्वानों का प्रसिद्ध आश्रयदाता विक्रमादित्य मानें तो वे पञ्चम शतक के प्रारम्भिक भाग में हुए होंगे। वासुदेव-कृष्ण एवं गोपालकृष्ण के तादात्म्य का उल्लेख बहुत कम किया गया है, जब कि विष्णु एवं नारायण से वासुदेव-कृष्ण के तादात्म्य को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है।

सा... ाब्दी के मध्य में बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में दिवाकरमित्र का जो वर्णन है, वह इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। दिवाकरमित्र मूलतः ब्राह्मण था, किन्तु बाद में बौद्ध हो गया था और विन्ध्य पर्वत में रहता था। वहाँ वह अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा घिरा रहता था, जिनमें से दो भागवत एवं पाञ्चरात्र थे।

ऐलोरा के दशावतार-मन्दिर में विष्णु की एक शेषशायी प्रतिमा है। लक्ष्मी उनके चरण दबा रहीं हैं तथा नाभि कमल पर ब्रह्मा आसीन हैं। यहाँ पर नरसिंह, वामन, वराह तथा गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमाएँ भी हैं। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग के समय आठवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। अष्टम शतक के उत्तरार्ध में दन्तिदुर्ग के पितृव्य कृष्ण प्रथम के समय के कैलास-मन्दिर में भी अवतारों की इसी तरह की प्रतिमाएँ हैं। इनमें कृष्ण की कालिय-मर्दन प्रतिमा भी है।

इलाहाबाद से लगभग ३२ मील दक्षिण-पश्चिम पभोस की एक गुफा में एक अभिलेख है, जो इस प्रकार है, 'श्रीकृष्ण एवं गोपियों की प्रतिमाओं का निर्माता'। इसके उपर ऊपर संभवतः एक नराकृति थी। अभिलेख की तिथि अनिश्चित है, परन्तु बूहलर[2] ने इस अभिलेख को सातवीं-आठवीं शताब्दी में रखा है।

रायपुर जिला (म० प्र०) के सिरपुर में एक देवायतन-द्वारके अग्रभाग के ऊपर विष्णु की एक शेष-शयन मूर्ति है। उनकी नाभि से एक कमल निकल रहा है, जिस पर ब्रह्मा आसीन हैं। आयतन-द्वार के दों बाह्य-पार्श्वों तीर्थ (उन्होंने एक

के बारे में यह बतलाया
तमा लाये थे और १२६४[1]

---

१. पीप इनटू दि अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जे० आ
पृ. ३९५

२. एपि० इण्डि०, भाग २, पृ० ४८२

कतिपय अवतार हैं, जिनमें से एक तो राम का अवतार है और दूसरा बुद्ध का, जिनकी प्रतिमा सामान्यतः प्रचलित ध्यानावस्था में है। यह मन्दिर लगभग अष्टम शतक का है[१]।

जोधपुर से बत्तीस मील उत्तर की तरफ ओसिआ में स्थानीय जागीरदार के घर से लगा हुआ एक प्राचीन मन्दिर है। गर्भगृह से सभामण्डप की ओर निकले हुए दो कुड्यस्तम्भों पर दो देव-प्रतिमायें हैं, दोनों ही गरुडासीन एवं चतुर्भुज हैं। परन्तु इनमें से एक के हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म हैं तथा दूसरे के दोनों करों में हल एव मूसल है और अन्य दो हाथ खाली हैं। इसका मस्तक पाँच फणों के सर्प से आच्छादित है। ये स्पष्ट रूप से वासुदेव एवं संकर्षण हैं। यह मन्दिर नवम शतक के बाद का नहीं हो सकता।[२]

धर्म-परीक्षा नामक ग्रन्थ में लेखक अमितगति, जो दिगम्बर जैन थे, कहते हैं कि जैनों में प्रचलित आख्यान के अनुसार द्वादश सम्राट्, चौबीस अर्हत्, नौ राम, नौ केशव एवं उन नौ के नौ शत्रु ये ६३ प्रसिद्ध पुरुष थे। केशवों में अन्तिम वसुदेव के पुत्र थे, तथा उनके ब्राह्मण-भक्त उन्हें शुद्ध एवं परमेश्वर वसुदेव ...ते हैं। वे कहते हैं "भगवान् विष्णु सर्वव्यापी (विभु) हैं, बिना अंशों के अंशी ..., अविनाशी एवं नित्य हैं, मनुष्य को जरा एवं मृत्यु से मुक्त करते हैं। जो उनका ध्यान करता है, वह दुखों से मुक्त हो जाता है।" परम्परा में उन्हें दस रूपों या दस अवतारों वाला कहा जाता है। ये दस रूप वही हैं जो वराह एवं अग्नि-पुराणों में उल्लिखित हैं (ऊपर देखिये) तथा जो आजकल सामान्यतः स्वीकृत हैं। इस प्रकार धर्मपरीक्षा की तिथि अर्थात् १०७० विक्रमाब्द (१०१४ ई०) से पहले ही बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। यदि सिरपुर के मन्दिर की अनुमानित तिथि सही है तो अष्टम शतक के पूर्व ही बुद्ध को ब्राह्मण देवता मण्डल में सम्मिलित कर लिया गया होगा। अमितगति भी बतलाते हैं कि किस प्रकार शक्तिमान विष्णु नन्द के गोकुल में गोपालक हुए तथा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं जगत् के त्राता राम मर्त्य प्रेमी की तरह सीता की विरहाग्नि में जले।

इस प्रकार चौथी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक मुख्य रूप से भागवतों द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार विष्णु की उपासना प्रचलित होने के साक्ष्य मिलते हैं। अवतारों का सिद्धान्त भी सामान्य विश्वास बन गया था तथा बौद्धमत के संस्थापक एवं जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर भी बाद में विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे।

---

१. इण्डि. एण्टि. भाग ६

२. फर्गुसन व बर्गेस, केव

ऑव आर्क्यालॉजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल, १९०३-०४,

३. बृ. सं. ६०, १९

४. भाऊदाजी, लिट० रिमेन्स, पृ ऑव इण्डिया की अगली वार्षिक रिपोर्ट।

रामोपासना

अभी जिन मन्दिरों की चर्चा की गयी है, उनमें केवल विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएँ हैं तथा उनसे किसी अवतार की स्वतन्त्र पूजा प्रचलित होने की पुष्टि नहीं होती। परन्तु आजकल रामोपासना काफी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है। अब तक जिन मन्दिरों का उल्लेख किया गया है, उनमें एक भी ऐसा नहीं है, जो कि रामोपासना के लिए बनाया गया हो और न वासुदेव के ध्वजस्तम्भों की तरह राम के ध्वजस्तम्भ ही मिलते हैं।

राम को बहुत काल से विष्णु का अवतार माना जाता था। इस बात के सङ्केत रामायण में हैं। परन्तु यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि ये स्थल अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त हैं। नारायणीय के उस स्थान में, जिसे हमने अनेक बार उद्धृत किया है, यह नाम मिलता है तथा उन पुराणों में भी यह नाम आया है, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु ये उल्लेख इतने सक्षम नहीं हैं कि इनसे हम उस काल को निश्चित कर सकें, जिसमें राम को अवताररूप में माना जाने लगा था। रघुवंश के दसवें अध्याय में, रामजन्म की कथा से पूर्व, क्षीर-सागर में चरण-संमर्दन करती हुई लक्ष्मी से युक्त और शेषनाग पर लेटे हुए विष्णु या नारायण की प्रचलित रूप से स्तुति की गई है। तब वे रावण के विनाश हेतु दशरथ के पुत्र रूप में जन्म लेने का वचन देते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, १०१४ ई० में अमितगिरि ने कहा है कि राम को सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं समस्त जगत् का त्राता माना जाता था। वायुपुराण, जो अपनी श्रेणी की प्राचीनतम कृति है, पञ्चम शतक के आस-पास लिखा गया होगा! अतः इस बात की पूर्ण संभावना है कि राम के विष्णु के अवतार होने का विश्वास ईसवीय काल के प्रारम्भिक शतकों में विद्यमान था। परन्तु पतञ्जलि के महाभाष्य में उनके नाम का उल्लेख नहीं मिलता और न ऐसा कोई प्राचीन अभिलेख ही है, जिसमें यह नाम मिलता हो। अमरकोश के ब्राह्मण-धर्म के देव-मंडल में भी उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ। इन तथा ऊपर उल्लिखित परिस्थितियों से यह प्रकट होता है कि यद्यपि उन्हें अवतार माना गया था किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र धार्मिक मत नहीं था। फिर भी, जैसा कि वाल्मीकि ने चित्रित किया है, राम उन्नत आत्मा वाले वीर थे। कवियों ने, जिनमें प्राचीन ऋषियों के नाम पर पुराणों की रचना करने वाले अनाम कवि भी सम्मिलित हैं, तथा विशेषकर भवभूति ने उनके चरित्र को और भी उत्कृष्ट स्वरूप प्रदान किया है। अतएव राम ने भारतीय लोगों के हृदय में स्थान बना लिया और इस कारण शीघ्र ही उनकी स्वतन्त्र उपासना चल पड़ी होगी। परन्तु ऐसा कब हुआ, यह कह सकना कठिन है। माध्व या आनन्दतीर्थ (उन्होंने एक सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे) के बारे में यह बतलाया जाता है कि वे बदरिकाश्रम से दिग्विजय राम की एक प्रतिमा लाये थे और १२६४[१]

---

१. द्रष्टव्य आगे

ई० के आस-पास राम एवं सीता की मूल प्रतिमाओं को लाने के लिए उन्होंने नरहरि-तीर्थ को जगन्नाथ भेजा था। अतएव रामोपासना ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग अस्तित्व में आयी होगी। ऐसे ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, जो उनकी पूजा के निमित्त मंत्रों और मण्डलों का वर्णन करते हैं (जैसा कि वासुदेव की पूजा के लिए सात्वत-संहिता में हैं)। हेमाद्रि ने (तेरहवीं शताब्दी) अपने व्रतखण्ड[1] में चैत्रशुक्ल नवमी के दिन रामजन्म के समारोह मनाने का उल्लेख किया है। हेमाद्रि तथा वृद्धहारीति[2] ने कतिपय अवसरों पर अन्य अवतारों के साथ अवतार रूप में भी उनके पूजन की विधियाँ लिखी हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि अवतार के रूप में उनकी पूजा अधिक लम्बे काल तक प्रचलित रही होगी। दोनों ही लेखकों ने वासुदेव या विष्णु के चतुर्विंशति रूपों का वर्णन किया है। देवता के चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म के विन्यास-क्रम में परिवर्तन करके चौबीस रूपों में अन्तर किया जाता है। केशव, नारायण, गोविन्द आदि चौबीस नामों को, जिनमें चार व्यूहों के नाम भी सम्मिलित हैं, आजकल प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में जपते हैं और देवता के प्रत्येक नाम की चतुर्थी विभक्ति के बाद 'नमः' शब्द का प्रयोग करके उस देवता के चौबीस[3] स्वरूपों की वन्दना करते हैं। इसका अर्थ होता है कि 'केशव, नारायण आदि को नमस्कार है'। किन्तु राम का नाम इनमें अन्तर्भूत नहीं है, जब कि अन्य दो अवतार नरसिंह एवं वामन उल्लिखित हैं। प्रत्येक श्राद्ध संस्कार का उपसंहार इस वाक्य के साथ होता है कि "पूर्वजों या पिता, पितामह, प्रतिमामह के रूप जनार्दन-वासुदेव इस कर्म से तृप्त हों"। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि वासुदेवोपासना हम लोगों के प्रत्येक सामान्य संस्कार में, जिसमें वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी होता है, प्रविष्ट हो गयी थी, जब कि राम के विषय में ऐसी बात नहीं है। अतएव उनकी स्वतन्त्र उपासना अर्वाचीन है। अध्यात्मरामायण नाम का एक ग्रंथ में[4], जिसे महाराष्ट्र के सन्त एकनाथ (सोलहवीं सदी) ने एक अर्वाचीन प्रबन्ध कहा है, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उद्देश्य राम के दैवत्व का प्रतिपादन है। प्राचीन लेखकों के अवतरण लेकर इसकी रचनाकी गयी है। इसलिए इसके प्राचीन ऋषियों की रचना होने की बात ही नहीं उठती। प्रथम

---

१. पृष्ठ ९४१ (बिब्ल. इण्ड.)

२. व्रतखण्ड, पृ० १०३४; वृद्धहारीत-स्मृति (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज) अध्याय १०,५,१४५

३. (१) केशव, (२) नारायण, (३) माधव, (४) गोविन्द, (५) विष्णु, (६) मधुसूदन, (७) त्रिविक्रम, (८) वामन, (९) श्रीधर, (१०) हृषीकेश, (११) पद्मनाभ, (१२) दामोदर, (१३) संकर्षण, (१४) वासुदेव, (१५) प्रद्युम्न, (१६) अनिरुद्ध, (१७) पुरुषोत्तम, (१८) अधोक्षज, (१९) नरसिंह, (२०) अच्युत, (२१) जनार्दन, (२२) उपेन्द्र, (२३) हरि, (२४) श्रीकृष्ण।

४. द्रष्टव्य भावार्थ-रामायण, अरण्यकाण्ड

काण्ड में 'रामहृदय' है, जिसका उपदेश सीता ने हनुमान को दिया है। वे कहती हैं कि मूल प्रकृति के प्रत्येक कार्य का सम्पादन वे स्वयं करती हैं तथा रामायण में उल्लिखित समस्त कार्य उन्होंने ही किये हैं। एकमात्र सत्तावान् आत्मा के रूप में राम निष्क्रिय, नित्य तथा आनन्दमय हैं और सीता द्वारा किये गये कर्मों के साक्षी मात्र हैं। जब सीता अपना कथन समाप्त कर लेती हैं, तब राम सर्वज्ञ आत्मा की त्रिविध प्रकृति का उपदेश देते हैं। तीन रूप ये हैं—(१) मूल, (२) बुद्धिमय (३) दृश्यमान पदार्थ। इनमें अन्तिम दो सत्य नहीं हैं। अन्तिम काण्ड के पञ्चम सर्ग को 'रामगीता' कहा गया है। रामगीता भगवद्गीता से मिलती है तथा इसका उपदेश राम ने लक्ष्मण को दिया है। प्रथम भाग की तरह रामगीता का दर्शन अद्वैतपरक हैं। जगत् एवं जीवात्मा भ्रम हैं, केवल एक ही आत्मा सत्य है। रामगीता नामक मद्रास से प्रकाशित एक अन्य पुस्तक भी है जो सत्वपारायण नामक एक अधिक विशाल ग्रंथका अंग बतलाई गई है तथा भगवद्-गीता के ही समान अठारह अध्यायों में है। इसको राम ने हनुमान से कहा है। इसके प्रारम्भ में इसको एक सौ आठ उपनिषदों पर आधारित बतलाया गया है, जिनमें कुछ तो बहुत नये हैं। अतएव यह कृति अत्यन्त अर्वाचीन संग्रह है। इस प्रकार धर्मोपदेशक के रूप में राम का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले ग्रंथ नये हैं।

दक्षिण में वासुदेवोपासना या वैष्णवधर्म

हम देख चुके हैं कि प्रथम शतक ई० पू० के आस-पास महाराष्ट्र में संकर्षण तथा वासुदेव की पूजा होने लगी थी। वासुदेवोपासना दक्षिण में और आगे तमिल देश तक फैली होगी। परन्तु वहाँ इसका प्रचलन कब हुआ, यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। भागवत-पुराण (स्कन्ध ११, अध्याय ५, श्लोक ३८-४०) में भविष्य वाणी प्रचलित की शैली में कहा गया है कि कलियुग में नारायण में भक्ति रखने वाले लोग इधर-उधर प्राप्त होंगे। द्रविड़ देश में, जहाँ पर ताम्रपर्णी, कावेरी एवं अन्य नदियाँ बहती हैं, नारायण-भक्त बड़ी संख्या में होंगे तथा जो इन नदियों का जल पियेंगे उनमें अधिकतर वासुदेव के विशुद्ध-हृदय भक्त होंगे। भागवत पुराण में घिसी-पिटी शैली में जो कुछ भी कहा गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस समय पुराण का संकलन हुआ, उस समय तमिल देश के वासुदेव भक्तों का यश भारत के अन्य भागों में भी फैल चुका होगा। यह पुराण तेरहवीं सदी में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था, जब आनन्दतीर्थ (११९९–१२७८ ई०) ने इसे महाभारत के समान स्तर पर रखा तथा महाभारत की तरह इसके तात्पर्यों के निर्धारण के लिए एक प्रबन्ध लिखा। इसी समय के लगभग बोपदेव ने अमात्य हेमाद्रि की प्रार्थना पर इसका एक संक्षिप्त रूप तैयार किया। अतएव भागवत की रचना आनन्दतीर्थ से कम से कम दो शतक पूर्व हो चुकी होगी। ऐसा मानने पर ही आनन्दतीर्थ के समय इसकी प्रसिद्धि की व्याख्या हो सकती है। किन्तु यह बहुत प्राचीन भी नहीं हो सकती, क्योंकि इसकी

शैली नयी मालूम पड़ती है एवं अन्य पुराणों का अनुकरण करने में इसमें अनेक त्रुटियाँ हो गई हैं, जिनमें से एक का निर्देश मैंने अन्यत्र किया है[1]। अतएव भागवत में उल्लिखित द्रविड़ भक्त प्रायः ग्यारहवीं सदी से पहले ही हुए होंगे। आळवार नाम से ख्यात इन भक्तों की संख्या आम तौर पर बारह बतलाई जाती है। प्राप्त वंशावली के अनुसार कृष्णस्वामी ऐय्यंगार ने उन्हें तीन वर्गों में रखा है और उसी वंशावली के अनुसार उनका पर्वापर क्रम निर्धारित किया है, यद्यपि इस वंशावली में उन सन्तों की प्राचीनता की अत्युक्ति की गई है। उनके तमिल और संस्कृत नाम इस प्रकार हैं:—

श्रेणी	तमिल नाम	संस्कृत नाम
प्राचीन	पोयगै आळवार	सरोयोगिन्
	भूतत्तार	भूतयोनिन्
	पैय आळवार	महायोगिन् या भ्रांतयोगिन्
	तिरुमळिशै आळवार	भक्तिसार
उत्तर कालीन	नम्मा आळवार	शठकोप
		मधुरकवि
		कुलशेखर
	पेरिय आळवार	विष्णुचित्त
	अण्डाळ	गोदा
अन्तिम	तोण्डरडिप्पोडि	भक्ताङ्घ्रिरेणु
	तिरुप्पाण आळवार	योगिवाहन
	तिरुमङ्गै आळवार	परकाल

इनमें से पहले सन्त की तिथि सामान्यतया ४२०३ ई० पू० बतलाई गई है तथा अन्तिम की २७०६ ई० पू०, एवं अन्य सन्त इन दोनों के मध्य में पड़ते हैं। न केवल ये तिथियाँ ही मन गढ़न्त हैं अपितु ऊपर प्रदर्शित पर्वापर क्रम भी अविश्वसनीय है। कृष्णस्वामी ने सबसे अन्तिम को आठवें शतक के पूर्वार्ध में तथा समस्त पर्ववर्तियों को इस तिथि से पूर्व रखा है। परन्तु कुलशेखर इस तिथि से बहुत बाद में हुए, इसका हमारे पास स्पष्ट साक्ष्य है। कुलशेखर ट्रावनकोर के राजा थे। उनके द्वारा रचित मुकुन्द-माला में भागवत पुराण (११,२, ३६) से लिया गया एक श्लोक प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त धारवाड़ जिले में नरेगल के मन्दिर के एक अभिलेख में, जिसका अनुवाद

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव डेकन (द्वितीय संस्करण), पृ. ३२–३३

२. इण्डि. एण्टि., भाग ३५, पृ. २२८

३. "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा" आदि

फ्लीट[1] ने किया है, यह कहा गया है कि सिन्दवंशी पेर्माडि ने कुलशेखराङ्क को जीत लिया, चट्ट को घेर लिया, जयकेशिन् का पीछा किया, पोयसल की राजसत्ता पर अपना अधिकार कर लिया तथा पोयसल कुल की राजधानी घोरसमुद्र को चारों ओर से घेर लिया। एक अन्य अभिलेख[2] में पेर्माडि को जगदेकमल्ल (जिसका समय ११३८ ई० से लेकर ११५० ई० तक है) का सेवक बतलाया गया है। जगदेकमल्ल के शासन के सातवें वर्ष अर्थात् ११४४ ई० में, जब पेर्माडि महामण्डलेश्वर था, पान एवं नारियल बेचने वालों के एक संघ ने कुछ दान दिया था। पेर्माडि द्वारा विजित यह जगदेकमल्ल पश्चिमी तट पर राज्य करने वाला वैसा ही कोई राजा रहा होगा, जैसे गोआ का कदम्ब राजा जयकेशी, होयशाल राजा तथा अन्य राजा थे। इस कथन और भागवत-पुराण से उक्त अवतरण को एक साथ रखने पर यह प्रतीत होता है कि आळवार कुलशेखर बारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हुए थे। अतएव ऊपर दिया गया पूर्वापर क्रम अक्षरशः विश्वसनीय नहीं है। फिर भी यह माना जा सकता है कि सबसे पहले आळवार उस काल के लगभग हुए होंगे, जब उत्तर-भारत में ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था, जिसका प्रसार महाराष्ट्र तक था (जैसा कि हम अभिलेखों एवं पुरातात्विक अवशेषों द्वारा दिखला चुके हैं) तथा इससे भी आगे सुदूर-दक्षिण तक रहा होगा। सर्वप्रथम आळवार को लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी के पूर्व रखा जा सकता है। यह असम्भव नहीं है कि इससे पूर्व अर्थात् पहली शताब्दी के लगभग वैष्णवधर्म तमिल देश में पहुँच चुका हो। परन्तु अधिक सम्भव यही है कि पुनर्जागरण के प्रभाव से आळवारों का उदय हुआ।

आळवारों एवं शैव सन्तों (नायन्मार) का बौद्ध एवं जैनों के साथ विरोध-सम्बन्ध था। इससे भी हमारे मत की पुष्टि होती है।

आळवारों ने अधिकतर तमिल में ही प्रबन्धों की रचना की, जो अनुकम्पा एवं भक्ति से परिपूर्ण हैं तथा धार्मिक सत्यों से भी युक्त हैं। वे परम पवित्र माने जाते हैं तथा वैष्णव-वेद कहलाते हैं। आळवारों को बहुत ऊँचा सम्मान दिया गया है तथा उनकी प्रतिमाएँ विष्णु या नारायण अथवा उनके अन्य स्वरूप के पार्श्व में रख कर पूजी जाती हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कुलशेखर आळवार के उपास्य देवता दाशरथि राम थे।

रामानुज

दक्षिण में वैष्णव गुरुओं की दो श्रेणियाँ थीं आळवार एवं आचार्य। आळवारों में निर्मल अनुराग और विष्णु अथवा नारायण के प्रति अटूट भक्ति थी। वे भजनों की

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग० ११, पृ० २४४
२. वही, पृ० २५१

रचना करते थे, जब कि आचार्यों का उद्देश्य शास्त्रार्थ करना एवं अपने निजी सिद्धान्तों एवं मतों की प्रतिष्ठा के लिए यत्न करना था। आळवारों का उल्लेख हम संक्षेप में कर चुके हैं। प्रथम आचार्य सम्भवतः नाथमुनि थे। उनके उत्तराधिकारी यामुनाचार्य अथवा यामुन मुनि थे और यामुन मुनि के उत्तराधिकारी रामानुज थे। अपने उत्तराधिकारी के लिए यामुन मुनि की अन्तिम आज्ञा यह थी कि वे बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखें। वैष्णव मत के आचार्यों ने इस प्रकार की आवश्यकता इसलिए अनुभव की कि उन्हें ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों पर आधारित शंकराचार्य के अद्वैत-सिद्धान्त के सामने अपने भक्ति-सिद्धान्त को रख पाना असम्भव लगा। ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान काल में विचारों का पुनः वैसा ही उफान आया, जैसा पहले आया था, जब एक ओर तो बौद्ध, जैन एवं अन्य नास्तिक मतों का अभ्युदय हुआ और दूसरी ओर वासुदेव-मत का। किन्तु विचारों का यह उफान किसी स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित नहीं था, अपितु उन धर्म-ग्रन्थों पर आधारित था, जो प्राचीन समय से ही परम्परा द्वारा अब तक चले आ रहे थे। पाली बौद्ध धर्म का स्थान संस्कृत महायान ने लिया। महायान के भी विरुद्ध गौतम द्वारा प्रतिष्ठापित न्यायदर्शन के आचार्यों और मीमांसकों विशेषकर शबरस्वामी और कुमारिलभट्ट ने शास्त्रार्थ जारी रखा। परन्तु मीमांसकों ने न केवल बौद्धों पर अपितु औपनिषद मान्यताओं पर भी आक्रमण किया। उन्होंने यज्ञ-धर्म के सामर्थ्य का ही प्रतिपादन किया तथा औपनिषद् मत के विश्वास एवं आचारों को सामर्थ्यहीन बतलाया। अतएव यह संप्रदाय अपने इस पक्ष के समर्थन में प्रयत्नशील था कि केवल उन्हीं का मत परमानन्द प्राप्त करता है। इस अवसर पर जमकर सामने आने वालों में गौडपादाचार्य एवं उनके शिष्य के शिष्य शंकराचार्य उल्लेखनीय हैं। शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि केवल एक आत्मा का अस्तित्व है और अहं की अनुभूति एवं जीवात्मा के दूसरे गुणों की प्रतीति तथा जड़ जगत् की विविधता भ्रमजन्य है, फलतः वास्तविक नहीं है। इस सिद्धान्त के अन्दर प्रेम एवं अनुकम्पा के लिए कोई स्थान नहीं है, यद्यपि इस मत के अनुयायी जीवों की साधारण भ्रमावस्था में इसको स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इस मत ने वैष्णवधर्म के मूल पर ही कुठाराघात किया। वैष्णव-मत के दाक्षिणात्य आचार्यों की प्रबल इच्छा भ्रम या माया के इस सिद्धान्त को उन्हीं उपनिषद् आधारों पर उखाड़ फेंकने की थी, जिन पर यह सिद्धान्त खड़ा किया गया था। यामुन आचार्य की यह इच्छा रामानुज ने पूरी की। तब से प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय ने और एक या दो उदाहरणों में तो शैव सम्प्रदायों ने भी औपनिषद या वेदान्त सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्त के अनुरूप बनाकर ग्रहण किया।

रामानुज का जन्म शकाब्द ९३८ (१०१६ या १०१७ ई०) में हुआ था। अपने बाल्यकाल में वे काञ्चीपुर या काञ्जीवरम् में रहे तथा अद्वैतवादी दार्शनिक और अद्वैतवाद का प्रचार करने वाले यादव-प्रकाश के शिष्य बने। रामानुज, जिनका लगाव वैष्णव

धर्म की ओर था, अपने गुरु की शिक्षाओं से सन्तुष्ट न हुए और परिणामतः उनसे अलग हो गये। वे आळवारों के प्रबन्धों के अध्ययन में लगे तथा उनके भावों को आत्मसात् किया। जब वे यमुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने उस समय वे त्रिचनापल्ली के समीप श्रीरंगम् में रहे और वहीं अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न किया। कहा जाता है कि उन्होंने उत्तर-भारत के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा की। अन्तिम वर्षों में एक समकालीन चोल राजा ने उन्हें क्लेश दिया। वह शैवधर्म के लिए उनसे वैष्णव धर्म का त्याग कराना चाहता था। फलस्वरूप उन्होंने १०९६ ई० में होयसल यादव राजाओं के राज्य में शरण ली। होयसल यादव मैसूर में शासन करते थे तथा उनकी राजधानी द्वारसमुद्र (आधुनिक हलबीड) थी। वहाँ पर उन्होंने विट्ठलदेव को दीक्षित किया, जो जनसामान्य में बिट्टिदेव नाम से प्रसिद्ध थे। बहुत संभव है कि बिट्टि, विट्ठल या बिट्टि का अपभ्रंश हो। यह घटना १०९८ ई० में घटित हुई। उस समय विट्ठलदेव राजा नहीं थे परन्तु अपने सिंहासनाधिरूढ भाई बल्लाल के नाम से कतिपय सीमावर्ती प्रान्तों पर शासन करते थे।[1] वैष्णव-धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त विट्ठलदेव या विट्ठि, विष्णुवर्धन कहलाने लगे। कदाचित् उनका मूल नाम विष्णु था, जो कि इस जिले की जन-भाषा कन्नड़ी में बिट्टु या बिट्टि रूप में परिवर्तित हो गया। अतएव उनका मूल नाम बिट्टिदेव, विष्णुदेव नाम से (जो उनके द्वारा दीक्षा के उपरान्त ग्रहण किया गया बतलाया जाता है) से भिन्न नहीं है। विष्णुदेव ने ११०४ ई० से ११४१ ई० तक राज्य किया।[2] रामानुज ने इन कृतियों की रचना की—वेदान्त सार, वेदार्थ संग्रह, वेदान्त-दीप तथा ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता पर भाष्य।[3]

रामानुज ने भक्ति तथा उपासना की भावना को प्रतिष्ठित करने के लिए ब्रह्म-सूत्र एवं उपनिषदों पर आधारित जिस वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह इस प्रकार है : नित्य तत्त्व तीन हैं जीव या जीवात्मा (चित्), जड़ जगत् (अचित्) तथा परमात्मा (ईश्वर)। इस बात की पुष्टि उपनिषद् वाक्यों से होती है। श्वेताश्वर उपनिषद् (१,१२) के एक वाक्य का यह आशय है कि स्वयं भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरक के रूप में ब्रह्म त्रिविध है। परन्तु उपनिषदों के आधार पर ब्रह्मसूत्र का कथन है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित कारण दोनों ही है। अपने मत में इस बात को संभव बनाने के लिए रामानुज ने माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् के ३, ७, ३ से प्रारम्भ होने वाले एक स्थल का आश्रय लिया है, जिसमें परमात्मा को जीवात्मा एवं बाह्य-जगत् का अन्तर्यामी कहा गया है। उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा एवं जड़ जगत् परमात्मा के गुण हैं। वे, उसके शरीर हैं, जैसा कि उपनिषदों

---

१. द्रष्टव्य कृष्णस्वामी ऐय्यंगार का लेख, विशिष्टाद्वैतिन् पत्रिका, सं० ८

२. इम्पीरियल गज़ेटियर, भाग १८, पृष्ठ १७३

३. उपरिनिर्दिष्ट कृष्णस्वामी ऐय्यंगार का लेख

में भी बतलाया गया है। इस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा, जीव और जगत् एक सत्ता हैं, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, जैसे कि शरीर और आत्मा से मिल कर मनुष्य बनता है। सृष्टि से पूर्व परमात्मा का शरीर सूक्ष्म रूप में रहता है और जब सृष्टि होती है तब उसका विस्तार जगत् के रूप में होता है। इस प्रकार ब्रह्म बाह्य जगत् का उपादान कारण है। अन्तर्यामी आत्मा के रूप में जब वह सृष्टि की इच्छा करता है, तब निमित्त-कारण भी बन जाता है। जड़ जगत् का सूक्ष्म रूप प्रकृति है। अन्तर्यामी परमात्मा के निर्देशन में यह अपना विस्तार करती है, और तब हिरण्यगर्भ की रचना होती है। महत् अहंकार आदि उत्तरोत्तर अवस्थाएँ सांख्य दर्शन की उन-उन अवस्थाओं जैसा ही हैं, जिन्हें सृष्टि के वर्णन में पुराणों ने भी अपना लिया है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के बाद अन्तर्यामी ईश्वर ही ब्रह्मा, दक्ष आदि के रूप में सृष्टि की रचना करता है।

ईश्वर समस्त दोषों से मुक्त है। वह नित्य है; समस्त चेतन एवं अचेतन भूतों में व्याप्त है; समस्त भूतों का अन्तर्यामी है; शुद्ध आनन्द है; ज्ञान, शक्ति आदि शुभ गुणों से युक्त है; जगत् का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है तथा उन लोगों द्वारा उपसेवित, जो आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी हैं।[१] वह चतुर्विध पुरुषार्थों का दाता है।[२] वह अद्‌भुत दिव्य विग्रह एवं अनतिक्रमणीय सौन्दर्य से सम्पन्न है। लक्ष्मी, भू एवं लीला उसकी शक्तियाँ हैं।[३] यह ईश्वर पाँच विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होता है :—

पर—इस स्वरूपमें नारायण, जो परब्रह्म और पर वासुदेव भी कहलाते हैं, वैकुण्ठ नामक नगरीमें निवास करते हैं, जिसमें रक्षक और द्वारपाल रहते हैं। नारायण एक रत्न-मण्डप के नीचे धर्मादिक चरणों से युक्त एक सिंहासन पर स्थापित शेषनाग-शय्या पर आसीन हैं; श्री भू और लीला द्वारा सेवित हैं; शंख, चक्र एवं अन्य दिव्यायुधों को धारण करते हैं; किरीट आदि दिव्याभरणों से भूषित हैं तथा ज्ञान, शक्ति आदि असंख्य शुभ गुणों के भण्डार हैं। अनन्त, गरुड़ विष्वक्सेन आदि अविनाशी एवं मुक्त आत्माएँ उनके सामीप्य का आनन्द प्राप्त करती हैं।

व्यूह—नारायण पूजा की सुविधा तथा सृष्टि रचनादि उद्देश्यों के लिए ये चार रूप धारण करते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। वासुदेव छह गुणों से युक्त है। संकर्षण केवल ज्ञान एवं बल, प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य से तथा अनिरुद्ध शक्ति एवं तेज गुणों से युक्त हैं।

---

१. भगवद्‌गीता (७, १६) में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख है।

२. अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं।

३. लोकाचार्य के तत्त्वत्रय से।

विभव—इस स्वरूप में मत्स्य आदि १० अवतार आते हैं।

अन्तर्यामी—इस स्वरूप में परमात्मा हृदय में निवास करता है, तथा उसे केवल योगी ही देख सकते हैं। जीवात्माओं के स्वर्ग या नरक जाते समय भी उनके साथ रहता है।

अर्चा—गृहों, ग्रामों, नगरों आदि में उपासक द्वारा चुने गये द्रव्य से निर्मित मूर्तियाँ या प्रतिमाएँ जिनमें वह अभौतिक शरीर से युक्त होकर रहता है[1]।

अन्य लेखकों ने व्यूहों के अन्दर वासुदेव को नहीं रखा है, केवल अन्य तीन को ही रखा है। अर्थपञ्चक में अन्तर्यामी का स्वरूप अन्य प्रकार से दिया गया है। इस स्वरूप में वह प्रत्येक भूत में निवास करता है; सबका नियन्त्रण करता है; निःशरीर, विभु एवं सर्वगुणों का भाण्डार है तथा विष्णु, नारायण एवं वासुदेव आदि कहलाता है।[2]

चैतन्य, ज्ञान, आत्मा रूप में शरीर से सयोग तथा कर्तृत्व ये परमात्मा एवं जीवात्मा दोनों के धर्म हैं[3]। जीवात्मा स्वयं प्रकाश्य, आनन्दमय, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, ईश्वर-नियम्य, अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर के अस्तित्व पर आश्रित तथा ईश्वर का अंश है[4]। जीवात्मा का यह वर्णन शंकराचार्य के जीवात्मा के वर्णन से भिन्न है। शंकराचार्य जीव में कर्तृत्व या तात्त्विकता नहीं मानी है। अद्वैतवाद के अन्दर आत्मा का विभिन्न प्रकार से ईश्वर पर आश्रित रहने का सिद्धान्त वस्तुतः सोचा भी नहीं जा सकता। आत्मा अनेक हैं तथा उनका विभाजन निम्नरूप में है (१) बद्ध—ब्रह्मदेव से लेकर निकृष्टतम कीट तथा औद्भिज जीव तक जीवन चक्र में बँधे हुए जीव, (२) मुक्त—सर्वदा के लिए बन्धन-मुक्त जीव तथा (३) नित्य। प्रथम वर्ग में भी जो चेतन हैं अर्थात् जो अचेतन या उद्भिज नहीं हैं, दो प्रकार के हैं (१) भोग की कामना वाले, (२) मुक्ति की कामना वाले। भोग की कामना वालों में कुछ तो धनार्जन में तथा विषयेच्छाओं की संतुष्टि में लगे रहते हैं तथा अन्य स्वर्ग का सुख प्राप्त करना चाहते हैं एवं इसके लिए अनेक अनुष्ठानों एवं यज्ञों का सम्पादन करते हैं, तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं तथा दान देते हैं। इनमें कुछ तो भगवान् को भजते हैं, कुछ अन्य देवों को। मुमुक्षुओं में कुछ तो केवल अपनी निर्मल आत्मा के चैतन्यत्व के अभिलाषी हैं (केवली हैं) तथा अन्य शाश्वत आनन्द के। आनन्द के अभिलाषी जीवों में कुछ भक्त हैं, जो सर्वप्रथम वेदों का अध्ययन करके तथा वेदान्त एवं कर्म-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करके समस्त अंगों सहित भक्ति का

---

१. यतीन्द्रमतदीपिका ९

२. द्रष्टव्य 'सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' पर मेरी १८८३-८४ की रिपोर्ट, पृष्ठ ८८

३. यतीन्द्रमतदीपिका ८

४. तत्त्वत्रय

आश्रयण करके भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। केवल तीन ऊँचे वर्ण ही भक्ति का आचरण कर सकते हैं, शूद्र लोग नहीं। आनन्द के अभिलाषी जीवों में अन्य वर्ग प्रपन्नों का है, जो स्वयं को दरिद्र एवं असहाय समझकर भगवान् की शरण में जाते हैं। प्रपन्नों में कुछ तो जीवन के प्रथम तीन पुरुषार्थों को पाना चाहते हैं। अन्य इनमें आनन्द न पाकर प्रत्येक सांसारिक वस्तु का परित्याग करके केवल मोक्ष की कामना करते हैं। वे भक्ति मार्ग पर चलने में अशक्त और असहाय होने के कारण गुरु के उपदेश की कामना करते हुए एवं उनसे कर्म के निमित्त प्रेरणा पाकर अपने को ईश्वरेच्छा पर छोड़ देते हैं। इस प्रपत्ति का आचरण शूद्र तथा समस्त वर्णों के लोग कर सकते हैं[1]।

भक्तिमार्ग को प्रभावशाली बनाने के लिए जो बातें आवश्यक हैं, वे हैं कर्मयोग या कर्मों का सम्पादन तथा ज्ञानयोग या ज्ञान को प्राप्त करना। कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कर्मों, विधियों एवं संस्कारों को सम्पादित करना कर्मयोग है। ये विधियाँ हैं देवपूजन, तपश्चरण, तीर्थ-यात्रा, दान एवं यज्ञ। यह कर्मयोग आत्मा को पवित्र करता है और ज्ञानयोग की ओर ले जाता है। स्वयं को प्रकृति से पृथक् तथा ईश्वर के अंश रूप में देखना ही ज्ञान है। यह ज्ञानयोग भक्ति की ओर ले जाता है। यमनियमादि, आठ योगप्रक्रियायों के आचरण द्वारा सतत् ध्यान भक्तियोग है। यह इन उपायों द्वारा प्राप्त होता है; (१) विवेक—अदूषित एवं अनिषिद्ध भोजन के प्रयोग द्वारा शरीर की शुद्धि, (२) विमोक—कामनाओं में अनासक्ति (३) अनवरत अभ्यास, (४) क्रिया—अपने साधनों के अनुसार पञ्च महायज्ञों एवं संस्कारों का सम्पादन, (५) सत्य, ऋजुता, दया, दान, जीव-अहिंसा आदि गुण (६) अनवसाद एवं (७) अनुद्धर्ष—अतिसंतोष का अभाव। इन उपायों द्वारा संवर्धित भक्ति से ईश्वर का दर्शन होता है तथा अन्त में मानस-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। आत्म निवेदन[2] की भावना, प्रतिकूलता का वारण, 'भगवान् रक्षा करेंगे' यह विश्वास, त्राता के रूप में उनका वरण, या रक्षा के निमित्त उनकी स्तुति तथा आत्म- समर्पण को जन्म देने वाला कार्पण्य-भाव ही प्रपत्ति[4] है। इस प्रकार प्रपत्ति आत्मसमर्पण है[3]।

---

१. यतीन्द्रमतदीपिका ८

२. सभी के प्रति अनुकूलता की भावना तथा प्रतिकूलता की भावना का अभाव।

३. यहाँ पर पाठान्तर है, जिसका अनुवाद अपने को ईश्वर पर छोड़ देना तथा असाहाय्य इस प्रकार प्रपत्ति के अन्दर ६ बातें हैं: (१) आनुकूल्यस्य संकल्पः, (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् (३) रक्षिस्यतीति विश्वासो,(४) गोप्तृत्ववरणम् तथा, (५) आत्मनिक्षेप-(६) कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

४. यतीन्द्रमतदीपिका ७

अर्थपञ्चक में आचार्याभिमानयोग नामक पाँचवें मार्ग का भी उल्लेख किया गया है। यह उस तरह के व्यक्ति के लिए है, जो अन्य मार्गों का अनुगमन नहीं कर सकता। इसमें आचार्य के समक्ष आत्म-निक्षेप एवं प्रत्येक विषय में उसके द्वारा सञ्चालित होने का विधान है। जैसे माता शिशु की चिकित्सा करने के लिए स्वयं औषधि ग्रहण करती है, उसी प्रकार आचार्य वह सब करता है, जो उसके शिष्य की मुक्ति के लिए आवश्यक है।

विष्णु के भक्तों को पूजा के षोडश उपचारों को करना पड़ता है, जैसा कि रामानुज-संप्रदाय के एक अर्वाचीन लेखक ने पद्मपुराण का उद्धरण देते हुए बतलाया है। उनमें आठ उपचार तो भागवत-पुराण में उल्लिखित भक्ति के ९ प्रकारों में, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, समाविष्ट हैं; केवल सख्य को छोड़ दिया गया है। अन्य आठ ये हैं: (१) शरीर पर शंख, चक्र एवं हरि के अन्य आयुधों के लाञ्छन अङ्कित करना, (२) ललाट पर लम्बी रेखा अङ्कित करना, (३) समय पर मन्त्रों का जप करना, (४) हरि के चरणामृत का पान करना, (५) हरि को समर्पित किया हुआ नैवेद्य खाना (६) उनके भक्तों की सेवा करना, (७) प्रत्येक मास के कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों की एकादशी के दिन व्रत रखना और (८) हरि की प्रतिमाओं पर तुलसीपत्र चढ़ाना।

हारीत-स्मृति के एक स्थल को भी उद्धृत किया गया है, जिसमें भक्ति के नौ प्रकार दिये गये हैं। उनमें से तीन, भागवत-पुराण में दिये गये प्रकारों जैसे ही हैं। छह वही हैं, जो ऊपर दिये जा चुके हैं। प्रथम दो को एक साथ रख दिया गया है और तीसरे को छोड़ दिया गया है। ऊपर उल्लिखित ललाट पर के चिह्न में सफेद मिट्टी से निर्मित दो खड़ी रेखाएँ होती हैं, जिन्हें एक पड़ी रेखा नीचे जोड़ती है, बीच में दरिद्रा-निर्मित एक पीली या हरिद्रा और चूना मिला कर बनायी गयी एक लाल रेखा रहती है।

उत्तर भारत में रामानुज के अधिक अनुयायी नहीं हैं परन्तु दक्षिण भारत में उनकी बहुत बड़ी संख्या है। इनमें वडकलै (औदीच्य ज्ञान) तथा टेङ्कलै (दाक्षिणात्य ज्ञान) ये दो संप्रदाय हैं। ईश्वरानुकम्पा और मनुष्य के प्रयत्नों का मुक्ति-प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है, इस विषय में दोनों भिन्न-भिन्न उदाहरण देते हैं। उनमें यही मुख्य अन्तर है, वडकलै (औदीच्य) एक वानरी और उसके बच्चे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वानरी के बच्चे को सुरक्षित स्थान में पहुँचने के लिए अपनी मां के पेट को मजबूती से पकड़ना पड़ता है। टेङ्कले (दाक्षिणात्य[1]) बिल्ली और उसके बच्चे का उदाहरण देते हैं। बिल्ली बच्चे को पकड़ लेती है और सुरक्षित स्थान में

---

१. यह विवरण विशिष्टाद्वैतिन्, भाग १, संख्या ८ पृ. २०० एवं जे० आर० ए० एस०, १९१० पृ० ११०३ में श्री गोविन्दाचार्य के लेख पर आधारित है।

ले जाती है और बच्चे को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पहले उदाहरण में सिद्धान्त यह है कि मुक्ति की प्रक्रिया का आरम्भ मुमुक्षु व्यक्ति के कर्म के साथ होना चाहिए। दूसरे में यह प्रक्रिया स्वयं ईश्वर से प्रारम्भ होती है। इसी भेद के अनुरूप उभय सम्प्रदायों का प्रपत्ति- विचार भी है। पहला सम्प्रदाय (औदीच्य) यह मानता है कि प्रपत्ति भक्त द्वारा आश्रित अनेक मार्गों में से एक है तथा उसी से प्रारम्भ होती है। दक्षिणात्य संप्रदाय यह मानता है कि यह मार्ग नहीं है अपितु मनःस्थिति है। यह उन सबमें होती है, जो पूर्णता का अन्वेषण करते हैं, तथा इसके आगे अन्य समस्त मार्गों का परित्याग कर देते हैं। अन्य मार्गों का आश्रय लेने वाले उस उचित मनः-स्थिति पर नहीं पहुँचते जो ईश्वर की ओर ले जाती है। जब कोई इस मनःस्थिति में होता है तब भगवान् स्वयं उसे अपना लेते हैं, जबकि अन्य मार्गों द्वारा लोग उसे प्राप्त करना चाहते हैं। वडकलै यह बतलाते हैं कि प्रपत्ति उन लोगों के लिए है जो कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग जैसे इतर मार्गों पर नहीं चल सकते, जब कि तेङ्कलै यह निर्धारित करते हैं कि सब लोगों के लिए चाहे वे समर्थ हों या न हों, अन्य मार्गों का अनुभव करना आवश्यक है। प्रथम संप्रदाय कहता है कि व्यक्ति जब अपने द्वारा अपनाये गये अन्य मार्गों को निष्फल समझे, तब वह ईश्वर को आत्म-समर्पण कर दे। दूसरे संप्रदाय का मत है कि ईश्वर के समक्ष आत्म-समर्पण अन्य मार्गों को अपनाने के पहले होना चाहिए। आत्म-स्वीकरण पहले की विशेषता है, परन्तु दूसरे ने इसे त्याग दिया है तथा आत्म-निक्षेप का विधान किया है। औदीच्य कहते हैं कि प्रपत्ति की ऊपर निर्दिष्ट ६ विधियों का प्रपत्ति के पूर्व सेवन करना चाहिए; उनसे प्रपत्ति का उद्भव होता है; दाक्षिणात्य कहते हैं कि पहले प्रपत्ति और तब छह विधियों को आना चाहिए। औदीच्य संप्रदाय यह शिक्षा देता है कि केवल शब्द-संलाप में निम्न-जाति के लोगों के साथ सद्व्यवहार होना चाहिए। दाक्षिणात्यों का कहना है कि उन्हें प्रत्येक विषय समान व्यवहार प्राप्त होना चाहिए। वडकलै के अनुसार अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश जब ब्राह्मणेतरों को दिया जा रहा हो तब उसमें से 'ओं' अक्षर हटा देना चाहिए; पर टेङ्कलै यह भेद नहीं करते तथा सभी लोगों के लिए सम्पूर्ण मन्त्र को एक ही रूप में दिये जाने का विधान[१] करते हैं।

यहाँ पर दिये गये संक्षिप्त सार से यह प्रकट होगा कि रामानुज ने अपनी तत्त्व-मीमांसा को उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र के वचनों से निकाला है, जब कि उनका बाह्य-जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त वही है, जो कि पुराणों ने माना है तथा जो सांख्य-मत के चौबीस तत्त्वों पर आधारित है। उनका वैष्णव-धर्म, नारायण एवं विष्णु तत्त्वों से युक्त प्राचीन पाञ्चरात्र या वासुदेव-मत है। उनके संप्रदाय के साहित्य में 'विष्णु' का नाम बहुत अधिक नहीं मिलता। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम 'नारायण' है, यद्यपि जब परमात्मा एवं व्यूहों का वर्णन किया गया है, तब 'वासुदेव' शब्द को उसका उचित

१. यह मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' है।

स्थान प्राप्त हुआ है। गोपालकृष्ण नाम की अनुपस्थिति तो सुस्पष्ट है। रामानुज संप्रदाय उस घृणित स्वरूप से मुक्त है, जिसको राधा एवं अन्य गोपियों के प्रवेश के उपरान्त वैष्णव धर्म ने ग्रहण कर लिया था। राम भी प्रिय देव प्रतीत नहीं होते। रामानुज के परमात्म-प्राप्ति-विषयक सिद्धान्त वही हैं जो भगवद्गीता के हैं या वे उन सिद्धान्तों के परिवर्धित रूप हैं। परन्तु इस मत में भक्ति का रूप घटा कर परमात्मा के निरन्तर चिन्तन का रूप दे दिया गया है। इस प्रकार यह भक्ति बादरायण द्वारा वर्णित उपासना के समान है। यहाँ पर भक्ति का अर्थ ईश्वर विषयक असीम अनुराग नहीं है, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, यद्यपि ध्यान (जिसका यहाँ पर उल्लेख किया गया है) अव्यक्त रूप से प्रेम की भावना का ही बोधक है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज भक्ति के पारम्परिक प्रकार को पूर्ण ब्राह्मण परक रूप प्रदान करना चाहते थे। यह बात स्पष्ट रूप से बड़कलै के सिद्धान्तों में देखी जा सकती है जब कि टेङ्कलै या दाक्षिणात्य अधिक उदार हैं तथा उन्होंने अपने मत का इस तरह का स्वरूप बनाया है कि वह शूद्रों के लिए भी लागू हो सके। रामानन्द के शिष्यों एवं मराठा सन्त तथा उपदेशक नामदेव और तुकाराम का वर्णन करते समय हम देखेंगे कि शूद्र भी अपने पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

आचार्य या उपदेशक के समक्ष पूर्ण आत्मनिक्षेप करने, स्वयं कुछ भी न करने तथा मुक्ति के निमित्त जो भी कुछ आवश्यक है वह सब आचार्य द्वारा किये जाने का अर्थ पंचक में दिया गया ईश्वर-प्राप्ति का पंचम उपाय संदेहग्रस्त प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त का ईसाई सिद्धान्त ईसा के क्लेश (लेखक के शब्दों में मुक्ति के लिए आवश्यक उस प्रक्रिया में से होकर गुजरना, जिसमें भक्त अपने उद्धारक में पूर्ण विश्वास रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता) से विलक्षण साम्य है। यदि रामानुज के समय में या उनसे पहले भारत में मद्रास के आसपास ईसाई धर्म का प्रचलन सिद्ध हो जाता है तो प्रपत्तिवाद तथा इसकी अनेक अच्छी बातों को ईसाईधर्म के प्रभाव से आया हुआ माना जा सकता है। रामानुज सम्प्रदाय का नाम श्री सम्प्रदाय है।

मध्व या आनन्दतीर्थ

ग्यारहवीं शताब्दी तथा बाद में वैष्णव आचार्यों का महान् लक्ष्य मायावाद या जगत् के मिथात्व का खण्डन करना तथा दृढ़ आधार पर भक्ति के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना था। रामानुज ने अपने मत का प्रतिपादन करके यह कार्य सम्पन्न किया, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उपनिषदों के आधार पर ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित इस सिद्धान्त से, कि ब्रह्म, जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है अपने सिद्धान्त की सङ्गति बैठाने के निमित्त उन्होंने ईश्वर के संश्लिष्ट व्यक्तित्व की स्थापना की और जीव एवं जड़ जगत् को उनका शरीर बतलाया। ईश्वर के स्वतन्त्र माहात्म्य को घटाने की इस प्रवृत्ति पर मध्व ने आपत्ति उठायी और उन्होंने ईश्वर के जगत् का उपादान-कारण होने का खण्डन किया। उस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा

करने वाले बादरायण के सूत्रों की व्याख्या उन्होंने एकदम भिन्न प्रकार से की है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र का ही खण्डन कर दिया होता परन्तु वे ऐसा नहीं कर सके, क्योंकि उनसे पहले ही धार्मिक सत्य के सम्बन्ध में इस कृति को निर्विवाद प्रमाणिकता प्राप्त हो चुकी थी। अतएव उन्हें यह प्रदर्शित करना पड़ा कि उनका मत ब्रह्मसूत्र से विपरीत नहीं है। उन्होंने इन सूत्रों को स्वीकार कर लिया किन्तु इनकी अपने अनुकूल व्याख्या की। जो उपनिषद्-वाक्य उनके सिद्धान्त से नहीं मिलते थे उनके साथ भी उन्होंने यही किया। शङ्कर के अद्वैत एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध में उन्होंने पाँच नित्य भेदों का वर्णन किया : (१) ईश्वर तथा जीवात्मा, (२) ईश्वर तथा जड़ जगत्, (३) जीवात्मा तथा जड़ जगत्, (४) एक जीवात्मा तथा दूसरी जीवात्मा, (५) एक जड़ पदार्थ और दूसरा जड़ पदार्थ। त्रिविक्रम के पुत्र नारायण-विरचित माधवविजय के अनुसार रजतपीठ नगर में मध्यगेह नाम से विख्यात एक परिवार था। मध्व के पिता मध्यगेहभट्ट[1] कहलाते थे। मध्व का बचपन का नाम वासुदेव था। ब्राह्मण के लिए निर्धारित सामान्य शिक्षा पाने के उपरान्त वासुदेव को अच्युतप्रेक्षाचार्य ने संन्यासी रूप में दीक्षित कर लिया। दीक्षा के उपरान्त मध्व हिमालय में स्थित बदरिकाश्रम गये तथा दिग्विजयी राम एवं वेद-व्यास की प्रतिमाएँ लाये। राजाओं की उपस्थिति में उन्हें आचार्य के उच्च पद पर बैठाया गया। आनन्दतीर्थ ने मायावादियों तथा अन्यों को परास्त करते हुए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में भ्रमण किया और वैष्णवधर्म की प्रतिष्ठा की। पद्मनाभतीर्थ, नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ तथा अक्षोभ्यतीर्थ उनके शिष्य थे। राम एवं सीता की मूल प्रतिमाएँ लाने के निमित्त नरहरि तीर्थ उड़ीसा में जगन्नाथपुरी भेजे गये थे। आनन्दतीर्थ के अन्य नाम पूर्णप्रज्ञ एवं मध्यमन्दार (या मध्य परिवार की इच्छा पूरी करने वाले वृक्ष) थे।

कतिपय मठों में सुरक्षित सूची में उनकी मरण-तिथि शकाब्द ११९९ दी गई है, तथा चूँकि वे ७९ वर्ष जीवित रहे अतः उनकी जन्मतिथि शकाब्द १०४० बतलाई गई है। परन्तु ये कथन सन्देह-ग्रस्त हैं। गञ्जाम जिले के शीकाकुलम् तालुका में श्रीकूर्मम् के कूर्मेश्वर मन्दिर में एक अभिलेख है, जिसमें नरहरितीर्थ द्वारा एक राम मन्दिर के निर्माण कराने तथा उसमें १२०३[2] शकाब्द में योगानन्द नरसिंह की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराने का वर्णन है। उसमें उल्लिखित प्रथम व्यक्ति हैं पुरुषोत्तमतीर्थ, जो अच्युतप्रेक्ष ही हैं[3]। उनके बाद उनके शिष्य आनन्दतीर्थ और अन्त में आनन्दतीर्थ के शिष्य

---

१. दक्षिण कन्नड़ जिले में उड़िपि तालुका के अन्दर कल्यानपुर को मध्व की जन्म-भूमि बतलया गया है। संभवतः यह मध्वविजय (इम्पी. गजे. भाग १४ पृ० ३१४) का रजतपीठ ही है।

२. एपि. इण्डि. भाग ६, पृ० २६०

३. मध्वविजय ६. ३३

नरहरितीर्थ का उल्लेख है। कुछ लोगों ने इस अभिलेख के नरहरितीर्थ को उड़ीसा का शासक माना है। परन्तु ऐसा उनके और लगभग वैसे ही नाम वाले एक राजा नरसिंह के बीच भ्रम हो जाने से हुआ है। नरसिंह शकाब्द ११९१ से १२२५ तक इस प्रदेश के वास्तविक शासक थे। स्वयं नरहरितीर्थ के श्रीकूर्मम् के एक अभिलेख में नरसिंह का उल्लेख है। इसमें शकाब्द १२१५ उत्कीर्ण है, जिसे राजा के शासन का अठारहवाँ वर्ष बतलाया गया है[1]। यह राजा नरसिंह द्वितीय था। अलंकार-शास्त्र के ग्रंथ एकावली[2] में इसकी वन्दना की गयी है। दूसरे अभिलेखों में उल्लिखित नरहरितीर्थ की अन्य तिथियाँ शकाब्द ११८६ से १२१२ के बीच पड़ती हैं।[3] इन अभिलेख साक्ष्यों द्वारा इस परम्परा की पुष्टि होती है कि आनन्दतीर्थ ने नरहरितीर्थ को उड़ीसा भेजा था। ऐसा लगता है कि वहाँ पर उन्हें उच्चपद प्राप्त था।

अब यदि नरहरि तीर्थ की क्रियाशीलता का काल शकाब्द ११८६ से लेकर शकाब्द १२१५ तक था तो फिर उनके गुरु की मृत्यु शकाब्द १११९ में ही अर्थात् उनसे पूरे ६७ वर्ष पूर्व नहीं होनी चाहिए। अतएव यही उचित प्रतीत होता है कि 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' में मध्व की जो तिथि दी गयी है (कलि सं० ४३००) उसे ही उनके जन्म की सही तिथि मानी जाये। यह तिथि शकाब्द ११२१ में पड़ती है। कुछ लोग संवत् के चालू वर्ष का प्रयोग करते हैं और कुछ लोग विगत वर्ष का। इस प्रकार हम उक्त तिथि को शकाब्द १११९ के बराबर मान सकते हैं जो आनन्दतीर्थ की सूचियों में दी गयी मरण-तिथि है। इस तिथि को उनकी मरण-तिथि मानने की अपेक्षा उनकी जन्म-तिथि मानना होगा। तत्कालीन विवरण के अनुसार वे ७९ वर्षों तक जीवित रहे। अतएव उनकी मृत्यु शकाब्द ११९८[4] में निर्धारित की जानी चाहिए। इस प्रकार इन दो तिथियों को सुनिश्चित मानना चाहिए। इस तरह आनन्दतीर्थ तेरहवीं शताब्दी के प्रथम तीन चरणों में विद्यमान थे। सूचियों के अनुसार उनके उत्तराधिकारी पद्मनाभतीर्थ थे, जो सात वर्षों तक अर्थात् शकाब्द १२०५ तक

---

१. एपि. इण्डि. भाग ६, पृ० २६२, टिप्पणी

२. त्रिवेदी के 'एकावली' के संस्करण में मेरी टिप्पणी

३. एपि. इण्डि. भाग ६ पृ. २६६

४. यह तिथि दक्षिण कन्नड़ में मुल्कि के समीप फलमारु मठ में प्रचलित इस परम्परा से मेल खाती है कि आनन्दतीर्थ का जन्म शकाब्द ११९९ में तथा मृत्यु शकाब्द ११९९ में हुई थी। एपि० इण्डि० भाग ६, पृ० २६३, टिप्पणी।

५. माध्व संप्रदाय-विषयक यह विवरण बम्बई के जावजी दादाजी द्वारा निर्णयसागर मुद्रणालय में मुद्रित तथा शकाब्द १८१५ (१८८३ ई०) में कुम्भकोणम् में प्रकाशित पद्मनाभ सूरि विरचित मध्वसिद्धान्तसार से उद्धृत किया गया है। अनावश्यक विवरणों को छोड़ दिया गया है।

महन्त पद पर रहे। उनके उतराधिकारी नरहरितीर्थ नौ वर्षों तक अर्थात् शकाब्द १२१४ तक महन्त रहे। यदि हम कलि-संम्वत् की सूक्ष्म व्याख्या के आधार पर मध्व की तिथि ११२१ माने तो नरहरितीर्थ १२१६ तक महन्त पद पर रहे होंगे। हम देख चुके हैं कि अभिलेखों में उल्लिखित उनकी सबसे बाद की तिथि शकाब्द १२१५ है।

माध्वों ने वैशेषिक-पद्धति का अनुसरण किया एवं समस्त सत् पदार्थों को कुछ संशोधनों के साथ द्रव्य गुण आदि श्रेणियों में विभक्त किया। ईश्वर द्रव्य है। परमात्मा असंख्य या अनन्तगुणों से युक्त है। उसके कार्य आठ प्रकार के हैं (१) सर्जन, (२) पालन, (३) विनाश, (४) समस्त भूतों का नियन्त्रण, (५) ज्ञान प्रदान करना, (६) स्वयं को प्रकाशित करना, (७) भूतों को जगत् के बंधन में बाँधना और (८) उनका उद्धार करना। वह सर्वद्रष्टा, सर्वशब्दाभिव्यंज्य, एवं जीव और जड़ जगत् से पूर्णतया भिन्न है। वह ज्ञानानन्दादिमय शुद्धस्वरूप है। वह सर्ववस्तुविनिर्मुक्त तथा भिन्न-भिन्न स्वरूपों को ग्रहण करता हुआ केवल एक है। उसके समस्त स्वरूप उसके पूर्ण प्रकाशन है तथा वह गुणों, अवयवों एवं कर्मों में अपने अवतारों से अभिन्न है। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न हैं परन्तु वे पूर्णतया उस पर आश्रित हैं। वे परमात्मा की तरह नित्य एवं मुक्त हैं और इस प्रकार उनकी शक्ति हैं। उनके अनेक रूप हैं परन्तु वे जड़ शरीर से युक्त नहीं हैं और इस प्रकार वे परमात्मा के समान हैं तथा सर्वशब्दाभिव्यंज्य और देशकालव्यायक हैं अर्थात् ये परमात्मा की अनुषङ्गिनी हैं। जीव सामान्य जीवनचक्र को पूरा करते हैं तथा अज्ञानादिदोषयुक्त हैं। जीव असंख्य हैं; कुछ (ऋजुः) ब्रह्मत्व प्राप्त करने के योग्य हैं तथा अन्य रुद्र, गरुड़, असुर एवं दैत्य आदिका ऐश्वर्य प्राप्त करने योग्य हैं। वे तीन प्रकार के हैं : (१) ब्रह्मत्व प्राप्त करने योग्य, (२) सदा जीवन चक्र में रहने वाले तथा (३) अन्धकार की स्थिति में रहने योग्य। देव, ऋषि, पितर तथा उत्तम मनुष्य प्रथम कोटि में आते हैं, साधारण मनुष्य द्वितीय कोटि में तथा दैत्य प्रेत और परम क्रूर मनुष्य आदि तीसरी कोटि में। ये सब जीवात्मायें एक दूसरे से तथा परमात्मा से भिन्न हैं। सृष्टि का आरम्भ तब होता है, जब परमात्मा प्रकृति की साम्यावस्था को भंग करता है। पुराणों द्वारा संशोधित सांख्य मत के अनुरूप सृष्टि का तब तक विकास होता रहता है, जब तक कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति नहीं हो जाती। तदनन्तर चेतन एवं अचेतन पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिष्ठित करके परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो जाता है। तब सहस्र दिव्य वर्षों की समाप्ति पर उसकी नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है, जो कि चतुर्मुख ब्रह्मदेव का आसन है। चतुर्मुख ब्रह्मदेव से बहुत समय के उपरान्त सामान्य सृष्टि का प्रारम्भ होता है।

समस्त ज्ञान का उदय परमात्मा से होता है, उसके साधन चाहे कुछ भी हो। यह ज्ञान दो प्रकार का है—सांसारिक जीवन की ओर ले जाने वाला और दूसरा मोक्ष-दायक। विष्णु अज्ञानियों को ज्ञान तथा ज्ञान सम्पन्न पुरुषों को मोक्ष प्रदान करते हैं।

---

१. 'ऋजुस्' देवों का एक वर्ग है।

सांसारिक जीवन की ओर ले जाने वाला ज्ञान वह है जो देह, पुत्र और कलत्र में आसक्ति उत्पन्न करता है। यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। अपितु अज्ञान है, जिसका परिणाम सांसारिक जीवन होता है। इस अज्ञान का नाश भगवान् के ज्ञान से होता है। सेवा-विधि के उपायों से हरि के साक्षात् ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु यह उपयुक्त शरीर द्वारा ही प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्ष दर्शन ब्रह्मदेव से लेकर उत्तम मनुष्यों तक समस्त सद्-आत्माओं के लिए संभव है तथा अनेक उपायों से प्राप्त किया जा सकता है। मोक्ष-दायक प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ये बातें आवश्यक हैं—(१) वैराग्य अर्थात् संसार की नश्वरता के दर्शन एवं सत्सङ्गति से इस लोक या परलोक के आनन्दों के प्रति विरक्ति; (२) शम एवं दम आदि; (३) ज्ञान से संसर्ग; (४) शरणागति, जिसमें अपना मन सर्वभूतों में उत्तम भगवान् में लगाया जाता है और अत्यधिक प्रेम से परिपूर्ण रहता है; प्रत्येक वस्तु भगवदर्पित कर दी जाती है; तीन प्रकार से भक्तिपूर्वक भगवान् की पूजा की जाती है; यह विश्वास रहता है कि भगवान् निश्चय ही रक्षा करेंगे तथा भक्त भगवान् का है; (५) गुरु की शुश्रूषा तथा उनकी आराधना, जो कि मुक्ति के लिए अनिवार्य है; (६) गुरु से ज्ञान की प्राप्ति, न कि ग्रन्थों से; गुरु के न होने पर किसी वैष्णव से तथा यदा-कदा ग्रन्थों से भी; (७) प्राप्त उपदेश का मनन; (८) योग्यता क्रम से अपने आचार्य एवं अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा पूज्य जनों के प्रति भक्ति; (९) परमात्मा की महनीयता एवं सर्वोत्कृष्टता के ज्ञान से प्रतिफलित परमात्मभक्ति; यह भक्ति दृढ़ होनी चाहिए तथा अन्यों के प्रति जो भक्ति है उस सबसे उत्कृष्ट होनी चाहिए। यह भक्ति मोक्षदायिनी है; (१०) अपने से छोटे परन्तु सत्पुरुषों के प्रति सहानुभूति, समकक्ष लोगों के साथ आत्मवत् प्रेम-भाव तथा श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान; (११) बिना किसी इच्छा के, विचारपूर्वक विधानों एवं संस्कारों का सम्पादन, जिससे आत्मशुद्धि होती है; (१२) निषिद्ध कर्मों (छोटे बड़े पापों) का परित्याग; (१३) प्रत्येक कर्म का भगवान् में अर्पण, जैसे कि वे भगवान् ने ही किये हैं, स्वयं ने नहीं; (१४) भूतों की अपेक्षिक स्थिति तथा सर्वोत्तम भूत के रूप में विष्णु की स्थिति का ज्ञान; (१५) पहले उल्लिखित पाँच भेदों का ज्ञान; (१६) प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य, नारायण से लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी अपनी शक्ति सहित पुरुष हैं तथा जड़ जगत् प्रकृति है; (१७) असत्य सिद्धान्तों की गर्हा और (१८) उपासना। उपासना दो प्रकार की है—(१) शास्त्रों का अध्ययन (२) निदिध्यास। प्रत्येक वस्तु का निराकरण करके मन के नेत्रों के सामने भगवान् को रखना निदिध्यास है। यह निदिध्यास उसी व्यक्ति के लिए संभव है, जिसे किसी वस्तु के पठन, श्रवण तथा मनन द्वारा अज्ञान, संशय एवं भ्रम के दूर हो जाने पर अधिगत वस्तु का स्पष्ट ज्ञान हो। कुछ व्यक्ति एक आत्मा के रूप में भगवान् का निदिध्यास करते हैं तथा कुछ सत्, आनन्द, चित्, एवं आत्मा, इन चार रूपों में भगवान् का निदिध्यास करते हैं। तदनन्तर देवों एवं ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित कतिपय लोगों द्वारा आश्रित निदिध्यासनों

का वर्णन किया गया है। ये समस्त अठारह मार्ग भगवान् के प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर ले जाते हैं, जो ब्रह्मदेव से लेकर मनुष्यों तक सभी के लिए संभव है। मनुष्यों द्वारा प्राप्त भगवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान विद्युत्स्फुरण तुल्य तथा देवों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान सूर्य के प्रभा-मण्डल सदृश है। गरुड एवं रुद्र का यह ज्ञान प्रतिबिम्ब के रूप में है। ब्रह्मदेव को समस्त अंगों सहित सम्पूर्ण ज्ञान है। कुछ लोगों को भगवान् का इस रूप में ज्ञान है कि वे जगत् में निवास करते हैं तथा जगत् से परिच्छिन्न हैं। यह प्रत्यक्ष ज्ञान केवल मानस है।

मध्व के अनुयायी अपने ललाट पर एक चिह्न धारण करते हैं। उसमें गोपीचन्दन से बनायी गयी दो श्वेत खड़ी रेखाएँ होती हैं, दोनों के बीच में एक कृष्ण रेखा होती है, जिसके मध्य में एक रक्त बिन्दु रहता है और नासा-वंश पर दोनों श्वेत रेखाओं को एक खड़ी रेखा जोड़ती है। अपने कन्धों और शरीर के अन्य भागों में वे इसी सफेद मिट्टी से बने शंख, चक्र, गदा एवं विष्णु के अन्य आयुधों के चिह्न धारण करते हैं। कभी-कभी तप्त धातु से उनकी त्वचा पर चिह्न अंकित कर दिये जाते हैं, जो स्थायी बन जाते हैं। इस मत के मानने वाले बम्बई राज्य के कन्नड़ी जिलों, मैसूर तथा पश्चिमी तट पर गोआ से लेकर दक्षिण कर्नाटक तक बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं तथा उत्तर भारत में कम हैं। इस मत के प्रसार एवं रक्षा के निमित्त दक्षिण कर्नाटक में आठ मठ हैं और भीतरी भाग में तीन। इनमें से कुछ की स्वयं आनन्दतीर्थ ने स्थापना की थी।

आनन्दतीर्थ ने ३७ विभिन्न ग्रन्थों की रचना की[१]। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने जिन प्रमाणों को दिया है, उनमें पाञ्चरात्र-संहितायें भी हैं। परन्तु ऊपर दिये गये विवरण से यह दिखलायी पड़ता है कि उनके मत में वासुदेव एवं अन्य व्यूहों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्होंने परमात्मा का वर्णन अधिकतर विष्णु नाम से किया है और कतिपय अवतारों विशेषकर राम एवं कृष्ण की भी वन्दना की है। परन्तु गोपाल-कृष्ण तत्त्व का उनके मत में पूर्णतया अभाव है और राधा एवं गोपियों का भी उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार ऐसा मालूम पड़ता है कि आनन्दतीर्थ ने पाञ्चरात्र या भागवत-मत को अलग रखा। उनके समय प्राचीन भागवत सम्प्रदाय (वासुदेव मत) शनैः शनैः तिरोहित हो रहा था तथा उसका स्थान सामान्य वैष्णवधर्म ले रहा था।

निम्बार्क

इस तरह ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिण में वैष्णवधर्म ने जो स्वरूप ग्रहण किया था उसे हमने देखा। भक्ति की दृढ़ भावना एवं मायावाद के भयंकर परिमाणों का भय इस नूतन मार्ग के निर्देशक तत्त्व थे। इसका प्रभाव उत्तर की ओर फैला। इस नवीन मार्ग में सम्प्रदायप्रवर्तकों के दो वर्ग

---

१. इनके नामों के लिए देखिये मेरी 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' वर्ष १८८२-८३, पृष्ठ २०७ में ग्रन्थमालिकास्तोत्र।

दिखलायी पड़ते हैं, (१) जिन्होंने संस्कृत में लिखा तथा (२) जिन्होंने अपने मत के प्रचारार्थ जन भाषाओं का प्रयोग किया। संस्कृत में लिखने वालों में सर्वप्रथम निम्बार्क उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि निम्बार्क जन्मना तैलङ्ग ब्राह्मण थे तथा निम्ब[1] नामक गाँव में (जो संभवतः बेल्लारी जिले का निम्बपुर ही है) रहते थे। उनका जन्म वैशाख शुक्ल तृतीया को हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ था जो भागवत थे, तथा माता का नाम था सरस्वती[2]। उनके अनुयायियों का विश्वास है कि वे विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार थे। वे कब हुए, इस बात के निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि वे रामानुज के कुछ समय उपरान्त हुए होंगे[3]। निम्बार्क ने वेदान्तपारिजातसौरभ (जो कि ब्रह्मसूत्र की लघु व्याख्या है)

---

१. १८८४–८७ के संग्रह की हस्तलिपि संख्या ७०६। निम्बार्क 'निम्ब के सूर्य' थे।

२. दशश्लोकी की हरिव्यासदेवकृत टीका की भूमिका। खेद की बात है कि टीकाकार ने निम्बार्क की जन्मतिथि नहीं दी है।

३. 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' वर्ष १८८२-८३ में मैंने धर्मगुरुओं की दो वंशावलियाँ दी हैं—(१) आनन्दतीर्थ के सम्प्रदाय की (पृष्ठ २०३) और (२) निम्बार्क के सम्प्रदाय की (पृष्ठ २०८–१२)। इसमें ३७ नाम हैं। १८८४–८७ के संग्रह की हस्तलिपि सं० ७०९ में एक अन्य वंशावली है, जिसमें ४५ नाम हैं। दोनों ही वंशावलियाँ हरिव्यासदेव ३२ तक मिलती हैं, उसके बाद पहली में ५ नाम हैं और दूसरी में १३। किन्तु ये नाम मेल नहीं खाते। इससे प्रकट होता है कि हरिव्यासदेव के बाद वंश की दो शाखाएँ हो गईं। उसी संग्रह की हस्तलिपि सं० ७०९ संवत् १८०६ (१७५० ई०) में लिखी गई थी जब कि गोस्वामी दामोदरजी जीवित थे। वे नई शाखा में निम्बार्क के बाद तैंतीसवें गुरु थे। आनन्दतीर्थ के बाद तैंतीसवें गुरु की मृत्यु १८७९ में हुई थी। हमारी संशोधित तिथि के अनुसार आनन्दतीर्थ की मृत्यु १२७६ ई० में हुई। इस प्रकार उनके ३३ उत्तराधिकारी ६०३ वर्ष रहे। यदि हम मान लें कि निम्बार्क के ३३ उत्तराधिकारी भी उतने ही समय रहे और दामोदर स्वामी, जो १७५० ई० में जीवित थे, १५ वर्ष जीवित रहे और १७६५ ई० में ६०३ वर्ष निकाल दें तो ११६२ ई० निम्बार्क की जन्मतिथि होगी। इस प्रकार वे रामानुज के बाद के हुए। हमारी यह गणना निःसन्देह बहुत सामान्य है। ७०६ संख्यक हस्तलिपि की तिथि, जिसे कुछ लोग १९१३ पढ़ते हैं किन्तु जो १८१३ जैसी दिखती है, हमारी इस गणना के विरुद्ध जाती है, क्योंकि दामोदर के पश्चात् नौ आचार्य और हुए। यदि इस हस्तलिपि की सही तिथि १८१३ हो तो इन आचार्यों का काल सात वर्ष का होगा, जो पर्याप्त नहीं है। किन्तु यदि उसको १९१३ पढ़ा जाय तो आचार्यों का काल १०७ वर्ष होगा जो पर्याप्त है।

तथा सिद्धान्तरत्न नामक दशश्लोकी (दस श्लोकों की एक लघु कृति) की रचना की। निम्बार्क के तुरन्त बाद श्रीनिवास ने वेदान्तपारिजातसौरभ पर भाष्य लिखा तथा आनुपूर्व्य सूची के बत्तीसवें हरिव्यासदेव ने सिद्धान्तरत्न पर। सूची के तेरहवें देवाचार्य ने सिद्धान्त-जाह्नवी की रचना की तथा उनके उत्तराधिकारी ने सिद्धान्तजाह्नवी पर सेतु नामक एक टीका लिखी। सूची के तीसवें व्यक्ति केशव कश्मीरी ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा।

निम्बार्क का वेदान्त-सिद्धान्त भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैतवादी है। जड़-जगत्, जीवात्मा एवं परमात्मा एक दूसरे से भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही हैं। अभिन्न वे इस अर्थ में हैं कि जड़-जगत् और जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु वे अपनी सत्ता और क्रिया के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं। ब्रह्मसूत्र के इस सिद्धान्त को कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है इस प्रकार समझना चाहिए : किसी कार्य का उपादान कारण होने का तात्पर्य है कि (१) उसमें उस कार्य के रूप ग्रहण करने की शक्ति है, (२) वह उस योग्य है। ब्रह्म उन विभिन्न शक्तियों से युक्त है जो जड़ एवं चेतन जगत् के स्वरूप में हैं। सूक्ष्म रूप में यही शक्तियाँ उसकी स्वाभाविक स्थिति है। इससे प्रथम आवश्यकता की पूर्ति होती है। इन शक्तियों में कार्य अर्थात् जगत् का मूलतत्त्व सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है। इससे दूसरी आवश्यकता की पूर्ति होती है। इन शक्तियों का अनुभव करते हुए तथा सूक्ष्म मूलतत्त्व को स्थूल रूप में लाकर ब्रह्म जगत् का उपादान कारण हो जाता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय ने रामानुज के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि जड़ और चेतन जगत् के रूप में ब्रह्म का संश्लिष्ट व्यक्तित्व है और जहाँ तक संश्लिष्ट व्यक्तित्व के शारीरिक पक्ष का सम्बन्ध है वहीं तक ब्रह्म उपादान कारण है।[१] इस मत के विशेष ज्ञान के लिए मैं दशश्लोकी का अनुवाद दे रहा हूँ।

१. जीव, ज्ञान है, हरि पर आश्रित है, शरीर से संयुक्त या पृथक् होने की दशा में रहता है, अणु है, भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न है, ज्ञाता है तथा असंख्य है।

यहाँ पर जीव को इसलिए ज्ञान कहा है कि इसे ज्ञानेन्द्रियों के बिना भी ज्ञान हो सकता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा ज्ञान मात्र है, तत्त्व नहीं है जैसा कि शङ्कराचार्य का सिद्धान्त है।

२. माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति, जो अनादि है, के संसर्ग के कारण जीवात्मा का स्वरूप विकृत हो जाता है। इसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ईश्वर की अनुकम्पा से होता है।

जीवात्मायें द्विविध हैं (१) मुक्त अथवा परम-आनन्दमयी स्थिति में (२) जीवन-चक्र में बद्ध। प्रथम के दो प्रकार हैं : (१) जो नित्य परमानन्दमयी स्थिति में है जैसे (अ) गरुड़, विष्वकसेन आदि, (आ) प्राणी रूप में माने गये मुकुट, कर्णभूषण

---

१. द्रष्टव्य, केशव की टीका, ब्रह्मसूत्र, १, ४, २३,

एवं वंशी; (२) जो जीवन-चक्र से मुक्त हैं। इनमें कुछ तो ईश्वर सायुज्य प्राप्त करते हैं तथा अन्य अपनी आत्मा के स्वरूप के प्रत्यक्ष से ही तुष्ट हो जाते हैं। इनके अनुरूप मुमुक्षु दो तरह के होते हैं: (१) जो ईश्वर का सायुज्य प्राप्त करना चाहते हैं और (२) अपनी आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष करना चाहते हैं।

३. अचेतन पदार्थ ३ प्रकार के हैं: (१) प्रकृति से जिनका उद्भव नहीं हुआ है, (२) प्रकृति से उद्भूत तथा (३) काल। प्रकृति से उद्भूत पदार्थों में श्वेत रक्त एवं कृष्णवर्ण की सामान्य भौतिक वस्तुएँ आती हैं।

प्रथम वर्ग में वे वस्तुएँ आती हैं, जिनका वर्णन आलंकारिक रूप से द्वितीय वर्ग की वस्तुओं के नामों द्वारा किया जाता है, जैसे परमात्मा की सूर्य सदृश प्रभा। यह प्राकृत प्रभा नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर के शरीर, कर, चरण, आभूषण, उद्यान, भवन, पार्श्ववर्ती स्थल आदि प्रथम वर्ग के हैं। वे अचेतन हैं, किन्तु प्रकृति से समुद्भूत नहीं हैं।[1]

४. मैं उस परब्रह्म कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जिसके नेत्र कमल-सदृश हैं, जो स्वभावतः सर्वदोष विनिर्मुक्त हैं, समस्त शुभगुणों के आगार हैं, व्यूह जिनके अवयव रूप हैं तथा जो सर्वपूजित हैं।

यहाँ पर उल्लिखित व्यूह वे ही हैं, जिनका वर्णन प्रायः पाञ्चरात्र एवं रामानुज मतों में किया गया है। भाष्यकारों ने इस शब्द में अवतारों को सन्निविष्ट माना है। एक भाष्यकार ने बड़ी संख्या में अवतारों का उल्लेख किया है और कुछ सिद्धान्तों के आधार पर इनके कई वर्ग किये हैं। कृष्ण को वरेण्य या पूज्य कहा गया है, क्योंकि वे पवित्र और दिव्य शरीर तथा सौन्दर्य, कोमलता, माधुर्य एवं ओज सदृश शारीरिक गुणों से सम्पन्न हैं। ये समस्त गुण वस्तुतः अप्राकृत हैं, यद्यपि श्लोक ३ के अनुसार अचेतन हैं।

५. मैं वृषभानु-सुता (राधिका) का ध्यान करता हूँ, जो कृष्ण के सदृश सौन्दर्य से युक्त हैं और उनके वाम-पार्श्व में द्योतित हो रही हैं। वे सहस्रों सखियों से सेवित हैं तथा सदैव समस्त इच्छित पदार्थ प्रदान करती हैं।

६. अज्ञानान्धकार से, जिससे वे आच्छादित हैं, मुक्ति पाने के लिए मनुष्यों को सदैव इस परब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। नारद इसी प्रकार के थे। उन्होंने सनन्दन आदि द्वारा उपदिष्ट पूर्ण सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया था।

७. चूँकि श्रुतियों एवं स्मृतियों के अनुसार ब्रह्म सर्वभूतात्मा है, अतः यह ज्ञान कि 'ब्रह्म सब कुछ है' यथार्थ ज्ञान है। यह वेदविदों का मत है तथा साथ ही साथ तीन स्वरूप भी सत्य हैं जैसा कि स्मृतियों एवं सूत्रों द्वारा निर्धारित किया गया है।

---

१. रामानुज आदि ने ईश्वर को दिव्य विशेषण के साथ जो पार्थिव लक्षण प्रदान किये हैं उनको इसी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ समस्त वस्तुओं में अद्वैत और साथ ही द्वैत का प्रतिपादन किया गया है; अद्वैत इस रूप में कि ब्रह्म सबमें है और सबका नियामक है तथा सबकी सत्ता एवं क्रियायें उसी के अधीन हैं; द्वैत इस रूप में कि तीन पृथक् तत्त्व हैं, जिनको श्लोक में ब्रह्म के तीन स्वरूप कहा गया है—जड़ जगत्, जीव और परमात्मा।

८. कृष्ण के चरण कमल के अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं दिखलाई पड़ता। ब्रह्मदेव, शिव आदि उनकी वन्दना करते हैं। भक्त की इच्छा पर कृष्ण ध्यान सुलभ रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनकी शक्ति और उनका सार अगोचर है।

९.उनकी अनुकम्पा का प्रसार उन लोगों में होता है, जिनमें दैन्य एवं अन्य गुण हैं। उस अनुकम्पा से भक्ति का उदय होता है, जिसमें उन अनीश्वर के प्रति अनन्य प्रेम की भावना रहती है। भक्ति दो प्रकार की है : एक उच्चतम भक्ति और साधन भक्ति। साधन भक्ति उच्चतम भक्ति का साधन है।

दैन्य-भाव एवं अन्य गुणों से यहाँ पर रामानुज मत के प्रसंग में दिये गये प्रपत्ति के ६ प्रकार अभिप्रेत हैं। उच्चतम भक्ति की ओर ले जाने वाली साधनरूप भक्ति का स्वरूप पहले उल्लिखित ६ या ९ विधियों जैसा है।

१०. भक्तों को इन पाँच वस्तुओं का ज्ञान होना चाहिए—(१) सत्ता के स्वरूप का ज्ञान, जिसकी पूजा की जाती है; (२) उपासक का स्वरूप; (३) ईश्वरानुकम्पा का फल; (४) भक्ति से फलित आनन्दानुभूति और (५) ईश्वर की प्राप्ति में प्रत्यवाय।

सत्ता का स्वरूप—परमात्मा सच्चिदानन्द है। उनका शरीर अभौतिक है। वे ब्रज में निवास करते हैं, जिसकी संज्ञा व्योमपुर है। वे समस्त भूतों के कारण हैं; सर्वशक्तिमान, मृदु तथा अपने भक्तों के प्रति दयालु एवं अनुकम्पायुक्त हैं।

उपासक का स्वरूप—वह अणु रूप है, ज्ञान और आनन्द से युक्त है तथा कृष्ण का दास है इत्यादि।

ईश्वर की अनुकम्पा का फल—आत्मनिक्षेप तथा आत्मनिक्षेप में परिणत होने वाली भगवत् सेवा के अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मों का परित्याग।

भक्ति से फलित आनन्दानुभूति—शान्ति, सेवावृत्ति, सौहार्द, वात्सल्य एवं उत्साह में इसका उदय होता है। इन मनोदशाओं से ईश्वर के साथ विशिष्ट संबंध स्थापित होता है जैसे कि वात्सल्य नन्द, वासुदेव एवं देवकी के भाव हैं तथा उत्साह राधा एवं रुक्मिणी के।

ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाय—शरीर को आत्मा समझना, ईश्वर एवं गुरु के अतिरिक्त अन्यों पर आश्रित होना, शास्त्रों में विद्यमान ईश्वर के आदेशों के प्रति विराग, अन्य देवों की उपासना, अपने विशिष्ट कर्तव्यों का त्याग, अकृतज्ञता, अप्रशस्त रूप में जीवन-यापन, सद्पुरुषों की निन्दा तथा अन्य अनेक बातें ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाय हैं।

इन दस श्लोकों में निम्बार्क मत का सार है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह रामानुज-दर्शन पर आधारित है और उसका एकपक्षीय का विकास है। इसमें उपर निर्दिष्ट ६ प्रकार की प्रपत्तियों के सिद्धान्त को प्रधानता दी गयी है और ईश्वर-विषयक अनुराग को ईश्वरानुकम्पा से उत्पन्न बतलाया गया है। साधन भक्ति में रामानुज मत के समस्त योगों को ग्रहण कर लिया गया है। रामानुज ने, जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं, भक्ति के मूल भाव को बदल दिया है तथा इसे उपासना या उपनिषदों में निर्धारित ध्यान के तुल्य प्रतिपादित किया है, परन्तु निम्बार्क ने मूल अर्थ कायम रखा है। उनके सिद्धान्त टेङ्कलै (दक्षिणात्य शाखा) के समीप हैं। इन दोनों उपदेशकों के बीच का प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ रामानुज ने स्वयं को नारायण तथा उनकी शक्तियों लक्ष्मी, भू, लीला तक ही सीमित रखा है वहीं निम्बार्क ने कृष्ण तथा सहस्रों सखियाँ द्वारा सेवित उनकी प्रिया राधा को प्रधानता प्रदान की है। इस प्रकार वैष्णव धर्म का चतुर्थ तत्त्व, जिसका हम उल्लेख कर चुके हैं, महत्त्वपूर्ण हो गया और उन सम्प्रदायों के अतिरिक्त जिनके उपास्य देव राम और कृष्ण हैं, बंगाल समेत सारे उत्तर भारत में फैल गया। अब हम उन सम्प्रदायों पर विचार करेंगे, जिनके उपास्य राम हैं तदन्तर कृष्ण मत पर पुनः आयेंगे। निम्बार्क के सम्प्रदाय का नाम सनक सम्प्रदाय (सनक द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय) है। निम्बार्क दक्षिणात्य थे किन्तु मथुरा के निकट वृन्दावन में निवास करते थे। इसी कारण उन्होंने वैष्णवधर्म में राधाकृष्ण को प्राथमिकता दी। उनके अनुयायी समस्त उत्तर भारत में फैले हैं किन्तु मथुरा और बंगाल में अधिक हैं। वे ललाट पर गोपीचंदन की दो लम्बी रेखाओं को धारण करते हैं, जिनके मध्य में एक कृष्ण विन्दु रहता है। वे तुलसी की लकड़ी की कण्ठी और माला धारण करते हैं। वे दो वर्गों में विभक्त हैं—संन्यासी एवं गृहस्थ। यह भेद कदाचित् हरिव्यासदेव के उपरान्त उत्पन्न हुआ क्योंकि उनके बाद ही (जैसा कि मैंने एक टिप्पणी में बतलाया है) निम्बार्क के अनुयायी दो शाखाओं में विभक्त हो गये थे।

रामानन्द

हिन्दू-समाज की निम्न जातियों एवं वर्गों के प्रति सहानुभूति की भावना, प्रारम्भ से ही वैष्णवधर्म की विशेषता रही है। यद्यपि आचार्यों ने इन जातियों एवं वर्गों को बाह्य मंडल तक ही सीमित रखा, फिर भी उन्हें नूतन व्यवस्था के लाभ मिल रहे थे। उनके लिए यह बन्धन नहीं था, जैसा कि विशुद्ध वेदान्ती कहते हैं, कि उन्हें अपनी जाति के लिए निर्दिष्ट कर्मों को करते रहना चाहिए, जिससे वे आगे के जीवनों में उत्तरोत्तर उठते हुए अन्त में ब्राह्मण के रूप में जन्म लेंगे और तभी मोक्ष के लिए निर्धारित नियमों का लाभ उठा सकेंगे। वे अधम जाति के होते हुए भी भक्ति के सहारे मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु, ब्राह्मण मतावलम्बी आचार्य रामानुज आदि ने

वैदिक ग्रन्थों पर आधारित उपायों को केवल उच्च जातियों के लिए निर्धारित किया और शेष उपायों को अन्य लोगों के लिए छोड़ दिया। बाद में रामानन्द ने मौलिक सुधार किये और ब्राह्मणों तथा निम्न जातियों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया। उनके अनुसार सभी लोग एक साथ भोजन भी कर सकते थे, यदि वे विष्णु के भक्त हों और सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिये गये हों। रामानन्द के द्वारा किया गया दूसरा सुधार नूतन मत के प्रचारार्थ जनभाषाओं का प्रयोग था। उनका तीसरा महत्त्वपूर्ण सुधार था कृष्ण-राधा की पूजा के स्थान पर राम-सीता की अधिक पवित्र और निर्मल पूजा को लागू करना।

श्री मैकोलिक रामानन्द का जन्मस्थान मैलकोट बतलाते हैं और उन्हें चौदहवीं शताब्दी के अन्त तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में रखते हैं। उनका कहना है कि यह अवधि उस गणना से मेल खाती है, जिसमें कबीर की जन्मतिथि १३९८ ई० दी गई है। इससे रामानन्द का समय चौदहवीं शताब्दी की समाप्ति के बहुत पहले निर्धारित होता है, क्योंकि कबीर रामानन्द के बाद हुए तथा प्रचलित मान्यता के अनुसार वे रामानन्द के शिष्य थे[१]। मैंने जिस प्रमाण का उपयोग किया है उसके अनुसार उनका जन्म प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम पुण्यसदन और माता का नाम सुशीला था। उनकी जन्मतिथि कलि संवत् ४४०० अर्थात् वि० सं० १३५६ दी गयी है। यह तिथि १२९९ या १३०० ई० में पड़ती है तथा इसकी इस अनुश्रुति से अधिक संगति बैठती है कि उनके एवं रामानुज के बीच में तीन पीढ़ियों का अन्तर था। रामानुज की मृत्यु की तिथि प्रायः ११३७ ई० मानी जाती है, यद्यपि ऐसा मानने पर रामानुज की आयु १२० वर्ष हो जाती है। ११३७ से लेकर १३०० ई० के बीच तीन पीढ़ियों का बीतना अधिक तर्कसंगत लगता है किन्तु ११३७ ई०और चौदहवीं सदी के बीच केवल तीन पीढ़ियों का होना उतना तर्कसंगत नहीं है। अतएव रामानन्द को चौदहवीं शताब्दी के अन्त में रखना नितान्त असंगत है। बहुत संभव है कि रामानन्द के सम्बन्ध में वह तिथि ठीक हो जिसका उल्लेख उस ग्रंथ में है, जिसका मैंने उपयोग किया है।

प्रयाग से रामानन्द को ब्राह्मणों में प्रचलित शिक्षा के निमित्त बनारस भेजा गया। शिक्षा को समाप्त करके वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य राघवानन्द के शिष्य हो गये। बाद में उन्होंने कतिपय नियमित आचरणों (जैसे इस प्रकार भोजन करना कि कोई देख न सके) का परित्याग कर दिया तथा अपने गुरु से सम्बन्ध तोड़

---

१. एम० ए० मैकोलिफ, दि सिक्ख रिलीजन, भाग ६, पृ० १००–१ मैकोलिफ श्री १९०८ ई० कोउसके सम्वत् के ५१० वें वर्ष के बराबर मानते हैं। 'उसके' से उनका तात्पर्य कबीर से रहा होगा।

२. अगस्त्य संहिता के अध्याय। रामनारायण दास कृत हिन्दी अनुवाद, जो सं० १९६० (१९०४ ई०) में पूर्ण हुआ था।

लिया और स्वयं एक संप्रदाय के संस्थापक बन गये। जैसा कि पहले बतला चुके हैं उन्होंने अधम जाति से भी अपने शिष्य बनाये। उनमें से तेरह प्रसिद्ध हुए। उनके नाम ये हैं: (१) अनन्तानन्द, (२) सुरसरानन्द, (३) सुखानन्द, (४) नरहरियानन्द, (५) योगानन्द, (६) पीपा, (७) कबीर, (८) भावानन्द, (९) सेना, (१०) धन्ना, (११) गालवानन्द, (१२) रैदास और (१३) पद्मावती। इनमें से पीपा राजपूत थे; कबीर शूद्र थे तथा उन्हें जुलाहा मुसलमान भी कहा गया है; सेना नाई थे; धन्ना जाट थे; रैदास मोची या चमार थे और पद्मावती स्त्री थी। प्रथम बारह शिष्यों के साथ तीर्थों की यात्रा करते हुए, मायावादियों, जैनों, बौद्धों आदि के साथ शास्त्रार्थ करके अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए, लोगों को अपने मत में दीक्षित करते हुए तथा उन्हें अपना शिष्य बनाते हुए रामानन्द ने देश का भ्रमण किया। कहा जाता है कि रामानन्द की मृत्यु विक्रम संवत् १४६७ अर्थात् १४११ ई० में हुई। इससे उनका जीवनकाल १११ वर्ष का हो जाता है जो कुछ असंभव सा लगता है। उनके कुछ शिष्य विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक हुए, जिससे रामोपासना गोपाल-कृष्ण पूजा की भाँति उत्तर तथा मध्य-भारत के विस्तृत भूभाग में फैल गयी।

कबीर

कबीर के जन्म और जीवन के विषय में परम्परा से जो थोड़े विवरण प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं। वे एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, जिसने उन्हें जन्म लेते ही लोक-लज्जा के कारण बनारस में लहरतारा तालाब के समीप फेंक दिया था। नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ संयोगवश उसी रास्ते से जा रहा था। नीमा ने शिशु को देखा और उसे घर ले गयी। दोनों ने कबीर का पालन-पोषण किया। जब कबीर बड़े हुए तो उन्होंने जुलाहे का पेशा अपनाया। उनका झुकाव हिन्दूमत की ओर हुआ और रामानन्द को गुरु बनाने का विचार उनके मन में आया। यह सोचकर कि रामानन्द मुसलमान को अपना शिष्य नहीं बनायेंगे उन्होंने एक युक्ति का सहारा लिया। वे गङ्गा के उस घाट पर, जहाँ रामाजन्द बहुत तड़के स्नान करते थे, लेट गये। रामानन्द आये और उनका पैर बालक कबीर के ऊपर पड़ गया। सहसा रामानन्द के मुँह से निकल पड़ा 'राम राम, जिसे मैंने कुचल दिया वह कितना दीन प्राणी है।' कबीर उठ खड़े हुए और उन्होंने 'राम राम' को रामानन्द द्वारा दिये गये मन्त्र के रूप में ग्रहण कर लिया और समझ लिया कि रामानन्द ने उन्हें शिष्य बना लिया गया है। दूसरा विवरण यह है कि पैर से दब जाने पर कबीर उठ खड़े हुए और जोर से चिल्लाये। तब रामानन्द ने उनसे शान्त होने और राम-नाम उच्चारण करने के लिए कहा। यह मानकर कि रामानन्द ने उन्हें इस प्रकार शिष्यरूप में स्वीकार कर लिया है, कबीर ने घोषणा कर दी कि वे

रामानन्द के शिष्य हैं और ईश्वर की आराधना में लग गये। कुछ हिन्दू रामानन्द के पास गये और उनसे पूछा कि क्या आपने कबीर को दीक्षित कर लिया है ? इस पर रामानन्द ने कबीर को बुलाया और पूछा कि मैंने तुम्हें कब दीक्षित किया ? कबीर ने घाट पर की घटना बतलायी। तब रामानन्द को उस बात का स्मरण आया और उन्होंने कबीर को हृदय से लगा लिया। तब से कबीर नियमित रूप से अपने गुरु के मठ में जाने लगे और उनके साथ पण्डितों से शास्त्रार्थ करने लगे। कुछ समय कबीर मानिकपुर में रहे, जैसा कि उनकी एक रमैणी से ज्ञात होता है। वहाँ पर उन्होंने शेख तक़ी और इक्कीस पीरों की कीति को सुना। उन्होंने उनके उपदेश सुने, उनकी शिक्षा की निन्दा की तथा कहा "ऐ शेख लोगो, जो भी तुम्हारा नाम हो मेरी बात सुनो, अपनी आँखें खोलो तथा समस्त वस्तुओं का आदि - अन्त तथा उनकी रचना एवं विनाश देखो।" इस सम्प्रदाय की एक पुस्तक में शेख तक़ी को कबीर का शत्रु, पीर तथा सिकन्दर लोदी का धार्मिक पथप्रदर्शक बतलाया गया है। उसकी सलाह पर शाहंशाह ने कबीर को यातना दी तथा उन्हें नष्ट करने के लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग किया। परन्तु कबीर चमत्कारित रीति से मृत्यु से बच निकले। अन्त में सिकन्दर से उनका मेल हो गया और वे उसके कृपापात्र बन गये।

कबीर की मृत्यु मगहर में हुई। उनके मृत शरीर, जो कि कपड़े के एक चादर से ढका हुआ था, के अन्तिम संस्कार के विषय में हिन्दुओं एवं मुसल्मानों में झगड़ा हो गया। जब उस चादर को हटाया गया, उनका शरीर तिरोहित हो चुका था तथा उसके स्थान पर फूलों का एक ढेर था। हिन्दू और मुसल्मानों ने फूलों को आधा-आधा बाँट लिया मुसल्मानों ने अपने हिस्से को मगहर में दफनाया और उसके ऊपर एक कब्र बनाई। हिन्दू अपना हिस्सा बनारस ले गये और वहाँ उसका दाह-संस्कार किया। कबीर के लोइ नामक पत्नी, कमाल नामक पुत्र एवं कमाली नामक पुत्री थी। परन्तु कबीर ने इन्हें कैसे पाया, इस विषय में चमत्कारी कहानियाँ हैं।

यह विवरण कितना ऐतिहासिक और कितना काल्पनिक है, कहना कठिन है। परन्तु प्रारम्भ में वे एक मुसलमान जुलाहे थे, इस बात को तथ्य माना जा सकता है। मुसल्मान पीर शेख़ तक़ी जिनका उल्लेख उनकी एक रमैणी में मिलता है, उनके प्रतिद्वन्द्वी थे, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। कबीर सिकन्दर लोदी के समय थे, इस बात को भी ऐतिहासिक माना जा सकता है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे या नहीं इसमें कुछ सन्देह है, जैसा कि अभी विचार किया जायेगा। श्री वेस्टकॉट इस बात को असंभव नहीं मानते कि कबीर मुसल्मान और सूफी[1] दोनों ही रहे हों। परन्तु उनकी समस्त रचनाओं में हिन्दूधार्मिक साहित्य में प्राप्त होने वाले नामों तथा हिन्दू रीति-रिवाजों से पूर्ण परिचय दिखलायी पड़ता है। इससे कबीर की शिक्षाओं का

१. जी. एच. वेस्टकॉट, कबीर एन्ड दि कबीर पंथ, कानपुर, १९०७, पृ० ४४

आधार मुस्लिम नहीं अपितु विशुद्ध रूप से हिन्दू प्रतीत होता है। कबीर एक साहसी और न झुकने वाले सुधारक थे। उन्होंने पण्डितों, जाति-अभिमानी ब्राह्मणों तथा हिन्दुओं के तत्कालीन संप्रदायों के उपदेशकों की भर्त्सना की और यहाँ वे मुस्लिम धर्म से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

विभिन्न लेखकों द्वारा दी गयी कबीर के जन्म एवं मृत्यु की तिथियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। श्री वेस्कॉट के अनुसार वे १४४० ई० से लेकर १५१८[1] ई० तक अर्थात् ७८ वर्षों तक रहे। श्री मैकोलिफ़ के अनुसार उनका जन्म सं० १४५५ अथवा १३९८[2] ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु १५१८ ई०[3] में हुई। इस प्रकार वे ११९ वर्ष पाँच महीने सत्ताईस दिन जीवित रहे। एक पाद टिप्पणी में उन्होंने एक मूल पुस्तक से १३७० शकाब्द अर्थात् १४४८ ई० को उनकी मृत्यु-तिथि के रूप में उद्धृत किया ह। १४८८ ई० से लेकर १५१७ ई० तक सिकन्दर लोदी दिल्ली की राजगद्दी पर था। ऊपर दी गयी तीन तिथियों में से अन्तिम तिथि इससे मेल नहीं खाती, अतः इसे छोड देना चाहिए। हम यह देख चुके हैं कि रामानन्द का जन्म १२९८ ई० तथा मृत्यु १४११ ई० में बतलायी जाती है। यदि कबीर के जन्म की श्री वेस्टकोट द्वारा बतलायी गयी तिथि सही है, तो फिर कबीर रामानन्द के शिष्य नहीं हो सकते। यदि श्री मैकोलिफ़ की तिथि मानी जाये तो वे रामानन्द के शिष्य हो सकते हैं, क्योंकि रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर १३ वर्ष के रहे होंगे। एक आख्यान के अनुसार कबीर उस समय बालक ही थे, जब वृद्ध महात्मा ने उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार किया। दोनों ही लेखकों द्वारा दी गयी उनकी मृत्यु-तिथि १५१८ ई० सही मानी जा सकती है। परन्तु यदि श्री मैकोलिफ़ द्वारा दी गई उनकी जन्म की तिथि भी स्वीकार कर ली जाए तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि कबीर ११९ वर्षों तक जीवित रहे; रामानन्द के प्रसंग में दी गयी तिथियों के अनुसार रामानन्द भी ११३ वर्षों तक जीवित रहे थे। क्या उन दोनों ने इतना लम्बा जीवन बिताया होगा ? इस बात पर भलीभाँति सन्देह किया जा सकता है। फिर भी जब तक अन्य प्रमाण नहीं मिलते, रामानन्द की पूर्वोल्लिखित तिथियों और कबीर की भी मैकोलिफ़ द्वारा दी गईं तिथियों को स्वीकार कर लेना चाहिये, यद्यपि १३ वर्ष की आयु में उन्होंने पण्डितों के साथ होने वाले अपने गुरु के शास्त्रार्थों में भाग नहीं लिया होगा। कबीर की कृतियों में, जहाँ तक मैंने देखा है, रामानन्द का नाम नहीं मिलता, यद्यपि परमात्मा के अर्थ में राम का नाम, राम के साथ जीव का सम्बन्ध एवं ईश्वर के विदेह या निर्गुण होने के सिद्धान्त का खण्डन ये सभी बात रामानन्द के सिद्धान्तों से ली गयीं होगीं, जो कि रामानुज के मत पर आधारित हैं।

---

१. कबीर एण्ड दि कबीर पंथ, तिथिक्रम, पृ० ७

२. दि सिक्ख रिलीजन, भाग ६, पृ० १२२.

३. वही, पृ० १३९–४०

अब हम कबीर[1] के उपदेशों के उदाहरण के लिए कतिपय स्थलों का अनुवाद दे रहे हैं :—

पहली रमैणी[2]

(१) अन्दर जीव या जीवात्मा नामक एक तत्त्व है। इसे अन्तर्ज्योति ने प्रकाशित किया। (२) इसके बाद तृष्णा नामक एक स्त्री आयी। उसे गायत्री कहते थे। (३) उस स्त्री से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तीन पुत्रों का जन्म हुआ। (४) तब ब्रह्मा ने उस स्त्री से पूछा तेरा पति कौन है और तू किसकी पत्नी है (५) उसने उत्तर दिया "तूं और मैं, मैं और तूं' और तीसरा कोई नहीं है। तू मेरा पति है और मैं तेरी पत्नी हूँ।" पिता और पुत्र दोनों की एक ही पत्नी थी तथा एक माता का द्विविध चरित्र था, ऐसा कोई भी पुत्र नहीं है जो कि अच्छा पुत्र हो और जो अपने पिता को पहचानने का साहस करे।

दूसरी रमैणी

(१) प्रकाश में शब्द था जो कि स्त्री थी। (२) स्त्री से हरि, ब्रह्मा एवं-त्रिपुरारि (शिव) हुए। (३) तब ब्रह्मा ने एक अण्डे की रचना की और उसे चौदह प्रदेशों में विभक्त कर दिया। (४–६) तब हरि, हर और ब्रह्मा तीन प्रदेशों में स्थित हो गये, तदन्तर उन्होंने समस्त ब्रह्माण्ड, ६ दर्शनों एवं ९६ मिथ्यादर्शनों की व्यवस्था की। उस समय कोई अपनी जीविका के लिए वेद नहीं पढ़ाता था और तुरुक मुसलमानी कराने नहीं आता था। (७) वह स्त्री अपने गर्भ से बच्चों को जन्म देती थी। वे विभिन्न व्यक्ति हो गये और उन्होंने कर्म के विविध मार्ग पकड़ लिये। (८) इसलिए मैं और तुम एक रक्त के हैं और एक ही जीवन हैं, भेद अविद्या से उत्पन्न होता है। (९) एक ही स्त्री से सबका उद्भव हुआ तब वह कैसा ज्ञान है जो उनमें अन्तर बतलाता है। (१३) (साखी) कबीर कहता है कि यह सामान्य जगत् नश्वर है। सब लोग बिना राम का नाम जाने भव-सागर में डूबे हैं।

कबीर का सृष्टि वर्णन इस प्रकार है। राम की ज्योति में एक तत्त्व था, जीवों की आत्मा की समष्टि के रूप में एक सूक्ष्म तत्त्व। तब वह तत्त्व उस ज्योति से प्रकाशित हुआ। फिर स्त्री के रूप में तृष्णा का आगमन हुआ, जिसकी उस समय संज्ञा थी गायत्री और शब्द। उससे सृष्टि का आरम्भ हुआ। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अस्तित्व में आयी अथवा जब परमात्मा की इच्छा शब्द रूप में व्यक्त हुई, आत्मा सूक्ष्म

---

१. यहाँ पर रीवां महाराज रघुराजसिंह के आदेश पर संवत् १९२४ में टीका सहित प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है।

२. रमैणी एक छन्द है, जिसमें अनेक चौपाइयाँ (संस्कृत चतुष्पदी) और अन्त में एक साखी होती है।

तत्त्व से विकसित हुई। इस प्रकार परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है, प्रत्युत एक स्वतन्त्र सूक्ष्म सत्ता है। उपनिषदों की भाषा में 'जो बहुधा हो गया', वह यही सूक्ष्म सत्ता थी, न कि स्वयं परमात्मा। इस प्रकार कबीर का दर्शन अद्वैतवादी न होकर द्वैतवादी है। सभी जीव उसी कारण से अस्तित्व में आये। वह एक रक्त और एक जीवन था। फलतः जातियों और प्रजातियों का भेद वाद की कल्पना है। कबीर इस भेद के विरोधी मालूम पड़ते हैं।

पाँचवीं रमैणी

पहली पाँच चौपाइयों का सार यह जान पड़ता है कि हरि, हर और ब्रह्मा ने दो अक्षरों (राम) को ग्रहण करके समस्त ज्ञान की आधार-शिला रखी। फिर क्रमशः वेदों और किताबों की रचना होने लगी। (६–८) चारों युगों में भक्तों ने पंथ चलाये, किन्तु उन्हें इस बात का ध्यान न रहा कि जिस गट्ठर को उन्होंने बाँधा है वह टूटा हुआ है। भयभीत होकर मोक्ष प्राप्ति के हेतु लोग सभी दिशाओं में दौड़े। अपने ईश्वर को छोड़कर वे नरक की ओर दौड़े।

आठवीं रमैणी

(१) तत्त्वमसि की शिक्षा उपनिषदों का संदेश है। (२) वे इस पर बहुत जोर देते हैं और जो लोग योग्य हैं, वे इसकी (विस्तार से) व्याख्या करते हैं। (३) सनक व नारद सर्वोच्च तत्त्व को अपने से भिन्न मानकर प्रसन्न हुए। (४) जनक व याज्ञवल्क्य के संवाद का यही आशय है। दत्तात्रेय ने उसी मधुर भाव का आश्रय लिया। (५) वशिष्ठ और राम ने मिलकर उसी का गान किया और उद्धव ने उसी तत्त्व की व्याख्या की। (६) जनक ने उसी बात का अनुमोदन किया और शरीर रखते हुए भी विदेह हुए। (७) (साखी) जन्म का अभिमान त्यागे बिना कोई मर्त्य अमर नहीं बनता। व्यक्ति जिसे अनुभव से नहीं देखता, उसे अदृश्य अथवा अगोचर समझा जाता है।

इस रमैणी में कबीर का उपनिषदों और हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य की अन्य धाराओं से परिचय प्रकट होता है। अतएव वे केवल सूफी और मुसलमान नहीं थे। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा के अभेद को अस्वीकार किया, जिसका छान्दोग्य उपनिषद् में तत्त्वमसि द्वारा प्रतिपादन किया गया है। व्याख्याकार का कहना है कि 'तत्' को सोलह अवयवों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर समझना चाहिए और इस वाक्य का अर्थ है तुम वह सूक्ष्म शरीर हो। इस रमैणी में ऊपर उल्लिखित सभी व्यक्तियों को कबीर ने द्वैत का उपदेशक माना है।

चौदहवीं रमैणी में धर्म के अनेक पंथों, जिनका पुराणों में उल्लेख है तथा ब्रह्मा, हंस, गोपाल, शंभु, भूत-प्रेत और मुसलमानों के नेवाज़ पर्यन्त विविध प्रकार की पूजाओं की निन्दा है।

चौंतीसवीं रमैणी

(१) पण्डित गुणों पर आधारित वेदों का अध्ययन करके पथभ्रष्ट हो गये और अपने स्वरूप तथा सच्चे सखा (ईश्वर) को नहीं जानते। (२) वे सन्ध्या, तर्पण, षट्कर्म और ऐसे ही नाना उत्सवों को करते हैं। (३) चारों युगों में गायत्री का उपदेश दिया गया है, पूछो इसके माध्यम से किसने मुक्ति प्राप्त की ? (४) जब दूसरे लोगों का स्पर्श हो जाता है तब तुम स्नान करते हो; मुझे बतलाओ तुमसे गिरा हुआ दूसरा कौन है ? (५) तुम्हें अपने गुणों का बहुत घमण्ड है। बहुत अधिक घमण्ड अच्छा नहीं होता। (६) जिसका नाम सब गर्व को नष्ट कर देता है वह गर्वयुक्त व्यवहार को कैसे सहन कर सकता है ? (७) (साखी) कुल की चली आती पूजा को छोड़कर वे निर्वाणपथ की खोज करते हैं; बीज और अंकुर को नष्ट करके वे विदेह अथवा निर्गुण हो गये।

कबीर यहाँ पर ब्राह्मणों के धार्मिक संस्कारों, उत्सवों एवं अन्य विधियों की निन्दा करते हैं। इससे ब्राह्मणों में जो दर्प उत्पन्न हो गया है, जिस हेय दृष्टि से वे अन्य जातियों को देखते हैं और जिस निर्वाण स्थिति की खोज करते हैं अर्थात् जिस अद्वैत मार्ग का अनुसरण करते हैं, कबीर उस सबकी भी निन्दा करते हैं।

चालीसवीं रमैणी

(१) जल-राशि समुद्र एक परिखा है और इसमें सूर्य, चन्द्र तथा तैंतीस करोड़ देवता हैं। (२) भवचक्र में मनुष्य और देव पड़े हुए हैं और सुख की आकांक्षा करते हैं। किन्तु वे दुःख के स्पर्श को नहीं त्याग सके। (३) दुःख के रहस्य को कोई नहीं जानता और विविध प्रकार से दुनिया बावरी हो गयी है। (४) प्रत्येक व्यक्ति स्वयं मूर्ख या मुनि है और राम को कोई नहीं जानता, जो उसके हृदय में है। (५) (साखी) वे स्वयं हरि (ईश्वर) हैं, वे स्वयं स्वामी हैं, वे स्वयं हरि के दास हैं। जब कोई निश्चय नहीं है तब स्त्री (मुक्ति) निराश होकर लौट जाती है।

यहाँ पुनः विभिन्न मतों और उनको जन्म देने वाले आत्म-विश्वास तथा अन्तर्यामी ईश्वर की उपेक्षा की निन्दा की गई।

साखी

?

(३१) पंडितों द्वारा चलाये गये मार्ग पर लोग गये। परन्तु राम के पास पहुँचने की सीढ़ी बहुत ऊँची है। कबीर इस पर चढ़ गये हैं। (१३५) अपने पंथ के प्रति पक्षपाती होने से संसार भटक गया है। जो पक्षपात से मुक्त होकर हरि को भजता है, वह बुद्धिमान साधु है। (१३८) बड़े लोग अपने बड़प्पन में खो जाते हैं; रोम-रोम से घमण्ड झलकता है; जब तक बुद्धिमान गुरु नहीं मिलता सभी लोग चमार की जाति के होते हैं। (१४२) कलि दुष्ट युग है; दुनिया अन्धी है; कोई सच्चे शब्द पर विश्वास नहीं

करता। जिसको भी हितकारी सलाह दी जाती है, वही शत्रु हो जाता है। (२११) (शरीर, चंचल हृदय और चोर मन) तीनों तीर्थ में गये, किन्तु उन्होंने एक भी पाप का नाश नहीं किया, उल्टे मन ने दस से और सम्बन्ध जोड़ लिया। (२६०) कबीरों (साधारण मनुष्यों) ने पत्थर और पथरियाँ पूजकर भक्ति का मार्ग मलिन किया, विष को अन्दर रख अमृत को उन्होंने बाहर फेंक दिया। (३५८) "मैं समस्त सृष्टि का स्रष्टा हूँ। मुझसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है" (ऐसा ही कुछ लोग सोचते हैं)। कबीर कहता है कि जब व्यक्ति नहीं जानता कि वह क्या है, वह सोचता है कि सब कुछ उसी में है। (३६५) इस संसार में सब लोग अपने को राम समझते हुए चल बसे, लेकिन कोई वास्तव में राम नहीं हुआ। कबीर कहता है कि जो राम का सच्चा स्वरूप समझते हैं, वे अपने सभी विषय प्राप्त कर लेते हैं। (३६६) यह दुनिया बावरी हो गई है, इसने ऐसी वस्तु के प्रति प्रेम की कल्पना की है, जो अनुभव का विषय नहीं हो सकती। वास्तविक अनुभव के सारे प्रमाण को अलग करके वे विदेह आत्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। (३७२) शून्य को देखकर लोग भटक गये और सभी दिशाओं में खोजते रहे। अन्त में वे मर गये, किन्तु विदेह रूप न पा सके।

२

(९१) असंख्य फूलों से ललचाई मधुमक्खी बाग में भटकती है। इसी प्रकार जीव इन्द्रिय विषयों में भटकता है और अन्त में निराश चला जाता है। (९५) मन के लिए आत्मा वैसी ही है, जैसे मदारी के लिए बन्दर। तरह-तरह से नचाकर मन इसको फिर अपने हाथों में ले लेता है। (९६) मन चंचल है, चोर है, पूरा ठग है। देवता और ऋषि मन के कारण गिरे। मन लाखों छिद्र खोज लेता है। (१३६) अगर आदमी अपनी सम्पत्ति को त्याग देता है तो यह बहुत बड़ी बात नहीं है, अहम् नहीं त्यागा जा सकता। अहम्, जिसने बड़े-बड़े मुनियों को भटका दिया, सबको खा लेता है। कामिनी-कंचन के पीछे दौड़ते हुए लोग माया-जनित आसक्ति में जलते हैं। कबीर कहता है कि आग के सम्पर्क में आई हुई रूई की भाँति उनकी रक्षा कैसे हो सकती है। (१४७) ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, शारद, सनक और गौरीसुत गणेश सभी माया शक्ति के विषय हुए। (२०९) किसी क्षुद्र जीव को मत मारो, सभी का जीवन एक तरह का है। हत्या के पाप से तुम मुक्त नहीं होगे, चाहे तुम करोड़ों पुराण सुनो।

३

(१२२) जिसकी प्राप्ति हेतु बड़े-बड़े मुनि तपस्या करते हैं और जिसके गुणों का गान वेद करते हैं, वह स्वयं उपदेश देता है लेकिन कोई विश्वास नहीं करता। (२०८) बेचारी अकेली आत्मा अनेकों बन्धनों में बँधी है। यदि ईश्वर जीव को मुक्त नहीं करेगा तो उस में मुक्त होने की कौन सी शक्ति है (२४३) मैं (ईश्वर) उसको शिक्षा देता हूँ, परन्तु वह नहीं समझता और दूसरे के हाथों में अपने को बेचता है। मैं उसको अपनी ओर खींचता हूँ, परन्तु वह यमपुर की ओर भागता है। (२८२) यदि तुम एक (ईश्वर) की साधना

करो तो सब वस्तुएँ तुमको प्राप्त होंगी, किन्तु यदि सबकी साधना करोगे तो एक भी वस्तु नहीं मिलेगी। यदि तुम वृक्ष के मूल को सींचो तो पुष्कल मात्रा में फलों और बीजों को प्राप्त करोगे। (३१०) यदि तुम मुझे चाहते हो तो प्रत्येक वस्तु की इच्छा को त्यागकर मेरे हो जाओ, तब सब वस्तुएँ तुम्हारी हो जावेंगी। (३३६) वह प्रत्येक शरीर में है और पूरी तरह जागरूक है। जब कोई कुछ पाना चाहता है तब वह उसमें उस प्रकार के विचारों को जन्म देता है (जिससे उसको सफलता मिल सके)।

उपर्युक्त प्रथम वर्ग में प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों का खण्डन है, द्वितीय में कबीर के नैतिक उपदेशों की बानगी और तृतीय में इस बात की व्याख्या कि आदमी की मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा किस प्रकार कार्य करती है। प्रथम वर्ग की साखी २६० में मूर्ति-पूजा का खण्डन है। इस प्रकार कबीर ने विशुद्ध आध्यात्मिक भक्ति का प्रतिपादन किया। आज तक कबीर के अनुयायी जिस पूजा-पद्धति को अपनाते हैं उसमें केवल प्रार्थना और भजन हैं। कबीर ने एक पंथ चलाया, जिसके मठ भारत के अनेक भागों में हैं। एक प्रमुख मठ बनारस में है और उसकी एक शाखा गोरखपुर जिले के मगहर में है जहाँ कबीर की मृत्यु हुई थी। कहा जाता है कि मगहर वाला मठ एक मुसलमान महन्त की देख-रेख में है। दूसरे मठ को कबीर के प्रमुख शिष्य धर्मदास[1] ने स्थापित किया था, जो मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ जिले में थे। अधिकांश कबीरपंथी निम्नजाति के हैं। किन्तु कबीर का सभी जाति के वैष्णवों में अत्यधिक सम्मान है।

अन्य रामानन्दी

मलूकदास अकबर के राज्यकाल अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुए। वे रामोपासक थे। यह परम्परा सही प्रतीत होती है कि वे रामानन्द संप्रदाय के थे। कबीर के समान वे भी मूर्ति-पूजा के विरोधी जान पड़ते हैं। एक पद्य में उन्होंने उन नर-नारियों की हँसी उड़ायी है, जो मूल्यवान् धातुओं को गढ़कर देवता बनाते हैं, उनकी उपासना करते हैं और जब कभी जरूरत पड़ती है धातु के भाव बेच देते हैं। मलूकदास कहते हैं कि उनके बुद्धिमान् गुरु ने उन्हें सत्य मार्ग का दर्शन कराया है। मलूकदास के संप्रदाय के सात मठ हैं तथा उसके मानने वाले गृहस्थ हैं।

दादू अहमदाबाद के एक रुई धुनने वाले थे। बारह वर्ष की आयु में वे सम्भर चले गये और जयपुर से लगभग बीस कोस की दूरी पर स्थित नरैना में अन्तिम रूप से बस गये। वे १६०० ई० के लगभग अकबर के शासन काल के अन्त में हुए। उनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते मालूम होते हैं। उनके अनुसार पूजा का एकमात्र प्रकार राम-नाम का जप है। यह संप्रदाय राम की

---

१. विस्तार के लिये देखिए जी. एच. वेस्टकॉट द्वारा लिखित कबीर एण्ड दि कबीरपन्थ

प्रतिमा की उपासना नहीं करता और न मन्दिर ही बनवाता है। दादू ने राम में विश्वास, उनसे प्रेम और उनका ध्यान करने का उपदेश दिया है। उनके अनुयायी तीन श्रेणियों में विभक्त हैं: (१) विरक्त (२) नागा और (३) विस्तरधारी। विरक्त संन्यासी होते हैं, नागा आयुध धारण करते हैं और सिपाहियों के तौर पर राजाओं की सेवा करते हैं तथा विस्तरधारी साधारण जीवन व्यतीत करते हैं।

रामानन्द के ही एक शिष्य रैदास एक संप्रदाय के संस्थापक थे, जिसके अनुयायी चमारों की जाति में मिलते हैं। अपनी भक्तमाल में नाभाजी ने उनके विषय में अनेक आख्यान लिखे हैं। रोहिदास नाम से महाराष्ट्र में भी लोग उन्हें जानते हैं तथा उनका सम्मान करते हैं। सन्तों पर लिखने वाले मराठा लेखक महीपति ने उन पर पूरा एक अध्याय लिखा है।

रामानन्द के एक शिष्य सेना नाई ने भी एक संप्रदाय चलाया था। वे भी महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं।[१]

तुलसीदास

उत्तर भारत में राम-भक्ति का प्रचार करने वाले दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति तुलसीदास थे, जिनका उल्लेख अब हम संक्षेप में करेंगे। तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा सम्वत् १५८९ अर्थात् १५३२ ई० में मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे। फलतः माता-पिता ने उनका परित्याग कर दिया। एक साधु ने उन्हें पाला पोसा, जिनके साथ तुलसीदास ने भारत के अनेक स्थानों का भ्रमण किया। उनके पिता का नाम आत्माराम शुक्ल दुबे, उनकी माता का नाम हुलसी तथा उनका नाम रामबोला था। उनके श्वसुर का नाम दीनबन्धु पाठक था तथा उनकी पत्नी रत्नावली कहलातीं थीं। उनके पुत्र का नाम तारक था।

तुलसीदास ने अपनी महान् कृति रामचरितमानस (जिसका प्रचलित नाम रामायण है) का प्रारम्भ १५७४ ई० में अयोध्या में किया था तथा उन्होंने इसे बनारस में समाप्त किया। उन्होंने ग्यारह अन्य कृतियाँ लिखीं, जिनमें छह छोटीं हैं। तुलसीदास कबीर की भाँति प्रबल सुधारक नहीं थे और न ऐसा ही लगता है कि उन्होंने किसी संप्रदाय की स्थापना की या किसी विशेष वेदान्त-सिद्धान्त का प्रचार किया। अतएव वे भक्ति मार्ग के आचार्य थे। उनका भक्तिमार्ग द्वैतपरक है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उसका झुकाव अद्वैत की ओर है। तुलसीदास की मृत्यु १६२३ ई० में हुई[२]।

अब मैं रामसतसई से तुलसीदास की शिक्षाओं की बानगी प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह रचना, जैसा कि प्रथम अध्याय के दोहा २१ से मालूम होता है, सम्वत् १६४२ (अर्थात् १५८५ ई०) में वैशाख शुक्ल नवमी गुरुवार को आरम्भ की गयी थी।

---

१. द्रष्टव्य विलसन, हिन्दू रिलीजन्स

२. विस्तार के लिए देखिये, डॉ० ग्रियर्सन का लेख, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग २२

अध्याय १

(दोहा ३) परमात्मा और परमपद राम ही है कोई अन्य नहीं, तुलसी ऐसा समझते हैं और सुनते हैं। (दोहा ४) सबका मंगल करने वाले राम स्वयं सभी इच्छाओं से मुक्त हैं। वे सभी कामनाओं को पूरा करते हैं, सभी के हितैषी हैं, ऐसा सन्तों का कहना है। (दोहा १५) तुलसी अनुभव करते हैं कि राम के रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। वे शुद्ध, निर्विकार और परम शक्तिमान् हैं। (दोहा ६) मंगलमयी जानकी जगन्माता हैं और राम जगत्पिता। दोनों ही कृपालु हैं। उनकी कृपा पाप का अपसारण करती है और चेतना को जन्म देती है (सद्-असद् विवेक प्रदान करती है)। (दोहा ४४) जहाँ राम हैं, वहाँ दुर्भावना नहीं और जहाँ दुर्भावना है वहाँ राम नहीं। अरे तुलसी, सूर्य और रात्रि एक स्थान पर नहीं रहते। (दोहा ४५) राम के दूर रहने पर माया प्रबल रहती है। किन्तु राम को जान लेने पर माया क्षीण हो जाती है। जब सूर्य दूर रहता है छाया लम्बी होती है, किन्तु जब सूर्य सिर पर रहता है छाया पैरों के नीचे रहती है। (दोहा ४८) तुलसी कहते हैं, "अगर राम के प्रति प्रेम न हो तो सब ज्ञान चूल्हे में चला जाता है; यम ज्ञान को ले जाता है और निगल जाता है; प्रत्येक वस्तु जलकर खाक हो जाती है और मूल ही नष्ट हो जाता है"। (दोहा ५७) चारों ओर की समस्त वस्तुएँ परमानन्द की प्राप्ति में बाधक हैं, कोई भी सहायक नहीं है; ऐसी स्थिति में केवल राम की कृपा से ही अन्त भला हो सकता है।

अध्याय २

(दोहा १७) तुलसी कहते हैं कि ईश्वर की अवज्ञा से आदमी अपने तथा सम्बन्धियों के ऊपर आपत्तियाँ बुलाता है। कौरव राजा राज्य करते हुए अपनी सेना और कुल सहित धूलि में मिल गया। (दोहा १८) तुलसी कहते हैं कि मधुर वचनों से सर्वतः मंगल होता है। यह ऐसा जादू है, जो सबको वश में कर लेता है। इसलिए कटु वचन मत बोलो। (दोहा १९) "राम की कृपा से सुख आता है और कृपा न होनेपर चला जाता है।" तुलसी कहते हैं कि यह जानते हुए भी दुर्जन राम की पूजा से जी चुराते हैं।

अध्याय ४[1]

८२ (८९ वि० इ०) उत्तम धारणा शक्ति गिरा अथवा सरस्वती कहलाती हैं और अक्षय धर्म वट वृक्ष है। धर्म में पापनाशिनी नदियों के त्रिक का संगम है। अरे तुलसी, इनमें अरुचि मत रख, इन्हें स्वीकार कर।

---

१. यहाँ इन संस्करणों का उपयोग किया गया है—(अ) नवल किशोर द्वारा लखनऊ में १८८६ में प्रकाशित, (आ) १८९७ में बिब्लियोथिका इण्डिका में प्रकाशित।

व्याख्याकार ने त्रिक का अर्थ किया है कर्म, ज्ञान और भक्ति।

८३ (९० बि० इ०) इन तीन नदियों के संगम में स्नान करने से (अर्थात् विवेक पूर्वक त्रिक का सेवन करने से) शुद्धि होती है। अनाचार की धूलि धुल जाती है और राम-पद सुलभ हो जाता है।

८४ (९१ बि० इ०) क्षमा पवित्र वाराणसी है। भक्ति गंगा है। विमल ज्ञान विश्वेश्वर और करुणा उनकी शक्ति पार्वती है। ये सब मिलकर सुशोभित होते हैं।

व्याख्याकार का कहना है कि जैसे गंगा, विश्वेश्वर और पार्वती से युक्त बनारस मुक्ति लाभ कराता है उसी प्रकार क्षमा, भक्ति, ज्ञान और करुणा भी मुक्ति प्रदान करते हैं।

८५ (९२ बि० इ०) वाराणसी उससे दूर नहीं है, जिसका हृदय क्षमा के गृह में वास करता है। अरे तुलसी, उस वाराणसी में भक्ति के रूप में दिव्य गंगा शोभायमान है, जिससे अनेक पुण्य होते हैं।

८६ (९३ बि० इ०) काशी शुक्ल पक्ष है और मगह (मगध) कृष्णपक्ष, जिसमें काम, लोभ, मोह और मद निवास करते हैं। अरे तुलसी, क्या लाभकारक है और क्या हानिकारक इस पर अच्छी तरह विचार करके दिन की सभी घड़ियों में जहाँ रहना हो तय कर ले।

काशी उपर्युक्त चार गुणों से युक्त है ओर मगध दुर्गुणों से। इसलिए जो लाभप्रद हो उसको करने और जो हानिकारक है उसको त्यागने के लिए कहा गया है।

८७ (९४ बि० इ०) जो बीत गया, वह फिर वापस नहीं आता। इसलिए ज्ञान प्राप्त कर। अरे तुलसी, जो बात आज है वह कल भी रहेगी, इसलिए सब मोह त्याग दे।

अभिप्राय यह है कि दीर्घसूत्रता में समय नष्ट नहीं करना चाहिए, सद्यः भक्ति आरम्भ कर देनी चाहिए।

८८ (९५ बि० इ०) अतीत और भविष्य दोनों वर्तमान पर अवलम्बित हैं। अरे तुलसी, सन्देह न कर। जो वर्तमान में है पहले उसी को पूरा कर।

८९ (९६ बि० इ०) अच्छी आत्मा मानसरोवर है। उसमें राम की मधुर कीर्ति का निर्मल जल है। उसमें मज्जन करने से पाप धुल जाते हैं और हृदय शुद्ध हो जाता है। बुद्धिमान के लिए यह प्रशान्त जल अप्राप्य नहीं है।

अभिप्राय यह है कि अच्छी आत्मा में राम-भक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और जब भक्ति का उदय हो जाता है, आत्मा शुद्ध हो जाती है।

इन अनुच्छेदों से प्रकट होता है कि राम परमात्मा हैं और उनकी कृपा से आदमी पवित्र और आनन्दित होता है। इसलिए उनकी पूजा करनी चाहिए। जहाँ वे हैं, वहाँ पाप नहीं है। अतएव मन की शुद्धि के लिए उनका चिन्तन और ध्यान करना चाहिए। तुलसीदास का कहना है कि ईश्वर प्राप्ति के लिए जिन मार्गों का अनुसरण किया जाता है, वे सामर्थ्यहीन हैं। अतएव उनका परित्याग कर देना चाहिए।

वल्लभ

अब हम गोकुल के कृष्ण की उपासना पर विचार करेंगे, जो अधिक व्यापक और एकनिष्ठ है। इसके संस्थापक वल्लभ थे। वे लक्ष्मणभट्ट नामक एक तैलङ्ग ब्राह्मण के पुत्र थे, जो कृष्ण यजुर्वेद के छात्र थे तथा तेलगु देश में कानकरव नामक गाँव में रहते थे। एक समय लक्ष्मणभट्ट अपनी भार्या एलमागार के साथ तीर्थयात्रा के लिए बनारस गये। रास्ते में एलमागार ने विक्रमाब्द १५३५ (१४७९ ई०),[१] वैशाख कृष्ण एकादशी के दिन एक पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र वल्लभ नाम से प्रसिद्ध हुआ। वल्लभ कुछ समय तक वृन्दावन में रहे और कुछ समय मथुरा में। कहा जाता है कि लगभग इसी समय गोपालकृष्ण, देवदमन नाम से (जिन्हें श्रीनाथजी भी कहते हैं) गोवर्धन-पर्वत पर प्रकट हुए थे। भगवान् ने स्वप्न में वल्लभ को यह सूचित किया कि "जब मैं कृष्ण रूप में अवतरित हुआ था उस समय के मेरे गोकुल के सखाओं ने इस समय पुनः जन्म लिया है। तुम आओ और उन्हें मेरा परिचारक बनाओ, जिससे मैं उनके साथ पहले की तरह लीला कर सकूँ"। तदनुसार वल्लभ वहाँ पर गए और उन्होंने देव-दमन या श्रीनाथजी का दर्शन किया। श्रीनाथजी ने उन्हें अपना एक देवायतन बनवाने तथा अपनी पूजा की विधि का प्रचार करने की आज्ञा दी, जिसके बिना कोई भी आदमी पुष्टिमार्ग में (जिसकी स्थापना वल्लभ ने की है) प्रवेश नहीं कर सकता। इस कथा का यह अभिप्राय मालूम पड़ता है कि वल्लभ ने अपने सम्प्रदाय का सम्बन्ध श्रीनाथजी नाम से प्रसिद्ध कृष्ण के एक विशिष्ट आविर्भाव से जोड़ा।[२]

वल्लभ का वेदान्त-सिद्धान्त वही है जो उनके पूर्ववर्ती विष्णुस्वामी का था। विष्णुस्वामी को एक द्रविड़ राजा, (जो दिल्ली[३] के शाहंशाह के अधीन था) के मंत्री का पुत्र बतलाया जाता है। अपने भक्त-माल में नाभाजी[४] ने ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन तथा वल्लभ को विष्णुस्वामी का उत्तराधिकारी बतलाया है। प्रथम उत्तरा-धिकारी ज्ञानदेव हैं, जिन्हें उनके संप्रदाय का अनुयायी बतलाया गया है। ज्ञानदेव तीन भाई थे, उनके पिता संन्यास आश्रममें प्रविष्ट होने के बाद गृहस्थ हो गये थे। इसलिए ज्ञानदेव को समाज-बहिष्कृत कर दिया गया और उन्हें वेदाध्ययन की अनुमति नहीं दी गई। परन्तु उन्होंने अपनी चमत्कारी शक्ति द्वारा एक भैंसे से वेद-मंत्रों का उच्चारण करवा दिया। यह कहानी भगवद्गीता पर जन-भाषा में टीका लिखने

---

१. यज्ञेश्वर, आर्यविद्यासुधारक

२. द्रष्टव्य हरिराय महाराज, गोवर्धनप्राकट्य की वार्ता, सं० १९३५ पृ० ११

३. यज्ञेश्वर, आर्यविद्यासुधारक, पृ० २२८

४. भक्तमाल, खेमराज द्वारा सम्पादित, बम्बई, शक सं० १८२७ (१९०५ ई०) पृ० ९५–९८

वाले महाराष्ट्र सन्त ज्ञानदेव की कहानी से मिलती-जुलती है। परन्तु मराठा लोग विष्णुस्वामी को उनके गुरु या शिक्षक होने अथवा ज्ञानदेव को उनके उत्तराधिकारी या अनुयायी होने की बात नहीं जानते। यदि नाभाजी द्वारा बतलाई गयी परम्परा सही है, तो विष्णुस्वामी तेरहवीं शताब्दी के मध्य में रहे होंगे। उक्त टीका की तिथि शकाब्द १२१२ (१२९० ई०) है।

विष्णुस्वामी का वेदान्त-सिद्धान्त, जो कि वल्लभ के सिद्धान्त से अभिन्न है, इस प्रकार है : ब्रह्म को एकाकी होने के कारण अच्छा नहीं लगता था (बृ० उ० १, ४, ३)। अतएव अनेक होने की कामना करते हुए वह स्वयं, जड़ जगत, जीवात्मा एवं अन्तर्यामी आत्मा बन गया। ये उससे उसी प्रकार निकले जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं तथा ये उसी के अंश हैं (मु० उ० २, १)। अपनी अगाध शक्ति द्वारा उसने जड़ जगत् में चित् एवं आनन्द का तथा जीवात्मा में आनन्द का तिरोधान कर दिया, जब कि अन्तर्यामी आत्मा में समस्त गुण व्यक्त रहते हैं। ब्रह्म आनन्द से सर्वथा परिपूर्ण रहता है।[1]

वल्लभ सम्प्रदाय के दो ग्रन्थों से निम्नलिखित विवरण प्राप्त होता है।[2] समस्त जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है। संसार अविद्या या भ्रम के कारण तथा ब्रह्म का सत्य स्वरूप अव्यक्त रहने के कारण ब्रह्म से भिन्न लक्षित होता है। जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न, उसी का एक अंश है तथा अणु है। सच्चिदानन्दमय 'अक्षर' से अंश उसी प्रकार निकलते हैं जैसे कि अग्नि से स्फुलिंग। उनमें सत अंश के प्राधान्य से आनन्द अंश तिरोहित हो जाता है और इस प्रकार जीवात्मायें सत् एवं चित् युक्त होती हैं। जीवात्मा परमात्मा का मायाजन्य विकार नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा तत्त्व एक ही है, अन्तर यही है कि जीवात्मा में एक अंश अव्यक्त है। इस प्रकार दोनों ही अभिन्न हैं दोनों ही अविकृत है। यह शुद्धाद्वैत है।

जीव दो प्रकार के हैं : (१) संसारी—भव-चक्र में पड़े हुए तथा (२) मुक्त—जीवन-चक्र से मुक्त। संसारी अपने इस अज्ञान के कारण दुःख के शिकार हैं कि उनका शरीर और इन्द्रियाँ ही उनकी आत्मा हैं। वे तब तक इस स्थिति में रहते हैं जब तक उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, जगत् की नश्वरता का दर्शन नहीं हो जाता तथा वे अपने को भगवान् के ध्यान और अनुराग में लगा कर मुक्त नहीं हो जाते। मुक्त-जीव वे हैं : (१) जो अज्ञान या भ्रम का अपनयन करके जीवन-मुक्त हो चुके हैं जैसे कि सनक आदि, (२) जो व्यापी-वैकुण्ठ[3]

---

१. श्रीनिवास, सकलाचार्यमतसंग्रह, चौखम्भा ग्रन्थमाला

२. गिरिधर, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड; बालकृष्णभट्ट, प्रमेयरत्नार्णव, चौखम्भा ग्रन्थमाला

३. व्यापी वैकुण्ठ जगत् के त्राता विष्णु के वैकुण्ठ के ऊपर अवस्थित है। वहाँ पुरुषोत्तम निवास करते हैं, जो अपने नानाप्रकार के भक्तों के लिए विविध रूपों में प्रकट होते हैं। जिनमें भक्ति चरम अवस्था पर पहुँच जाती है और व्यसन बन जाती

(जहाँ पर वे भगवान् की कृपा से शुद्ध ब्रह्म की स्थिति प्राप्त करते हैं) के अतिरिक्त भगवान् के अन्य लोकों में निवास करते हैं, (३) जो देवभावापन्न हैं तथा सज्जनों की सङ्गति में आकर तब तक भक्ति के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं, जब तक कि भगवद्-विषयक अनन्य अनुराग उनके हृदय में निवास नहीं करने लगता और अन्ततः भगवान् की नित्य लीलाओं और रसकल्लोल में उनके सखा नहीं बन जाते। यह परम मुक्ति है। संसारी जीव, जो देवभावापन्न नहीं हैं तथा जिनमें नीच भाव का प्राधान्य है, सदैव जीवन-चक्र में चक्कर काटते रहते हैं। दैवी प्रकृति की आत्माएँ दो प्रकार की हैं : (१) जो नैतिक आचरण के विषय बनते हैं (मर्यादा जीव), और (२) जो पूर्णतः ईश्वर की कृपा के अधीन हैं (पुष्टि जीव)। दोनों ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु दोनों में कुछ वैसा ही अन्तर है जैसा कि मुक्त आत्माओं के द्वितीय और तृतीय प्रकार में।

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। उनके हाथ-पैर अप्राकृत हैं। उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। वे पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनमें सभी गुण हैं जो साधारण नहीं, दिव्य हैं। उनकी सभी लीलाएँ सनातन हैं। वे द्विभुज या चतुर्भुज रूप में अपने नाना भक्तों के साथ वैकुण्ठ में क्रीड़ा करते हैं। वैकुण्ठ में विस्तृत वनों वाला वृन्दावन है। इस प्रकार कृष्ण परमानन्द हैं। इनकी इच्छा से सत्त्व अंश आनन्द को दबा लेता है। स्वयं अक्षर (अविकृत) रहकर वे सभी कारणों के कारण हैं और जगत् की रचना करते हैं। अक्षर ब्रह्म के दो प्रकार हैं : (१) भक्त उन्हें पुरुषोत्तम पद या व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकों के रूप में देखते हैं और (२) मुक्त उन्हें सच्चिदानन्द, देशकाल से परे, स्वप्रकाश और गुणातीत रूप में देखते हैं। अतएव जिस रूप में मुक्त उन्हें देखते हैं, उनमें सभी गुण अव्यक्त रहते हैं अथवा उपर्युक्त अगाध शक्ति के द्वारा तिरोहित रहते हैं। इसलिए उन गुणों की सत्ता में सन्देह नहीं करना चाहिए। ब्रह्म को जब निर्गुण कहते हैं, तब यही तात्पर्य रहता है। इस तरह परमात्मा के तीन रूप हैं—पुरुषोत्तम और दो प्रकार के 'अक्षर'। पुरुषोत्तम सबका नियमन करते हैं। उनका वह रूप, जो सूर्य, देवों, पृथ्वी इत्यादि में रहता है, अन्तर्यामी कहलाता है। यही अन्तर्यामी विविध रूपों में, जिनकी प्रायः चर्चा की जाती है, अवतरित होता है। कृष्ण का दिव्य सत्त्व गुण विष्णु बन जाता है और इस रूप में वह सबकी रक्षा करता है। इसी प्रकार रज और तम सृष्टि और प्रलय के लिए ब्रह्मदेव और शिव का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

भगवान् के अनुग्रह अथवा कृपा को पुष्टि कहते हैं। इसका अनुमान ऐहलौकिक और

है, उनके लिए वे लीलाधारी कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। व्यापी-वैकुण्ठ में वृन्दावन सहित संपूर्ण गोकुल है। उस वृन्दावन में दूर-दूर तक फैले वृक्ष, लता-कुंज और यमुना नदी है। श्रेष्ठतम भक्त इसी वृन्दावन में जाते हैं और कृष्ण उनके साथ क्रीड़ा करते हैं।

पारलौकिक फलों से लगा सकते हैं। महापुष्टि वह है जो बड़े अन्तरायों का अपसारण करती है और ईश्वर की प्राप्ति कराती है। पुष्टि पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने में समर्थ बनाती है। असाधारण पुष्टि भक्ति, की ओर उन्मुख करती है और ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में ले जाती है। इस प्रकार की भक्ति जिसका जन्म असधारण पुष्टि से होता है, पुष्टिभक्ति कहलाती है। पुष्टिभक्ति से उत्पन्न मनोदशा में अन्य सभी बातों को छोड़कर केवल भगवत्-प्राप्ति की आकांक्षा रहती है। पुष्टिभक्ति के चार प्रकार हैं: (१) प्रवाह-पुष्टिभक्ति, (२) मर्यादा-पुष्टिभक्ति, (३) पुष्टि-पुष्टिभक्ति, (४) शुद्ध-पुष्टिभक्ति। प्रवाह-पुष्टिभक्ति उन लोगों का मार्ग है जो 'मैं' और 'मेरा' के साथ जगत्-प्रवाह में पड़े हुए ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं। मर्यादा-पुष्टिभक्ति उन लोगों का मार्ग है जो सांसारिक सुखों से अपने मन को खींचकर ईश्वर विषयक उपदेशों के श्रवण, भजन और ऐसी ही अन्य क्रियाओं से अपने को ईश्वरभक्ति में लगाते हैं। पुष्टि-पुष्टिभक्ति उन लोगों का मार्ग है जो ईश्वर के अनुग्रह (पुष्टि) का अनुभव करते हुए पुनः अनुग्रह (पुष्टि) द्वारा उपासना के लिए उपयोगी ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ बनते हैं। इस प्रकार वे ईश्वर के सभी मार्गों को जान जाते हैं। इस मार्ग के अनुयायियों को कथित ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने प्रयत्नों पर निर्भर रहना पड़ता है। शुद्ध-पुष्टिभक्ति उन लोगों का मार्ग है, जो केवल प्रेमवश अपने को भगवान् के भजन और स्तुति में लगाते हैं मानो यह उनका व्यसन हो। इस भक्ति को स्वयं भगवान् जन्म देते हैं। यह मनुष्य की इच्छा पर, जैसा कि पुष्टि-पुष्टिभक्ति में देखते हैं, अधीन नहीं है। ईश्वर सर्वप्रथम अपने कृपापात्र के मन में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करता है। तब मनुष्य ईश्वर के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है। इसकी संज्ञा प्रेमाभक्ति है। इसके विकास की ये अवस्थाएँ हैं: (१) प्रेम, (२) आसक्ति और (३) व्यसन, जो प्रथम दो की उन्नत अवस्था है। व्यसन परमानन्द प्राप्ति की ओर ले जाता है। जिनमें भक्ति इस सीमा तक पहुँच जाती है, मुक्ति के चार प्रकारों को तुच्छ समझ कर त्याग देते हैं और हरि की अनन्त सेवा को स्वीकार करते हैं, जैसा कि पाञ्चरात्र मत के प्रसंग में देख चुके हैं। हरि के प्रति व्यसन हो जाने से वे सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं इसलिए प्रत्येक वस्तु प्रेम का आस्पद बन जाती है और भक्त प्रत्येक वस्तु से अपना तादात्म्य कर लेता है। तब भक्त के लिए अन्तः और बाह्य जगत् पुरुषोत्तममय हो जाता है। इस भक्ति का चरमफल है कृष्ण की लीलाओं में प्रवेश पा जाना। गाय, पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी आदि का रूप धारण करके भक्त उन क्रीड़ाओं में सम्मिलित होते हैं और पुरुषोत्तम के सांनिध्य का अनुभव करते हैं जिससे असीम आनन्द प्राप्त होता है। नित्य लीला वैसी ही होती है, जैसी कृष्ण ने अवतार लेकर व्रज और वृन्दावन में की थीं। कुछ भक्त दिव्य वृन्दावन में गोप और गोपी हो जाते हैं और उन लीलाओं में सम्मिलित होते हैं। मर्यादाभक्त सायुज्य प्रकार की मुक्ति प्राप्त करते हैं, जिसमें

भक्त हरि के साथ एक हो जाता है। पुष्टिभक्त तुच्छ कहकर इसका परित्याग कर देते हैं और हरि की लीलाओं में सम्मिलित होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

ये वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त हैं। अब हम पूजा-पद्धति के व्यवहार पक्ष का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे। वल्लभ के विट्ठलेश नाम के पुत्र थे। दोनों क्रमशः आचार्य और गोसाईं अथवा गोस्वामी कहलाते थे। गोसाईं के ७ पुत्र थे—गिरिधर, गोविन्दाचार्य, बालकृष्ण, गोकुलनाथ, रघुनाथ, यदुनाथ और घनश्याम। इस सम्प्रदाय के गुरु महाराज कहलाते हैं। वे इन्हीं सात के वंशज हैं। प्रत्येक गुरु का अपना मन्दिर रहता है और सार्वजनिक मन्दिर नहीं होते। भक्तों को निर्धारित अवधि पर (दिन में आठ अवधियाँ हैं) अपने गुरु के मन्दिर जाना चाहिए। पूजा की पद्धति इस प्रकार है। पूजा करने वाला ब्राह्म मुहूर्त में उठे, भगवान् के नाम का उच्चारण करे, मुँह धोये भगवान् का थोड़ा चरणामृत पिये, फिर उत्तर या पूर्व की ओर मुँह करके आचार्य का नामोच्चारण करे, उनकी स्तुति करे और उनको झुककर प्रणाम करे। ऐसा ही विट्ठलेश के प्रति करे उनके सात पुत्रों का नामोच्चार करे और फिर अपने गुरु का नाम ले। तब गोवर्धन आदि नाम उच्चरित करके कृष्ण को प्रणाम करे। अनन्तर यमुना नदी का ध्यान करे और प्रणाम करे। भ्रमरगीता का पाठ करे। तब गोपियों की पूजा करे। इसके पश्चात् पूजा करनेवाला मल-मूत्र त्याग करे, हाथ पैर और मुँह धोये, कृष्ण का थोड़ा चरणामृत पिये, कृष्ण का ताम्बूल का प्रसाद ग्रहण करे। तब शरीर में तेल लगाकर स्नान करे। स्नान के बाद नारायण का नाम लेकर आचमन करे। श्वेत मिट्टी (गोपीचन्दन) से अपने ललाट पर एक खड़ी रेखा खींचे वक्ष पर कमल, भुजाओं पर वंश पत्र इत्यादि १२ चिह्नों को अङ्कित करे। ये चिह्न विष्णु, केशव, नारायण, माधव आदि के प्रतीक हैं। तब वह विष्णु के विभिन्न आयुधों को अपने शरीर पर अङ्कित करे और वल्लभाचार्य को प्रणाम करते हुए गोपियों सहित कृष्ण की पूजा करे। तब मन्दिर के द्वार को खोले और शयनागार में जाकर बासी पुष्पमालाओं आदि को बाहर निकाले, झाड़ू लगाये, पूजा के बर्तन साफ करे, सिंहासन साफ करे। कृष्ण के जगने पर उनके स्वागत के लिए सभी आवश्यक तैयारी करे। तब शयन कक्ष में जाये और कृष्ण को जगने, जलपान ग्रहण करने और अपने सखाओं सहित गोचारण हेतु जङ्गल में जाने के लिए स्तुति करे। कृष्ण को बाहर लाये और सिंहासन पर बैठाये। राधा को वाम आसन पर आसीन करे और साष्टाङ्ग प्रणाम करे। दोनों के सामने जलपान रखे और खाने के लिए प्रार्थना करे। तब विस्तर झाड़े और कृष्ण का मुँह धुलाये। तब उनके सामने अन्य जलपान प्रस्तुत करे। सब कर चुकने के बाद अन्त में स्तुति पाठ के साथ आरती करे। तब वल्लभाचार्य को प्रणाम करे। फिर कृष्ण को स्नान कराये, केसर का लेप करे, कपड़े पहनाये और दूध प्रदान करे। दूध मथकर नवनीत निकाले और अर्पित करे। जल से मुँह धुलाये। ताम्बूल अर्पित करे। तब एक झूले को सजाये और उसमें कृष्ण को आसीन करे,

झुलाये और बालक कृष्ण के लिए खिलौने रखे। तब मध्याह्न का भोजन तैयार करवाये। उनके सामने एक चौकी रखे, उस पर कटोरों में सभी तरह के पक्वान्न रखे और उनसे खाने के लिए प्रार्थना करे। एक छोटी थाली में थोड़ा सा चावल रखे और घी में मिलाकर पाँच या सात कौर उनके सामने करे। तब उनकी आरती करे। तदनन्तर सभी प्रकार के खाद्य प्रस्तुत करे। इस प्रकार से पूजा-विधि चलती रहती है। रात में फिर भोजन तैयार किया जाता है, कृष्ण को लिटाते हैं और सुलाते हैं। इस प्रकार पूजा विधि में यह क्रम रहता है : (१) घण्टावादन, (२) शंखनाद, (३) ठाकुरजी को जगाना और जलपान कराना, (४) आरती, (५) स्नपन, (६) वस्त्र पहनाना, (७) गोपीवल्लभ भोजन, (८) गोचारण, (९) मध्याह्न भोजन, (१०) आरती, (११) अनोसर या अनवसर (अन्त में पर्दा खींच देते हैं जिससे भगवान को देख न सकें), (१२) समापन, (१३) सन्ध्या भोजन, (१४) शयन।

ऊपर वर्णित सामान्य पूजा के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अनुयायी बहुत से उत्सव और त्योहार भी मनाते हैं, कुछ वल्लभाचार्य, कुछ उनके पुत्र और कुछ सात प्रपौत्रों के उपलक्ष्य में। वल्लभ और उनके उत्तराधिकारियों का अपने अनुयायियों के ऊपर बड़ा प्रभाव था और यह प्रभाव उनके उत्तराधिकारी वर्तमान गुरुओं तक चला आ रहा है। यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि किसी सार्वजनिक मन्दिर में स्वतन्त्र रूप से भगवान् की पूजा नहीं की जा सकती है। भक्तों को गुरु महाराज के मन्दिर में ही पूजा करनी चाहिए और वहाँ नियमित रूप से भेंट लेकर पहुँचना चाहिए। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में गुजरात, राजपूताना और मथुरा के आसपासव्यापारी वर्ग के लोग हैं। इन लोगों को मुख्यरूप से यह शिक्षा दी जाती है कि अपनी सारी सम्पत्ति गुरु को समर्पित कर देनी चाहिए, किन्तु इसका अक्षरशः पालन नहीं किया जाता। भक्ति के उपर्युक्त प्रकारों में केवल एक प्रकार सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्ति का विधान करता है। मनुष्य के हृदय में परमभक्ति आदि का उदय ईश्वर की अनुकम्पा से होता है, जिसका व्यसन के रूप में परिपाक हो जाता है। सांसारिक जीवन में रहकर ही इस अनुकम्पा का अनुभव हो सकता है। मर्यादा-पुष्टि में विषयों के नियमन का आदेश है। किन्तु उससे गोकुल में हरि की लीला में सम्मिलित न होने का परमानन्द नहीं मिलता। इस प्रकार लीला का सुख इस सम्प्रदाय की आत्मा है। इसका प्रभाव अनुयायियों के सामान्य जीवन पर भी पड़ता है। सांसारिक सुखों से विरक्त करने वाली नैतिक कठोरता और आत्मत्याग इस सम्प्रदाय में नहीं मिलते। स्वयं वल्लभाचार्य और उनके सभी उत्तराधिकारी विवाहित थे। यही स्थिति इस सम्प्रदाय के सभी गुरुओं की है, जो अपने अनुयायियों से कम सांसारिक नहीं हैं।

हमारे इस विवरण से प्रकट होता है कि वैष्णव धर्म का चौथा तत्त्व ही, जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं, वल्लभ सम्प्रदाय की विशेषता है। इस सम्प्रदाय में गोकुल में लीला करने वाले कृष्ण सर्वोच्च ईश्वर हैं। उनकी प्रिया राधा भी बड़े आदर की

पात्र हैं। राधा का उल्लेख केवल बाद के ग्रन्थों में हुआ है और उन्हें गोपाल कृष्ण की सनातन शक्ति होने का गौरव प्रदान किया गया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। गोपाल कृष्ण और राधा का आवास गोलोक बतलाया गया है, जो नारायण या विष्णु के वैकुण्ठ लोक से भी ऊपर है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य गोलोक पहुँचना और कृष्ण की लीलाओं में सम्मिलित होना है। इस प्रकार गोकुल में कृष्ण की लीलायें और नर-नारियों, तुच्छ पशुओं, वृक्षों तथा यमुना नदी के साथ कृष्ण के सम्बन्ध वल्लभ सम्प्रदाय के आधार हैं और इनका जब गोलोक पर आरोप कर दिया जाता है तब यही जीवन के चरम लक्ष्य बन जाते हैं।

चैतन्य

वल्लभ के समय में ही बङ्गाल में राधा-कृष्ण के धर्म के एक अन्य प्रचारक हुए, जिनका नाम चैतन्य था। दोनों में यह प्रमुख भेद प्रतीत होता है कि जहाँ वल्लभ एवं वल्लभ के अनुयायियों ने अर्चा पक्ष का विकास किया, वहीं चैतन्य एवं उनके उत्तराधिकारी धर्म के भाव-पक्ष के संवर्धन में लगे। चैतन्य ने राधा एवं कृष्ण के प्रेम और भक्ति सम्बन्धी कीर्तनों का प्रचलन करके लोगों के मन को जीतने का प्रयत्न किया। गोपाल कृष्ण एवं उनकी प्रेयसी का प्रेम इससे पहले ही संस्कृत में जयदेव तथा जनभाषाओं में अन्य कवियों के मोहक गीतों का विषय बन चुका था। चैतन्य साहसी सुधारक भी थे, उन्होंने प्रचलित हिन्दू धर्म के कृत्रिम धार्मिक आचरणों की निन्दा की एवं आध्यात्मिक भक्ति का उपदेश दिया। साथ-ही-साथ जाति भेदों की निन्दा की एवं अपने शिष्य रूप में सबको, यहाँ तक कि मुसलमानों को भी, स्वीकार किया।

चैतन्य का मूल नाम विश्वम्भर मिश्र था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र एवं माता का नाम शची देवी था। पिता मूलरूप में सिलहट (पूर्वी-बङ्गाल) में रहते थे परन्तु अपने सबसे छोटे पुत्र विश्वम्भर के जन्म से पहले ही नदिया (नवद्वीप) में आकर बस गये थे। इनके सबसे जेष्ठ पुत्र का नाम विश्वरूप था, जो चैतन्य के इतिहास में नित्यानन्द नाम से प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथ के ये ही दो पुत्र थे तथा इनके बीच आठ पुत्रियाँ हुई थीं, जो बचपन में ही मर गयीं। चैतन्य शकाब्द १४०७ (१४८५ ई०) में फाल्गुन मास की पूर्णिमा के दिन पैदा हुए थे। बाद में ये कृष्ण चैतन्य कहलाए तथा इनके शिष्यों ने इन्हें भगवान् कृष्ण का अवतार मान लिया। अपने गाँव की स्त्रियों के साथ इन्हें क्रीड़ा करते हुए बतलाया गया है। किन्तु यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं मालूम पड़ता। चैतन्य गौराङ्ग एवं गौरचन्द्र भी कहलाते थे। अठारह वर्ष की आयु में इन्होंने लक्ष्मी देवी नामक स्त्री से विवाह किया। शिष्य बनाकर उन्हें व्यावहारिक शिक्षा देते हुए वे गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने घुमक्कड़ जीवन आरम्भ कर दिया तथा पूर्वी बङ्गाल के अनेक स्थानों की यात्रा की। भिक्षा माँगना एवं गीत

गाना उनका व्यवसाय था। कहा जाता है कि इससे उन्होंने प्रचुर मात्रा में धन कमाया। जब वे परदेश में थे, तभी उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई। लौटने पर उन्होंने दूसरी स्त्री से विवाह किया। लगभग तेईस वर्ष की आयु में वे अपने पूर्वजों को पिण्ड देने गया गए तथा वहाँ से लौटने पर उन्होंने अपने जीवन का उद्दिष्ट कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने ब्राह्मणों की विधिपरक पद्धति की निन्दा की तथा हरि-भक्ति एवं हरि के प्रति अनुराग किंवा मुक्ति के एकमात्र प्रभावकारी मार्ग के रूप में उनके नाम के कीर्तन का उपदेश दिया। उन्होंने जाति-प्रथा की निन्दा करते हुए भ्रातृत्व के सिद्धान्तों का उपदेश दिया। यह बतलाया जाता है कि भक्ति एवं प्रेम के सिद्धान्त का प्रचार चैतन्य से पहले अद्वैताचार्य नामक एक व्यक्ति ने किया था। प्रचलित ब्राह्मण-विधियों के संपादन के उपरान्त अद्वैताचार्य की यह चर्चा थी कि वे गङ्गा के तट पर जाते थे तथा विभिन्न यज्ञों के सिद्धान्त के स्थान पर भक्ति एवं प्रेम के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त प्रकट होने के लिए भगवान् को पुकारते थे। यह भी कहा जाता है कि पहले तो अद्वैताचार्य चैतन्य के गुरु थे परन्तु बाद में उनके शिष्य हो गये। तथ्य कुछ भी हो, जन सामान्य में अन्य धर्मों का निराकरण करके इस नये सिद्धान्त की उद्घोषणा सर्व प्रथम कृष्ण चैतन्य ने ही की। उनकी सहायता उनके भाई नित्यानन्द ने की, जो भगवान् कृष्ण के अग्रज बलराम के अवतार माने जाते थे। इसके उपरान्त चैतन्य ने भजन-कीर्तन के निमित्त सभाओं का आयोजन करना आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ में ये सम्मेलन व्यक्तिगत थे तथा श्रीवास नामक एक शिष्य के घर में होते थे। इन भक्तों के कृत्यों का विशेषकर काली के उपासकों द्वारा उपहास किया गया। एक ने उस घर के द्वार की सीढ़ियों पर जिसमें वैष्णव सभाएँ हुआ करती थीं लाल पुष्प एवं बकरे का रक्त फैला दिया। इन कीर्तनों में व्यक्त तीव्रता उत्तरोत्तर घनी होती जाती थी और ऊँचे स्वर से गाने वाले, मुख्य रूप से स्वयं चैतन्य, मूर्छित होकर भूमि पर गिर जाते थे। १५१० ई० में चैतन्य संन्यासी हो गए और कटवा के केशव भारती द्वारा संन्यास आश्रम में दीक्षित कर लिए गए। इसके बाद वे पहले जगन्नाथ मन्दिर का दर्शन करने पुरी गए और वहाँ से अपने नए मत[1] का उपदेश देते हुए छह वर्षों तक देश में चतुर्दिक घूमते रहे। एक बार वे बनारस गए, जहाँ पर उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के शिक्षक प्रकाशानन्द के साथ शास्त्रार्थ किया। चैतन्य ने शंकर के वेदान्तसूत्रभाष्य की आलोचना की और कहा कि इसने (भाष्य ने) मूल के भाव को रहस्यात्मक बना दिया है। शङ्कराचार्य ने बादरायण के शब्दों का सीधा और साधारण अर्थ नहीं किया अपितु उन पर बलात् अपना मत लागू कर दिया है। परिणामवाद का सिद्धान्त सूत्रकार को अभिमत है जब कि शङ्कराचार्य इसका खण्डन

१. उपर्युक्त विवरण जे० बीम्स के लेख का संक्षेप है। द्रष्टव्य इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग २, पृ० १ तथा आगे।

कर देते हैं तथा अपना विवर्तवाद उपस्थित करते हैं। चैतन्य के अनुसार केवल परिणामवाद ही सही है। इन यात्राओं के उपरान्त वे पुरी लौटे, जहाँ पर उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष बिताए और शकाब्द १४५५ (१५३३ ई०) में उनकी मृत्यु हो गयी।

चैतन्य के कतिपय सिद्धान्त निम्नलिखित हैं। कृष्ण सर्वोच्च देव हैं। वे इतने सुन्दर हैं कि कामदेव के हृदय में भी अपने प्रति अनुराग उद्दीप्त करते हैं तथा स्वयं अनुरागवान् हैं। उनकी परब्रह्मशक्ति जगत् में व्याप्त है तथा मायाशक्ति द्वारा शरीर धारण करती है। वे सबकी आत्मा हैं। वे विलासशक्ति सम्पन्न हैं, जो कि दो प्रकार की है : (१) प्राभवविलास, जिसके द्वारा वे गोपियों के साथ क्रीड़ा करते समय इतने रूप धारण कर लेते हैं कि दो-दो गोपियों के बीच एक-एक कृष्ण दिखलाई पड़ें; (२) विभव-विलास, जिसके द्वारा वे चतुर्व्यूह या वासुदेव, संकर्षण आदि स्वरूप ग्रहण करते हैं। वासुदेव चित्, संकर्षण अहंकार, प्रद्युम्न प्रेम तथा अनिरुद्ध लीला हैं। यहाँ पर चार व्यूहों के कार्य बदल दिए हैं। प्रद्युम्न मन के स्थान पर (जैसा कि प्राचीन मत में था) प्रेम तत्त्व हैं तथा अनिरुद्ध को अहंकार के स्थान में (जिसे संकर्षण में रख दिया गया है) लीला बतलाया है। यह परिवर्तन उपयुक्त ही है, प्रेम और लीला चैतन्य-मत की प्रमुख विशेषताएँ हैं। सभी विख्यात अवतार एक या दूसरे व्यूह से उद्भूत बतलाये गये हैं। सत्व, रज एवं तम इनमें जिस गुण का प्राधान्य होता है उसी के अनुसार कृष्ण क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा या शिव हो जाते हैं। सूर्य के उदय-अस्त के समान कृष्ण की लीलाएँ सदैव चलती रहती हैं। उनकी शाश्वत लीलाएँ गोलोक में होती हैं। कृष्ण तीन शक्तियों से सम्पन्न हैं : (१) आन्तरिक–चित् शक्ति, (२) बाह्य–माया शक्ति तथा (३) जीव शक्ति उनकी मुख्य शक्ति ह्लादिनी है। यह प्रेम की शक्ति प्रतीत होती है। जब प्रेम भक्त के हृदय में स्थिर हो जाता है तब वह महाभाव हो जाता है। जब प्रेम सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है तब राधा में प्रतिष्ठित होता है, जो सर्वाधिक सुन्दरी तथा समस्तगुणमयी हैं। वे कृष्ण के उत्कृष्ट-प्रेम की विषय हैं। प्रेम के रूप में आदर्शभूत होने कारण हृदय की प्रिय भावनाओं को उनका आभूषण माना जाता है। गोपियों की लीलाओं का कारण सहज प्रेम था और इसी को उद्धव तथा अन्य भक्त पाना चाहते थे। परमात्मा असीम तथा चिन्मय है। जीवात्मा भी चिन्मय है, किन्तु अणु है। वे दोनों ही परस्पर संबद्ध हैं और इस सम्बन्ध का कभी भी नाश नहीं होता। कृष्ण आश्रय हैं तथा जीव उन पर आश्रित है। दोनों के बीच में भेदाभेद सम्बन्ध है। इस प्रकार चैतन्य के मत का वेदान्त सिद्धान्त वही है जो निम्बार्क का है। जैसे मधुमक्खी मधु से भिन्न है तथा उसके आसपास चक्कर काटती रहती है और जब वह मधुका पान करती है तब उससे पूर्ण हो जाती है अर्थात् उसके साथ एक हो जाती है, इसी प्रकार जीवात्मा पहले तो

परमात्मा से भिन्न है, निरन्तर परमात्मा का अन्वेषण करती है तथा जब प्रेम के माध्यम से वह परमात्मा से परिपूरित हो जाती है तब उसे अपनी वैयक्तिक सत्ता का बोध नहीं रहता तथा वह मानों उसमें डूब जाती है। यहाँ पर उस परम आह्लाद-जनक स्थिति का वर्णन है, जिसमें जीवात्मा ईश्वर के साथ एक हो जाती है, यद्यपि वह वस्तुतः भिन्न हैं। कृष्ण मायाशक्ति के स्वामी हैं और जीव उनका दास है। जब जीव माया के पाशों को काट फेंकता है तब उसे अपना स्वरूप एवं ईश्वर से अपना यथार्थ सम्बन्ध स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। कृष्ण के पास केवल भक्ति द्वारा पहुँचा जा सकता है तथा भक्ति द्वारा ही उन्हें पाया जा सकता है।

कृष्ण चैतन्य, नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द इस सम्प्रदाय के तीन प्रभु कहलाते हैं। नित्यानन्द के वंशज नदिया में रहते हैं तथा अद्वैतानन्द के वंशज शान्तिपुर में। वे इस संप्रदाय के धर्म-गुरु हैं। स्वयं चैतन्य ने नित्यानन्द को मठ का प्रधान बनाया था। उनके नारी वंशज बालेगोर में रहते हैं तथा पुरुष वंशज बर्रकपुर के समीप खोर्दु में। मथुरा एवं वृन्दावन में चैतन्य के अनुयाइयों के मन्दिर हैं। तीन प्रमुख मन्दिर बङ्गाल में हैं, एक तो नदिया में चैतन्य का, दूसरा अम्बिका में नित्यानन्द का और तीसरा अग्रद्वीप में गोपीनाथ का। उत्तरी सिलहट में ढाकादक्षिण के पास, जहाँ पर पहले उनके पिता रहते थे, चैतन्य का एक देवायतन है। जिले के सभी भागों से यहाँ तक कि पूरे बङ्गाल से यात्री यहाँ आते हैं। राजशाही जिले में खेतुर में उनके सम्मान में एक मन्दिर बनवाया गया था। वहाँ अक्टूबर में एक धार्मिक मेला लगता है, जिसमें लगभग पचीस हजार लोग सम्मिलित होते हैं।

चैतन्य के अनुयायी जिन सांप्रदायिक चिह्नों को धारण करते हैं, वे हैं ललाट पर दो सफेद लम्बी रेखाएँ, जो कि नासासेतु पर परस्पर मिल जाती हैं तथा एक रेखा नासाग्र तक चली जाती है। वे तुलसी की मनकों की त्रिसूत्री कण्ठी तथा हरि का नाम जपने के निमित्त तुलसी की एक माला धारण करते हैं। देवों के रूप में गुरुओं की पूजा करना इस मत की विशेषता है। अद्वैतानन्द के अधिकांश अनुयायी जाति-भेद का पालन करते हैं, परन्तु कुछ इसका खण्डन भी करते हैं। ये लोग वैरागी हैं। इस सम्प्रदाय की एक शाखा में वैरागी एवं वैरागिणियाँ दोनों ही थे। वे एक ही मठ में रहा करते थे तथा उनके बीच केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध होता था। सद्गोप जाति के रामसरम पाल नामक एक व्यक्ति ने लगभग दो सौ वर्ष पहले इस सम्प्रदाय में कर्ताभाजस् (कर्ता अथवा प्रधान व्यक्ति के उपासक) नामक एक शाखा की स्थापना की। यह शाखा समस्त जाति के लोगों को दीक्षित करने का अनुमोदन करती है तथा कोई भी भेदभाव नहीं मानती। इसके संस्थापक, जिसे कर्ता बाबा भी कहते हैं, घोषपुर में दिवंगत हुए थे। अतएव उनके भक्तगण उनके सम्मान में समय-

---

१. द्रष्टव्य प्रसन्न कुमार विद्यारत्न, गौराङ्गतत्त्वसह गौराङ्गचरित, कलकत्ता में मुद्रित।

समय पर वहाँ इकट्ठे होते हैं। चैतन्य मत के आध्यात्मिक गुरु, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, ब्रह्मचारी होते हैं।

तीनों प्रभुओं ने अपनी कोई रचना नहीं छोड़ी। परन्तु चैतन्य के शिष्यों विशेषकर रूप और सनातन ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है। रसामृतसिन्धु नामक सनातन की एक कृति में मनःस्थितियों (जो कि भक्ति एवं भक्ति के विभिन्न रूपों की ओर ले जाती हैं) की व्याख्या करते हुए भक्ति-भावना का विश्लेषण है। इस धार्मिक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विपुल साहित्य लिखा गया है।

वैष्णवधर्म का अपकर्ष

राधा की पूजा को कृष्ण से भी अधिक प्रश्रय देने के कारण एक संप्रदाय का उदय हुआ, जिसके अनुयायी स्त्रियों के तमाम तौर-तरीकों के साथ उनके वस्त्र धारण करते हैं तथा उनके मासिक धर्म का भी अनुकरण करते हैं। उनकी आकृति तथा उनके कृत्य इतने निन्द्य होते हैं कि वे प्रायः लोगों के बीच अपने को प्रदर्शित नहीं करते। उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। राधा की सखियों एवं दासियों के पद की प्राप्ति उनका लक्ष्य है और शायद इसीलिए वे लोग 'सखी भाव' नाम धारण करते हैं। यहाँ पर केवल यह प्रदर्शित करने के निमित्त उनका उल्लेख किया गया है कि स्त्री-तत्त्व को जब पूजा का विषय बना दिया जाता है तब इसी तरह के घृणित परिणाम होते हैं। त्रिपुरसुन्दरी रूप में दुर्गा की उपासना का भी यही फल हुआ।

यद्यपि निम्बार्क, वल्लभ एवं चैतन्य के मत वैष्णवधर्म के चतुर्थ तत्त्व गोपाल-कृष्ण पर (जिसका संकेत हम पूर्ववर्ती खण्ड में कर चुके हैं) आधारित थे, फिर भी यह तत्त्व यथेष्ट परिष्कृत था। पहले कृष्ण गोपियों के साथ ही रासलीला करते थे। किन्तु अब राधा कृष्ण की पत्नी हो गयी थीं। राधा की बहुत सी सखियाँ थीं, जो संभवतः पहले गोपियाँ ही थीं। उपासकों की दृष्टि में कृष्ण के साथ राधा अभिन्न रूप से संपृक्त थीं। राधा का उल्लेख हरिवंश, विष्णु-पुराण एवं भागवत में नहीं है। भागवत में एक ऐसी गोपी का वर्णन अवश्य है, जो अन्य गोपियों सहित शरत्कालीन चन्द्रिका में कृष्ण के साथ वृन्दावन में रासलीला करती थी। उसके साथ युवा कृष्ण ने अन्य गोपियों से अदृश्य होकर विहार किया था। उसको अपने प्रति कृष्ण की विशेष आसक्ति का अभिमान हो गया था। इस पर कृष्ण उससे भी अदृश्य हो गये थे। संभवतः इस संकेत पर ही आगे चलकर राधा का विकास हुआ। नारदपाञ्चरात्रसंहिता में (जिसका प्रमाण संदिग्ध है) बतलाया गया है कि एक ईश्वर दो भागों में विभक्त हो गया, एक स्त्री तथा दूसरा पुरुष। पुरुष वह स्वयं था। इसके बाद उसने उस स्त्री के साथ विहार किया। वह स्त्री राधा थी। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार राधा वामाङ्ग बनकर कृष्ण के आद्य स्वरूप से निकली थीं तथा इस लोक एवं गोलोक की रास-लीलाओं में कृष्ण के साथ उनका नित्य सम्बन्ध है। सामान्यतः कृष्णायत सम्प्रदायों में

रुक्मिणी का नाम मिलता है। परन्तु उपर्युक्त सम्प्रदायों में यह नाम नहीं मिलता। राधा के नाम का प्रचलन तथा कृष्ण से भी अधिक उनका उन्नयन वैष्णव मत के अपकर्ष का कारण बना, न केवल इसलिए कि वे नारी थीं, अपितु इस कारण भी कि वे गोपाल-कृष्ण की प्रेयसी थीं तथा उन्होंने विवृत श्रृंगारिक लीलायें की थीं।

रामावत सम्प्रदायों में सीता एक कर्तव्यपरायण एवं अनुरागवती पत्नी हैं तथा अपने पति के भक्तों के प्रति अनुकम्पा रखतीं हैं। उनकी स्थिति राम से पूर्णतया गौण है, जब कि राधा को प्रायः कृष्ण की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है। राधा की कथा की भाँति सीताकी कथा में लेशमात्र श्रृंङ्गारिकता नहीं है। परिणामस्वरूप रामोपासना का अधिक नैतिक प्रभाव है। जहाँ तक मुझे मालूम है, कबीर ने सीता के नाम का उल्लेख भी नहीं किया। वे पक्के अद्वैतवादी थे तथा उनके राम केवल साहेब (परमेश्वर) थे। उनके अनुयायी दूसरे उपदेशकों ने भी यही दृष्टिकोण रखा। अतएव राधा-कृष्ण की अपेक्षा रामोपासना हिन्दू धार्मिक चिन्तन का अधिक स्वस्थ एवं अधिक विशुद्ध अंग है।

नामदेव और तुकाराम

महाराष्ट्र के लोकप्रिय वैष्णवधर्म का केन्द्र पण्ढरपुर में विठोबा का मन्दिर है। यह नगर भीमा या भैमरथी नदी के किनारे बसा है। देवता का पूरा नाम विट्ठल है। यह संस्कृत नाम नहीं है, फिर भी व्युत्पत्ति स्पष्ट है। कन्नड़ भाषा में संस्कृत विष्णु विगड़कर विट्ठु हो जाता है। यह सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि कृष्ण शब्द गोवा की बोली में कुष्टु और कन्नड़ में कुट्टु, किट्टि, या कृष्ट हो जाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि होयसल राजा विष्णुवर्धन का नाम विगड़कर विट्टि या विट्टि हो गया था। विष्णु या विट्ठ के अन्त में 'बा' और 'ल' जोड़ देने पर मृदुता अथवा आदर का भाव प्रकट होता हैं। उक्त मन्दिर की स्थापना कब हुई थी, इस बात की जानकारी के लिए साधन उपलब्ध नहीं है। किन्तु तेरहवीं शताब्दी के मध्य में इसके अस्तित्व का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है। देवगिरि के यादव-वंशी राजा कृष्ण के राज्यकाल के एक ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है कि उनके सेनानायक और राष्ट्रिय मल्लिसेट्टी ने एक सैन्य अभियान के समय शक सं० ११७१ (१२४९ ई०) में भैमरथी के तट पर अवस्थित पौण्डरीक क्षेत्र में विष्णु के समीप एक गाँव का दान किया था, जो बेलगाउम जिले में था।[१] पौण्डरीकक्षेत्र भैमरथी नदी पर था। इसलिए यह अनुमान असंगत नहीं है कि पौण्डरीकक्षेत्र पण्ढरी अथवा पण्ढरपुर ही था और जिन विष्णु के सान्निध्य में दान दिया गया था वे विट्ठल या विठोबा ही थे। किन्तु इस अभिलेख में उनका कन्नड़ नाम न देकर संस्कृत नाम दिया गया है। पण्ढरपुर के अन्य शिलालेख में, जिसकी तिथि शकाब्द ११९२ (१२७० ई०) है, कहा गया है[२] कि केशव के पुत्र भानु ने पाण्डुरंगपुर में आप्तोर्याम

१. इण्डि० एण्टि०, भाग १४, पृ० ६८ तथा आगे।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, द्वितीय संस्करण, पृ० १९५

यज्ञ किया था, जिसमें असंख्य लोग और विट्ठल तथा अन्य देवता संतुष्ट किये गये थे। यहाँ पण्ढरपुर का दूसरा नाम मिलता है। इसका पाण्डुरंगपुर नाम सम्भवतः इसलिए रखा गया था कि यह पाण्डुरंग का नगर था। हेमचन्द्र के अनुसार पण्डरंग या पंडुरंग रुद्र या शिव का एक नाम है (देशी०, ६, २३)। पण्ढरपुर में एक शिव मन्दिर है यात्री विठोबा के मन्दिर में जाने के पूर्व इस मन्दिर के दर्शन करते हैं। पाण्डुरंग, जिसे हेमचन्द्र ने पण्डुरंग कहा है, आजकल विट्ठल का लोकप्रिय नाम है। इस नगर का पाण्डुरंगपुर नाम विष्णु-मन्दिर के कारण था अथवा शिवमन्दिर के कारण, यह कहना कठिन है। अभिलेख में विट्ठल और पाण्डुरंगपुर का अलग अलग उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि शिवमन्दिर होने के कारण ही उस नगर का पाण्डुरंगपुर नाम था। कालान्तर में जब विठोबा का इतना महत्त्व बढ़ा कि शिव पीछे कर दिये गये पाण्डुरंग नाम विट्ठल को दे दिया गया। प्रथम अभिलेख में उल्लिखित पौण्डरीक नाम पुण्डरीक नामक व्यक्ति के नाम पर पड़ा होगा। उसके बारे में एक कथा है, जो इस प्रकार है। पण्ढरपुर के आसपास एक जङ्गल था, जिसका नाम डिण्डिरवन था। वहाँ पुण्डलीक नाम का एक आदमी रहता था। वह हर समय अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करता रहता था। इस सेवा से भगवान् कृष्ण उससे प्रसन्न हो गये। उसी समय द्वारका में कृष्ण ने राधा का स्मरण किया, जो गोकुल में उनकी प्रेयसी थीं। कृष्ण के गोकुल से चले जाने के बाद कृष्ण के विरह के कारण वे तपस्या करने के लिए हिमालय चली गयीं थीं। उन्हें अपनी नैसर्गिक ज्ञान-शक्ति से जब कृष्ण के स्मरण करने की बात ज्ञात हुई, वे तुरंत द्वारका पहुँचीं और कृष्ण के उत्सग में बैठ गयीं। कुछ ही समय बाद कृष्ण की विवाहिता रुक्मिणी उस स्थान पर आयीं, किन्तु राधा उनके सम्मान में उठ नहीं सकीं, जैसा कि उस परिस्थिति में किसी भी स्त्री से होता। कृष्ण ने भी रुक्मिणी के इस अपमान पर राधा की भर्त्सना नहीं की। इससे रुक्मिणी को बुरा लगा। उन्होंने द्वारका को त्याग दिया और यहाँ वहाँ भटकते हुए डिण्डिरवन पहुँचीं तथा उस स्थान पर, जहाँ आजकल पण्ढरपुर है, ठहर गयीं। रुक्मिणी के चले जाने पर कृष्ण बड़े दुःखी हुए और उनकी खोज में चतुर्दिक् गये। अन्त में वे उस स्थान में पहुँचे, जहाँ रुक्मिणी थीं। उनकी आपत्तियों का समाधान करके कृष्ण ने उन्हें मना लिया। तब वे पुडलीक को माता-पिता की सेवा के पुरस्कार के रूप में दर्शन देने के लिए उसकी कुटी पर गये। माता-पिता की सेवा में लगे होने के कारण पुण्डलीक उस समय उनका स्वागत नहीं कर सकता था। इसलिए उसने एक ईंट (मराठी वीट) फेंक दी और कृष्ण से कहा कि तब तक उसी पर खड़े रहें और उसकी प्रतीक्षा करें, जब तक वह, जिस काम में लगा है, उसको पूरा न कर ले। कृष्ण रुक्मिणी के साथ उस ईंट पर खड़े रहे और इस प्रकार पण्ढरपुर का मन्दिर अस्तित्व में आया।

पुण्डलीक को नामदेव तथा तुकाराम दोनों ने विट्ठल सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है तथा लोगों का ऐसा ही विश्वास है। उपर्युक्त कथा का भी यही आशय है। इसलिए

हम पुण्डलीक को महाराष्ट्र में विठोवा सम्प्रदाय का प्रवर्तक स्वीकार कर सकते हैं। वह पण्ढरपुर में रहता था, कदाचित् इसी कारण यह नगर पौण्डरीकक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। मैं उपर्युक्त प्रथम अभिलेख के पण्ढरी और पण्ढरपुर को अभिन्न मानता हूँ। दूसरे अभिलेख का पाण्डुरंगपुर बाद में पण्ढरपुर हो गया होगा।

इस कहानी का एक दूसरा भी ऐतिहासिक महत्त्व है। आरम्भ में पूजा में कोई स्त्री कृष्ण से सम्बद्ध नहीं थी। किन्तु बाद में राधा उनसे सम्बद्ध हो गयीं, जैसा कि हम निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य के मतों में देख चुके हैं। महाराष्ट्र में कृष्ण के साथ उनकी विवाहिता पत्नी रुक्मिणी सम्बद्ध हो गयीं। पण्ढरपुर के कृष्ण विट्ठल या विठोवा नाम से ही जाने जाते हैं और रुक्मिणी रुक्माई या रुक्मावाई नाम से। उस प्रदेश के धार्मिक साहित्य में विट्ठल (कृष्ण) रुक्मिणीपति या रुक्मिणीवर ही कहलाते हैं, राधावल्लभ नहीं। इस प्रकार महाराष्ट्र का वैष्णवधर्म, जिसमें कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा होती है, ऊपर उल्लिखित तीन सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और शुद्ध है। राही (राधिका का मराठी रूप) अज्ञात नहीं है, किन्तु उनको महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। कभी-कभी पूजा में गोकुल के कृष्ण की लीलायें भी होतीं हैं, किन्तु उनका बहुत कम महत्त्व है। महाराष्ट्र का यह वैष्णवधर्म निम्न जातियों में बड़ा लोकप्रिय हुआ, यद्यपि इनके अनुयायी ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची जातियों के भी थे। रामानन्द सम्प्रदाय की तरह इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी संस्कृत के विद्वान् नहीं थे। इस सम्प्रदाय के सन्त शूद्र थे, जिनको सच्ची धार्मिक अनुभूति और विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि थी। नामदेव और तुकाराम ऐसे ही थे।

नामदेव का परिवार मूलतः नरसि बामणी ग्राम में रहता था। यह ग्राम सतारा जिले के करहाड के समीप स्थित था और आजकल भाये-नरसिंहपुर या कोलेम्-नरसिंहपुर कहलाता है। नामदेव का परिवार दर्जी जाति का था, इसलिए इनका पेशा दर्जीगिरी अथवा कपड़ा बेचना था। नामदेव के पिता का नाम दामा सेट और माता का गोणाबाई था। वे बाद में पण्ढरपुर में आकर बस गये और वहीं शक सं० ११९२ (१२७० ई०) में नामदेव का जन्म हुआ। नामदेव ने साधारण शिक्षा प्राप्त की, किन्तु अपने पैतृक धन्धे के प्रति रुचि नहीं दिखलायी। वे विठोबा के भक्त बन गये और विसोबा-खेचर (जो मूर्ति-पूजा के विरोधी मालूम पड़ते हैं) को अपना गुरु बनाया। नामदेव कहते हैं कि उनके गुरु ने उनको निम्नलिखित उपदेश दिया था—.

सं० १९१[१]. "पत्थर का ईश्वर कभी नहीं बोलता। तब उसके द्वारा भव-रोग को दूर करने की क्या सम्भावना? लोग पत्थर की मूर्ति को ईश्वर समझते हैं, किन्तु सच्चा ईश्वर एकदम भिन्न है। अगर पत्थर का ईश्वर इच्छाओं को पूर्ण करता है तो क्या कारण है कि मारने पर वह टूट जाता है? जो यह कहते और सुनते हैं कि पत्थर का भगवान् अपने भक्तों से बोलता है, वे दोनों ही मूर्ख हैं। जो ऐसे ईश्वर की महत्ता गाते

---

१. तुकाराम तात्या का संस्करण, बम्बई, १८९४

हैं और अपने को उसका भक्त कहते हैं, वे किसी काम के नहीं हैं और उनके शब्दों को नहीं सुनना चाहिए। पत्थर को तराश कर ईश्वर बनाया जाता है और वर्षों सावधानी के साथ उसकी पूजा की जाती है परन्तु समय पड़ने पर क्या वह किसी भी काम आ सकता है ? इस पर अपने मन में अच्छी तरह विचार करो। तीर्थ छोटा हो या बड़ा वहाँ पत्थर अथवा जल के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है। द्वादशी (बारसी)[1] ग्राम में यह उपदेश दिया था कि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। वह ईश्वर नामा को हृदय में दिखलाया था और इस प्रकार खेचर ने उन्हें आशीर्वाद दिया था।"

ईश्वर न तो पत्थर हैं और न (जल) राशि अपितु सर्वतोविद्यमान है। इस बात की यहाँ अच्छी व्याख्या की गयी है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का नामदेव इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं—

सं० १५१. "तेरी शक्ति से वेदों को बोलना और सूर्य को चक्कर लगाना पड़ता है; जगत्पति, तेरी ऐसी शक्ति है। यह सारभूत तथ्य जानकर मैंने अपने को तेरे प्रति अर्पित कर दिया है। तेरी शक्ति से मेघ वर्षा करते हैं, पर्वत स्थिर रहते हैं और पवन बहता है। (तेरे बिना) कुछ भी नहीं चलता। स्वामी पाण्डुरंग, तुम सबके कारण हो।"

इससे प्रकट होता है कि यद्यपि नामदेव पण्ढरपुर में मूर्ति को पूजते थे, किन्तु उन्हें ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का, जैसा कि उपनिषदों में दिया है, पूरा ज्ञान था और इसी ईश्वर को प्राप्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया था।

सं० १०२९. "तुम्हारा मन दुर्गुणों से भरा है। तुम जो तीर्थयात्रायें करते हो उनसे क्या लाभ ? यदि पश्चात्ताप नहीं हुआ तो तप का भी क्या प्रयोजन ? मानस व्यापार से उत्पन्न पाप ऊँचे से ऊँचे तीर्थ (तीर्थों के पिता) द्वारा भी प्रक्षालित नहीं होता। सार यह है कि पाप पश्चात्ताप से प्रक्षालित होता है" ऐसा नामदेव कहता है।

सं० ८८७. व्रत, उपवास और तप की कोई आवश्यकता नहीं है और न तीर्थयात्रा की ही आवश्यकता है। अपने हृदय में जागरूक रहो और सर्वदा हरि का नाम भजो। अन्न-जल त्यागने की आवश्यकता नहीं है, हरि के चरणों में मन लगाओ। योग, यज्ञ, इन्द्रिय-विषयों के त्याग अथवा निर्गुण के ध्यान की भी आवश्यकता नहीं है। हरि-नाम के प्रेम में लगे रहो; नामा कहता है, हरि नाम गाने में लगे रहो और तब तुम्हारे सामने पाण्डुरंग स्वयं प्रकट होंगे।"

इन दो गीतों में नामदेव अपने श्रोताओं को शुद्धि और ईश्वर-प्राप्ति के प्रचलित तरीकों, जैसे तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, यज्ञ और अनन्त के ध्यान की अक्षमता बतलाते हैं।

सं० २४५. "उसी को धार्मिक मानो जो समस्त अहम् का परित्याग करके सब विषयों में वासुदेव को देखता है, शेष माया के बन्धन में फँसे हैं। उसके लिए सब धन

१. बारसी पण्डरपुर के समीप एक नगर है।

मिट्टी है और नौ रत्न पत्थर मात्र है। उसने इच्छा और क्रोध को अलग कर दिया है और अपने हृदय में (शब्दशः घर में) शान्ति और क्षमा को बढ़ाया है। वह निरन्तर गोविन्द का नाम जपता है, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता।"

सं० १००४. "सत्य अर्थात् नारायण को दृढ़ता के साथ पकड़े रहो। चारित्रिक शुद्धि का परित्याग मत करो। लोक-निन्दा से बिना भयभीत हुए अपना कार्य सम्पन्न करो। समस्त दम्भ और अहंकार त्यागकर अपने को अपने प्रिय सखा (ईश्वर) के प्रति अर्पित कर दो। लोक-निन्दा को प्रशंसा समझो और लोगों की प्रशंसा पर ध्यान मत दो। सम्मान की स्पृहा नहीं होनी चाहिए और अपने अन्दर भक्ति की चाह को बढ़ाना चाहिये। भक्ति की चाह बड़ी दृढ़ होनी चाहिए और एक क्षण के लिए भी ईश्वर के नाम की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।"

इन गीतों में नामदेव उस व्यक्ति की पवित्र स्थिति का वर्णन करते हैं, जो वासुदेव का भक्त है और उन्हें सर्वत्र देखता है तथा लोक-निन्दा की चिन्ता न करते हुए भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण का उपदेश देता है।

यह नामदेव की शिक्षाओं की संक्षिप्त बानगी है। हृदय-शुद्धि, विनय, आत्म-समर्पण, क्षमा और भगवत्-प्रेम उन शिक्षाओं का सार है। नामदेव ने हिन्दी में भी गीत लिखे थे। उनमें से कुछ सिक्खों के धर्म ग्रंथ ग्रंथ-साहब (लखनऊ, १८९३, पृ० ४२७–२८) में संकलित हैं। यहाँ मैं दो का अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ—

सं० २३५२. "वह एक है, (परन्तु) बहुतों को भरता और परिवेष्टित करता है। जहाँ भी तुम देखो, उसको वहाँ पाओगे। कोई विरला ही उसको समझता है, सभी मायाजन्य चित्र-विचित्र दृश्य से मोहित हैं। सब कुछ गोविन्द है, सब कुछ गोविन्द है, गोविन्द से रहित कुछ भी नहीं है। जैसे एक ही सूत्र में आड़े सीधे मोती गुथे हुए हैं, उसी तरह ईश्वर में सब कुछ गुथा हुआ है। जल के बुद्बुद, फेन और तरङ्ग, जल से भिन्न नहीं हैं। यह समस्त विश्व-प्रपञ्च परब्रह्म की क्रीड़ा है, परन्तु विचार करने पर वह उससे भिन्न नहीं है। मायाजन्य छायाओं और स्वप्न की वस्तुओं को वास्तविक समझा जाता है। जब गुरु के उपदेश से मेरी बुद्धि खुल गयी, मैंने सत्य को स्वीकार किया। नामा कहता है कि मनन करके इस सबको हरि की सृष्टि समझो; प्रत्येक वस्तु के अन्दर बिना किसी अन्तराल के एक-एक मुरारी समाया हुआ है।"[१]

सं० २३५३. "भगवान् के स्नान के लिए घड़ा भरकर जल लाया गया। उसमें ४२ लक्ष जीव थे, विट्ठल उन सबमें थे। मैं किसको स्नान कराऊँ? जहाँ हम जाते हैं, वहीं विट्ठल हैं और आनन्द से क्रीड़ा करते हैं। पुष्प लाये गये और भगवान् की पूजा के लिए मालायें गूँथी गयीं। मधुकरों ने पहले ही फूलों को सूँघ लिया था। विट्ठल उनमें भी था; मैं क्या करूँ? दूध लाया गया और भगवान् के नैवेद्य के लिए खीर पकायी गयी, लेकिन बछड़े ने पहले ही दूध पी लिया था। विट्ठल उसमें भी

---

१. तुकाराम तात्या का संस्करण

२. मैकोलिफ, सिक्ख रिलीजन, भाग ६, पृ० ४१–४२

थे, मैं क्या करूँ ? यहाँ विट्ठल हैं, वहाँ विट्ठल हैं। ऐसा कोई संसार नहीं है, जहाँ विट्ठल न हों। नामा कहता है, "तुमने इस स्थान को और उस स्थान को भर दिया है। तुमने अखिल विश्व को भर दिया है।"

इन पदों में नामदेव ने ईश्वर के सर्वत्र विद्यमान होने का वर्णन किया है।

नामदेव की जन्मतिथि, जैसा कि हम देख चुके हैं, शक सं० ११९२ (१२७० ई०) है। इससे वे ज्ञानदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। ज्ञानदेव ने अपने ग्रंथ ज्ञानदेवी को १२९० ई० में पूरा किया था। इस ग्रन्थ की मराठी निश्चित रूप से अधिक प्राचीन है, जब कि नामदेव के ग्रन्थ अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन मालूम पड़ते हैं। नामदेव की हिन्दी कवि चन्द के समय (१३वीं शताब्दी) की हिन्दी से अधिक अर्वाचीन लगती है। ऐसा क्यों है, यह कहना कठिन है। सम्भव है कि परम्परा में उनकी तिथि को पहले कर दिया गया हो और इस तरह उन्हें ज्ञानदेव का समकालीन बना दिया गया हो। हम पहले ही देख चुके हैं कि नाभाजी विष्णुस्वामी के उत्तराधिकारियों का नामोल्लेख करते हुए पहले ज्ञानदेव को रखते हैं और फिर नामदेव को। नामदेव की मराठी और हिन्दी के आधार पर उनकी तिथि लगभग एक शताब्दी आगे चली जाती है। नामदेव के समय का कुछ अनुमान मूर्तिपूजा की निरर्थकता सम्बन्धी प्रबल भावना से लगाया जा सकता है। ऊपर उद्धृत एक पद के अनुवाद में बतलाया गया है कि नामदेव के गुरु ने मूर्तिपूजा की निरर्थकता का उपदेश दिया था। प्राप्त जीवन-चरितों में दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि खेचर अथवा विसोबा खेचर (जो उनका अधिक प्रचलित नाम था) मूर्तिपूजा के प्रबल विरोधी थे। रामानुज समेत सभी पूर्ववर्ती और अनेक उत्तरवर्ती लेखकों ने किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा को चलने दिया। यदि खेचर मूर्तिपूजा के विरोधी थे तो वे और उनके शिष्य नामदेव उस समय हुए होंगे जब मुस्लिम धर्म पहली बार अत्यधिक शक्तिशाली हुआ था। मुसलमान चौदहवीं शताब्दी ईसवी के आरम्भ में दक्षिण में बसे थे और उनकी मूर्तिपूजा के प्रति घृणा की भावना को धार्मिक हिन्दुओं में स्थान पाते-पाते लगभग सौ वर्ष लग गये होंगे। नामदेव ने अपने एक पद में (सं० ३६४) तुर्कों द्वारा मूर्तिभंजन करने का उल्लेख किया है। यह इस बात का सीधा प्रमाण है कि नामदेव उस समय हुए थे जब महाराष्ट्र में मुसलमान जम गये थे। प्रारम्भिक काल में हिन्दू मुसलमानों को तुर्क कहते थे। इसलिए नामदेव चौदहवीं शताब्दी के लगभग अथवा उसके बाद हुए और उनकी तिथि का उपर्युक्त विवरण ठीक नहीं है। दुर्भाग्य की बात है कि ऐतिहासिक भावना कभी भी हम भारतवासियों की बौद्धिक जीवन की कसौटी नहीं रही। हम प्रायः दो व्यक्तियों को एक कर देते हैं और एक की विशेषता दूसरे के साथ जोड़ देते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में इसी प्रकार की भ्रान्ति प्रतीत होती है।

तुकाराम का जन्म देहु नामक ग्राम में हुआ था और वहीं वे रहे। यह ग्राम पूना से १४ मील उत्तर-पूर्व है। उनका परिवार मोड़े कहलाता था और मराठा जाति

का था, जो पुराने क्षत्रियों से निःसृत है। किन्तु इस परिवार को शूद्र जातीय समझा जाता है। उनकी जन्म-तिथि के विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं है, किन्तु परम्परा से उनकी मृत्यु तिथि शक सं० १५७१ (१६४९ ई०) मानी जाती है और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। उनका जीवन-चरित लिखने वाले महीपति बतलाते हैं कि अपने जीवन के पूर्वार्ध में जब वे २१ वर्ष के थे तभी दिवालिया हो गये थे। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वे ४२ वर्ष जीवित रहे और इस तरह उनका जन्म १६०७–८ ई० में हुआ होगा।

तुकाराम के सात पूर्वज विठोबा के पक्के भक्त थे। उनमें विश्वम्भर प्रथम थे, जो नियमित रूप से पन्ढरपुर की यात्रायें करते रहते थे। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने नगर में ही मन्दिर बनवा लिया और वहाँ विठोबा और रुक्मिणी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कर दीं। तुकाराम के पिता का नाम बोल्होजी था और वे छोटे व्यापारी का धंधा करते थे। जब वे वृद्ध हुए उन्होंने अपने पारिवारिक मामलों और अपने धंधे का भार अपने जेष्ठ पुत्र सावजी पर रखना चाहा। किन्तु सावजी की सांसारिक जीवन में रुचि नहीं थी, इसलिए उन्होंने धंधे का भार स्वीकार नहीं किया। तब यह भार तुकाराम पर रखा गया। उस समय वे तेरह वर्ष के थे। तुकाराम ने किसी तरह १७ वर्ष की अवस्था तक चलाया और उस समय उनके पिता की मृत्यु हो गयी। इस घटना से उनको बड़ी पीड़ा हुई। वे बड़े सरल थे और कुटिल लोग उन्हें ठग लेते थे। इस कारण उनका धंधा अव्यवस्थित हो गया और घाटा हुआ। तुकाराम का विवाह जिस स्त्री से हुआ था वह रोगिणी थी। कुछ समय के बाद उन्होंने जीजाबाई या आवली नामक दूसरी स्त्री से विवाह किया, जो पूना के एक सम्पन्न व्यापारी की कन्या थी। जब तुकाराम का धंधा अस्त-व्यस्त हो गया, तब आवली ने उनके लिए ऋण की व्यवस्था कर दी और पुनः धंधे में लगा दिया। अल्प समय में ही इस नये धंधे में उन्हें लाभ हुआ। जिस स्थान से सामान वेचने गये थे, उस स्थान पर वापस आते समय उन्हें एक आदमी मिला, जिसे उसके ऋणदाता के कर्मचारी पकड़कर ले जा रहे थे और वह चिल्ला रहा था कि कोई मदद करके उसे ऋण से मुक्त कर दे और कारावास से बचा ले। तुकाराम के पास जो कुछ भी मूलधन और लाभ था, वह सब उन्होंने उस व्यक्ति को दे दिया। वे खाली हाथ देहू लौट आये। तुरंत बाद दुर्भिक्ष पड़ा, जिसने उन्हें दिवालिया बना दिया। उनकी पहली स्त्री भूख से मर गयी। तब तुकाराम ने अपना धंधा छोड़ देने का निर्णय किया किन्तु उनके छोटे भाई कान्ह्या ने इसका विरोध किया। तब इन्द्रायणी के तट पर बैठकर उन्होंने अपने भाई से अपने धंधे सम्बन्धी विक्रयपत्र, प्रतिज्ञा-पत्र आदि सब कागज-पत्र मँगाये, उनको दो हिस्सों में बाँटा, एक भाग कान्ह्या को दे दिया। फिर उन्होंने अपने भाई से अलग होकर रहने के लिए कहा और अपना हिस्सा नदी में फेंक दिया। तदनन्तर उन्होंने अपने को ईश्वर के

ध्यान में लगाया। उनके भजन गाते हुए वे दिन देहू के समीप पहाड़ी के ऊपर बिताते थे और रात गाँव में विठोबा के मन्दिर में। उनके पूर्ववर्ती मराठी साधु-सन्तों ने धार्मिक विषयों पर जो ग्रन्थ लिखे थे उनको उन्होंने पढ़ा। शीघ्र ही उनके मन में मराठी में गीत लिख कर अपने भावों को अभिव्यक्त करने का विचार आया। उन्होंने अभंग छन्द का प्रयोग किया, जिसकी रचना कठिन नहीं है, केवल नियत दूरी पर अन्त्यानुप्रास कर देते हैं। एकाग्र धर्मनिष्ठा, सबकी सेवा की इच्छा तथा लोगों के कार्यों को भी कर देना उनके चरित्र का लक्षण बन गये। पारिवारिक बातों को उनकी पत्नी देखती थी, जो प्रायः अपने को बड़ी कठिनाई में पाती थी। तुकाराम का मुख्य कार्य कीर्तन करना था, जिनमें गीतों के बीच-बीच में धार्मिक प्रवचन भी होते थे। धीरे-धीरे ये प्रवचन बड़े आकर्षक हो गये और बड़ी संख्या में लोगों को आकृष्ट करने लगे। इस अवसर पर वे जिन गीतों को गाते थे वे प्रायः उन्हीं के लिखे होते थे। कभी-कभी प्रवचन करते-करते वे गीतों की रचना कर डालते थे। तुकाराम का यश न केवल पूरे गाँव के आस-पास बल्कि पूरे प्रदेश में फैल गया। इससे विशेषकर ब्राह्मणों के मन में, जिन्होंने अपने को धर्म का आचार्य बना रखा था, ईर्ष्या हो गयी। तुकाराम को दण्ड दिया गया। किन्तु उन्होंने बराबर संयम रखा, यद्यपि उनके मस्तिष्क में बड़े अन्तर्द्वन्द्व थे। उनका यश महाराष्ट्र के भावी अधिपति उदीयमान राजा शिवाजी के कानों तक पहुँचा। वे तुकाराम के कीर्तन सुनने को उत्सुक हुए और एक अवसर पर मशाल, छत्र और घोड़े, जो सम्मान के चिह्न हैं, भेज कर अपने यहाँ बुलवाया। किन्तु तुकाराम ने जाना अस्वीकार कर दिया और उनको एक छन्द-बद्ध पत्र भेज दिया। एक अन्य अवसर पर शिवाजी ने पूना से छः मील दूर लोहगाँव में उनका कीर्तन सुना और उनके सामने सोने के सिक्कों से भरी एक थाली रख दी। तुकाराम ने उनको स्वीकार नहीं किया और सिक्के वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों को बाँट दिये गये। कहा जाता है कि जब उनका अन्त समीप आया उन्होंने अपने बहुत से अनुयायियों को एकत्र किया। सब भगवान् के कीर्तन में निमग्न होकर उत्साह के साथ जोर-जोर से गाते हुए इन्द्रायणी के तट की ओर चल दिये। जब लोग नदी पर पहुँचे तुकाराम सहसा तिरोहित हो गये थे। उनकी मृत्यु का कोई और अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तुकाराम अभंगों की रचना करने में सिद्धहस्त थे। अभंगों में ही वे बोलते और अभंगों में ही लिखते थे। उनमें से सब तो लिखे नहीं जा सकते थे, अतएव कुछ ही लिखे गये। उन्होंने और उनके तुरंत बाद के उत्तराधिकारियों ने बहुतों को छोड़ दिया, किन्तु वे लोगों की स्मृति में रह गये। इसलिए उनकी रचनाओं के सभी संग्रह एक से नहीं हैं। बम्बई से दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं। एक में ४६२१ अभंग हैं और दूसरे में ८४४१। दूसरा संस्करण विधिवत् परीक्षण करके तैयार नहीं किया गया, कभी-कभी आरम्भिक वचन को छोड़कर एक

ही अभंग को दो बार दे दिया गया है। फिर भी यह अपेक्षाकृत बड़ा संग्रह है और इसमें ऐसे अभंग हैं, जो पहले संग्रह में नहीं मिलते, किन्तु वे तुकाराम की ही शैली में हैं और उनमें तीव्र भक्ति और शुद्ध विचार देखने को मिलते हैं। अब हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम संग्रह, सं० २८६९. "जब बृहस्पति सिंह लग्न में प्रवेश करता है तब नाई और पुरोहितों के भाग्य खुलते हैं। हृदय में करोड़ों पाप रहते हैं, परन्तु लोग ऊपर ही ऊपर शिर और दाढ़ी मुड़वाते हैं। मूड़ देने पर बाल नहीं रहे। मुझे बतलाओ और क्या अन्तर आया ? बुरी आदतें नहीं बदलीं, जिनका बदलना पाप-क्षय माना जाता। तुकाराम कहते हैं कि बिना आस्था और भक्ति के हर बात व्यर्थ की मुसीबत है।"

द्वितीय संग्रह, सं. ४७३३. "पवित्र नदी में जाकर तुमने क्या किया ? तुमने केवल ऊपर-ऊपर अपनी त्वचा धोयी है। आभ्यन्तर कैसे शुद्ध हुआ ? इससे तुमने केवल अपनी शोभा बढ़ायी है। तिक्त वृन्दावन फल को चीनी से भी लपेट दिया जाय फिर भी भीतर की तिक्तता किसी तरह कम नहीं होगी। यदि अन्दर शान्ति, क्षमा और सहानुभूति का उदय नहीं होता, तब तुम क्यों कोई कष्ट करते हो ?"

प्रथम संग्रह, सं० ९० (१-२). "तुमने तिल और चावल आग में डाल कर जला दिये, किन्तु काम और क्रोध ये दो दुराचारी तो पहले की तरह बने हुए हैं। तब पाण्डुरंग की पूजा छोड़ कर तुमने व्यर्थ का कष्ट क्यों किया ?"

यहाँ पर तुकाराम यज्ञ आदि विधानों और उन धार्मिक रीति-रिवाजों की निन्दा करते हैं, जिनका सम्बन्ध केवल शरीर से है तथा वे ईश्वर की पूजा और आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता पर बल देते हैं।

प्रथम संग्रह, सं० २३८३ में तुकाराम जाखाई जोखाई आदि देवियों, भैरव और गणपति आदि देवताओं, तथा भूतों-पिशाचों की पूजा की निन्दा करते हैं और रुक्मिणी-वल्लभ की पूजा करने का परामर्श देते हैं। इस प्रकार तुकाराम, केवल पण्ढरपुर के बिठोवा के भक्त थे और इस अर्थ में एकेश्वरवादी थे। यद्यपि वे मन्दिर में मूर्ति की पूजा करते थे, फिर भी उनके मानस-चक्षुओं के सामने जगत् के परमेश्वर रहते थे जैसा कि नीचे बतलाया गया है —

प्रथम संग्रह, सं० ४३६१. "तुम्हारी महत्ता का पता नहीं लगता। वेद भी मौन हो जाते हैं और मन की शक्ति कुंठित हो जाती है। इस बात की क्या संभावना कि मेरी मानसी शक्ति उन तक पहुँच पायेगी, जिनके प्रकाश को सूर्य और चन्द्र फैला रहे हैं ? सहस्र जिह्वाओं वाला शेषनाग भी तुम्हारी महत्ता का वर्णन नहीं कर सकता, तब मैं कैसे कर सकता हूँ ? तुका कहता है कि हम तुम्हारी सन्तान हैं, तुम हमारी माता हो, हमको अपने अनुग्रह की छाया में समेट ले।"

प्रथम संग्रह, सं० ४४१९. "समस्त संसार कहता है कि तिल भर भी जगह तुमसे रहित नहीं है। पुराने ऋषि-मुनि, सन्त और महात्मा कह गये हैं कि तुम इन सब

वस्तुओं के हृदय में स्थित हो···तुम असंख्य ब्रह्माण्डों में व्याप्त होकर भी उनसे कहीं अधिक हो, फिर भी तुम मेरे लिए अगम्य हो।

प्रथम संग्रह, सं० १८७०. ईश्वर हमारा है, निश्चय ही हमारा है, और सभी आत्माओं की आत्मा है। ईश्वर हमारे समीप है, निश्चय ही हमारे समीप, बाहर और भीतर है। ईश्वर दयावान् है, निश्चय ही दयावान् और इच्छाओं की भी इच्छा पूरी करता है। ईश्वर हमारी रक्षा करता है, निश्चय ही रक्षा करता है और संघर्ष और मृत्यु को दबाता है। ईश्वर कृपालु है, निश्चय ही कृपालु और तुका की रक्षा करता है।"

इस परमात्मा की प्राप्ति सच्चे प्रेम से ही हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं—

प्रथम संग्रह सं० ८१०. "तेरा यह स्वरूप मन तथा शब्दों द्वारा ग्राह्य नहीं है; इसलिए मैंने सच्चे प्रेम को मापक बनाया है। मैं प्रेम से अनन्त को मापता हूँ, वह अन्य साधनों से अपरिमेय है। योग, यज्ञ, तप अथवा ज्ञान से तुमको प्राप्त नहीं किया जा सकता है। केशव, शुद्ध हृदय से हम जो सेवाएँ अर्पित कर रहे हैं, उनको स्वीकार करो।"

ईश्वर के दर्शन में शान्ति और अनिर्वचनीय आनन्द है।

द्वितीय संग्रह, सं० १४११. "तुम्हारे चरणों के बिना दूसरे साधनों से शान्ति नहीं मिल सकती; चाहे करोड़ों कल्पों तक विधि-विधानों को सम्पन्न किया जाय, आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। हे मेरी आत्मा के धारक, हे सर्वज्ञ, मुझे अपने चरणों के दर्शन कराओ। वे उस परमानन्द को प्रदान करने वाले हैं, जो अनन्त और असीम है और जिसका अनुभव हरि और हर ने किया है।"

परन्तु इस ईश्वर के दर्शन उन लोगों को नहीं होते, जिनकी वासना अनियन्त्रित है—

प्रथम संग्रह, सं० ४४२०. "अनन्त उस पार है, उसके और मेरे बीच में काम और क्रोध के ऊँचे पर्वत हैं। न तो मैं उन पर्वतों को लाँघ सकता हूँ और न कोई दूसरा मार्ग है। मेरे (काम-क्रोधादि पर्वततुल्य) शत्रुओं की ऊँचाई अनुल्लंघ्य है। अपने सखा नारायण को प्राप्त करने की क्या संभावना है? पाण्डुरंग मेरे लिए तिरोहित हो गये हैं; तुका कहता है, अब तो मेरा बहुमूल्य जीवन व्यर्थ हो गया है।"

इन वासनाओं का उच्छेद तुकाराम का महत् उद्देश्य है। वे अपने हृदय की अच्छी तरह परीक्षा करते हैं और जीवन में हर समय किसी न किसी रूप में वासनाओं को पाते हैं। बहुत प्रयत्न करके भी वे उनका नियन्त्रण नहीं कर पाते और तब सहायता के लिए अधीर होकर बार-बार भगवान् की प्रार्थना करते हैं। इन प्रार्थनाओं की संख्या बहुत अधिक है—

द्वितीय संग्रह, सं० १४३०. "किसकी सहायता से मैं अपनी कमर कसूँगा? हे पाण्डुरंग, मैं अपने को निराश पाता हूँ। सभी दुष्ट मेरी काया में रहते हैं और उन्होंने मेरे मन को दबा रखा है। मेरे सभी प्रयत्न निष्फल हो गये हैं। मैं क्या करूँ?

तुम्हीं निःसहाय की माता हो; तुका कहता है वे दुष्ट बिना तेरे बल के मेरी काया को नहीं छोड़ेंगे।"

ये दुष्ट वासनाएँ हैं।

जब कुछ वर्षों में तुकाराम प्रसिद्ध हो गये और सर्वत्र उनकी प्रशंसा होने लगी, उन्हें सन्तोष की झलक मिली जिससे उनके हृदय में एक शक्ति आयी। इसको उन्होंने अहंकार और दम्भ समझा, जिससे वे बहुत भयभीत थे। उन्होंने बार-बार ईश्वर से प्रार्थना की कि उनको इस अहंकार से मुक्त रखें और विनम्रता प्रदान करें—

प्रथम संग्रह, सं० १७७९. "मैं अनियन्त्रित वचन बोलने में अभ्यस्त हो गया हूँ। मैं सबके मूल को नहीं पा सका। इसलिए, हे पण्ढरी के राजा, मेरा मन बहुत पीड़ित है। कौन जानता है कि मेरे हृदय में क्या है? मेरी पूजा होती है और इससे दम्भ उत्पन्न हो गया है; मेरे आगे की गति अवरुद्ध हो गयी है; तुका कहता है, मैं सच्चा मार्ग नहीं जानता और अपने को अहंकार के हाथों में पाता हूँ।" पुनः—

प्रथम संग्रह, सं० ११३३. "मैं कीर्ति और सांसारिक सम्मान और महत्ता को लेकर क्या करूँगा? मुझे अपने चरणों का दर्शन कराओ। ऐसा न करो कि तुम्हारे दास का जीवन वृथा हो जाय। अगर मैं बड़ा होकर आडम्बरी ज्ञान के भार को वहन करने लगूँ तो मैं तुम्हारे चरणों से निरन्तर दूर होता जाऊँगा। आन्तरिक स्थिति को जानने वाले व्यक्तियों की क्या सम्भावना की जा सकती है? मनुष्य को उसकी बाहरी बनावट से आँका जाता है। तब भी मेरे लिए विपत्ति वरदानस्वरूप होगी यदि वह मुझे तेरे चरणों तक ले जाये।"

इस प्रकार वे विनम्रता का संवर्धन करते चलते हैं, और अन्त में अपने अन्दर स्थित अहं के उच्छेद की घोषणा कर देते हैं, जैसा कि नीचे दिया गया है—

प्रथम संग्रह, सं० ३४७४. "मैंने तुमको आत्मसमर्पण कर दिया है और अपनेपन का त्याग कर दिया है। अब केवल तुम्हारी शक्ति यहाँ व्याप्त है। मैं मर चुका हूँ, तुमने यहाँ अपना स्थान बना लिया है। अब यहाँ 'मैं' या 'मेरा' जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह गयी है।"

यहाँ उन्होंने अहंकार के परित्याग और अपने हृदय में अहंकार के स्थान पर ईश्वर के निवास की बात कही है। यह बात आगे और भी अधिक स्पष्ट है—

प्रथम संग्रह, सं० २६६८. "मैंने अपनी आँखों से अपनी मृत्यु देख ली है, जिसके फलस्वरूप अतुलनीय परमानन्द की प्राप्ति हुई है। तीनों लोक आनन्द से भर गये हैं। विश्वात्मा की तरह मैंने आनन्द का अनुभव कर लिया है। अहंभाव के कारण मैं एक ही स्थान तक सीमित था। अब उसके परित्याग से मैं सर्वव्यापी हो गया हूँ। जन्म और मृत्यु से जन्य दोष समाप्त हो गये हैं और 'मैं' तथा 'मेरा' की भावना से उत्पन्न

होने वाली संकीर्णता से मैं मुक्त हो चुका हूँ। नारायण ने अब मुझे निवास के लिए स्थान दे दिया है, उस पर विश्वास करके मैं उनके चरणों में स्थान पा चुका हूँ; तुका कहता है, जिस काम को मैंने अपने हाथों में लिया था, उसे पूर्ण कर संसार के सामने रख दिया है।"

यहाँ पर वह अपने अन्दर के संकीर्ण व्यक्तित्व के नाश और उदात्तता के आविर्भाव की बात कहते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक लोगों के लिए उनकी शिक्षाप्रद रचनाएँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। अब कुछ चुने हुए उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

प्रथम संग्रह, सं० ३८००. व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने को हार्दिक रूप से भगवान् के प्रति समर्पित कर दे। वही उसे जीवन की दुस्तर नदी के उस पार ले जायँगे। उनका नाम अनन्त है, वे बहुत दयावान् है; तुका कहता है, मैंने इसका अनुभव कर लिया है इसलिए सबको बतलाता हूँ।

द्वितीय संग्रह, सं० ५३८३. "वे व्यक्ति सचमुच भाग्यवान् हैं, जिनके हृदय में क्षमा रहती है, समय आने पर जिनका साहस और बल समाप्त नहीं होता, जो अच्छा या बुरा कह कर दूसरे मनुष्यों की आलोचना नहीं करते, जो सांसारिक बड़प्पन के विषय में कुछ नहीं सोचते, जो आन्तरिक एवं बाह्यरूप से गङ्गा की तरह शुद्ध हैं और जिनका हृदय कोमल है; तुका कहता है मैं उनके चारों ओर मँड़राउँगा और उनके चरणों में शिर रख दूँगा।"

प्रथम संग्रह, सं० २३९७. "समस्त जीवों के प्रति वैर-भाव छोड़ दो। यही एक उत्तम मार्ग है। केवल इसी से नारायण तुम्हें स्वीकार करेंगे। इसके अतिरिक्त सारी बातें अनुपयोगी एवं कष्टकर हैं। मित्र और शत्रुओं को एक समान समझना चाहिए और मन को दूसरों की भलाई में लगाना चाहिए; तुका कहता है, जब मन शुद्ध हो तो प्रत्येक वस्तु फलदायक हो जाती है।"

प्रथम संग्रह, सं० १३६८. "भोजन मत त्यागो; वनवासी मत बनो; अपने सभी दुःखों में नारायण का स्मरण करो। अपनी माता की गोद में बैठा हुआ बच्चा किसी क्लेश का अनुभव नहीं करता। इसके अतिरिक्त सभी विचारों को छोड़ दो। सांसारिक भोगों में मत उलझो, न उनका परित्याग करो; तुम जो कुछ भी करो, उसे ईश्वर को समर्पित कर दो और उसी से प्रयोजन रखो; तुका कहता है मुझसे बार-बार मत पूछो, इसके अतिरिक्त कुछ सिखाने योग्य नहीं है।"

यहाँ तुकाराम लोगों को संसार का त्याग करने और संन्यासी बनने से निवृत्त करते हैं और इसके स्थान पर उन्हें अपना जीवन ईश्वर की सेवा में लगाने और प्रत्येक कार्य उसे प्रसन्न करने के लिए करने की सलाह देते हैं।

महाराष्ट्र में प्रायः यह प्रश्न बहुचर्चित है कि क्या तुकाराम शंकराचार्य के वेदान्त सिद्धान्त का अनुसरण करते थे और एक आत्मा (ब्रह्म) के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु

को भ्रम या मिथ्या मानते थे। कुछ अभंग ऐसे हैं, जो उस सिद्धान्त के निकट हैं, जैसे कि नीचे दिये गये हैं— ।

प्रथम संग्रह, सं० ३००. "उस पार जाने के लिए मृगमरीचिका को पार करने का क्या अर्थ? बच्चे मिट्टी के वर्तन के टुकड़ों को सोने के सिक्के बना कर खेलते हैं। क्या उनके व्यापार से हानि-लाभ होता है? छोटी लड़कियाँ (गुड्डा-गुड़िया का) व्याह रचाती हैं? क्या उससे वास्तविक सम्बन्ध बनता है। स्वप्न का सुख-दुःख जागने पर सत्य नहीं रहता। तुका कहता है कि अमुक का जन्म हुआ, अमुक की मृत्यु हुई, इस प्रकार की सब बातें झूठी हैं; आदमी बन्धन में हैं, मुक्त होते हैं, इस प्रकार की बातें व्यर्थ की बकवास हैं।"

यहाँ पर शंकराचार्य की शैली में ही विश्व-प्रपंच की भ्रमरूपता का प्रतिपादन किया गया है। पुन :—

प्रथम संग्रह, सं० १९९२. शक्कर के चूर्ण और दाने में केवल नाम का भेद है, स्वाद का नहीं। हे पाण्डुरंग, बतलाओ तुम और मैं भिन्न कैसे हैं? तुमने विश्व को परिचालित किया है, जिसका परिणाम है 'मैं' और 'मेरा'। अलंकार के रूप में सोने को हाथ, पैर, नाक, शिर में पहिनते हैं, जब धातु गलाने की घरिया में उन सब आभूषणों को डाल देता है तब उनमें और सोने में क्या अन्तर रहता है? तुका कहता है कि लाभ-हानि केवल स्वप्न में वास्तविक हैं और जागने पर दोनों तिरोहित हो जाते हैं।

यहाँ पर परिणाम और विवर्त इन दो विरोधी सिद्धान्तों का साथ-साथ उल्लेख है। अलंकार सोने के परिणाम हैं और स्वप्न की वस्तुएँ विवर्त हैं। शंकराचार्य विवर्त सिद्धान्त के समर्थक थे। पुनः—

प्रथम संग्रह, सं० २४८२. जब नमक पानी में घुल जाता है तब अलग क्या बचता है? इस प्रकार मैं आनन्द में तेरे साथ एक हो गया हूँ, तुझमें समा गया हूँ। जब अग्नि और कपूर मिल जाते हैं तब कुछ कालिमा शेष बचती है? तुका कहता है, मैं और तुम एक ज्योति थे।

यहाँ आनन्द के क्षणों में अहंकार खो देने का तात्पर्य है, न कि जीव और ईश्वर के पूर्ण तादात्म्य का। नामदेव और तुकाराम रामानुज और मध्व की भाँति पण्डित नहीं थे इसलिए उनसे ईश्वर, जीव और जगत् के सम्बन्ध में एक अविरुद्ध आध्यात्मिक दर्शन के प्रतिपादन करने की आशा नहीं की जा सकती। तुकाराम तो ईश्वर के इतने सच्चे भक्त थे कि तीनों के भेद का विचार, सदैव उनके मन में रहता था, जिससे भगवत्प्रेम की सार्थकता बनी रहे। अनेक अभंगों में वे आत्मा के अद्वैत सिद्धान्त की निन्दा करते हैं—

प्रथम संग्रह, सं० १४७१. "उस व्यक्ति के शब्दों को नहीं सुनना चाहिए, जो भक्ति रहित व्यर्थ के ज्ञान का प्रतिपादन करता है। जब बिना आस्था और प्रेम के आत्मा के अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है, तब वक्ता और श्रोता दोनों कष्ट भोगते

हैं। जो अपने को ब्रह्म कहता है और साधारण ढंग से रहता है, उससे बात नहीं करनी चाहिए, वह भाँड़ है। वह निर्लज्ज, जो वेदों के विरुद्ध पाखण्ड-पूर्ण वचन बोलता है, सज्जनों में तिरस्कृत होता है। तुका कहता है कि जो (दोनों को एक कह कर) भगवान् और भक्त के सम्बन्ध को काट देता है उससे तो शूद्र अच्छा है।"

यहाँ पर अद्वैतवाद की, जो भक्ति के लिए स्थान नहीं छोड़ता, घोर निन्दा की गयी है। इसको वेद विरुद्ध और पाखण्ड कहा गया है। पुनः—

प्रथम संग्रह, सं० ३७५३. "मुझको अद्वैत में सन्तोष नहीं मिलता। मुझको तुम्हारे चरणों की सेवा मधुर लगती है। मेरी सेवा तुम्हारे योग्य बन सके, ऐसा मुझे वरदान दो। तुम्हारे नाम का भजन मुझे प्रिय लगता है। भगवान् और भक्त का सम्बन्ध परम आनन्ददायक है। मुझे इसका अनुभव करने दो, मुझे अपने से पृथक् रखो। यह सब तुम्हारा है, किसी दिन मुझे दे दो।"

आत्म-अद्वैतवाद के खण्डन में तुकाराम भगवत्प्रेम की आनन्दानुभूति को आधार बनाते हैं। अद्वैतवेदान्त के समर्थकों के मिथ्यात्व के विरुद्ध वे अपने हृदय की भावनाओं को रखते हैं।

प्रथम संग्रह, सं० १५८९. मैं ब्रह्म के ज्ञाताओं को ऐसा ललचाऊँगा कि उनके मुँह से पानी गिरने लगे और मुक्त लोगों को (मुक्ति के फलस्वरूप प्राप्त) उनकी नैसर्गिक स्थिति को छुड़वा दूँगा। भजन में पूरी काया ब्रह्म से एक हो जाती है और ईश्वर को ऋणी बनाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जो तीर्थयात्रा पर जाता है, उसको मैं निरुत्साहित कर दूँगा और स्वर्ग के आनन्द को कटु बना दूँगा। जो व्यक्ति तप करता है, मैं उससे अहंकार छुड़वा दूँगा और यज्ञ व दान को लज्जित कर दूँगा। मैं प्रेम और भक्ति को जीवन का लक्ष्य बनाकर सम्पन्न करूँगा। यही ब्रह्म के कोश का सार है। मैं लोगों से यह कहलाऊँगा कि यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमने तुका को देखा है और आनन्दित हुए हैं।

यहाँ भगवत्प्रेम और भक्ति के लिए उनका उत्साह इतना बढ़ गया है कि वे अपनी अनुभूतियों के बल पर या मानों अन्तःप्रेरणा से ही अद्वैत-वेदान्त तथा भगवत्प्राप्ति के अन्य सभी उपायों को व्यर्थ और अक्षम बतलाते हैं। अन्त में मैं उस अभंग का अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ जिसमें उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य बतलाया है —

प्रथम संग्रह, सं० ५२०. "हम वैकुण्ठ में रहे हैं और इस कारण यहाँ आये हैं कि ऋषियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग का सच्ची तरह अनुसरण कर सकें। संसार मल से भर गया है; हम सज्जनों द्वारा चले हुए मार्ग को साफ करेंगे और जो कुछ भी अवशिष्ट रह गया है उसको स्वीकार करेंगे। पुराने सत्य लुप्त हो गये हैं। केवल शब्द-ज्ञान से विनाश होता है। (मनुष्य का) मन सांसारिक भोगों के लिए उत्सुक है और ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग पूर्णतः नष्ट हो गया है। हम भक्ति का नगाड़ा पीटेंगे जो इस

पापमय युग के लिए भयावह है। तुका कहता है कि आनन्द के साथ जय जय-कार करो[1]।"

बड़े संग्रह के उपर्युक्त अंशों से इस बात का कुछ संकेत मिलेगा कि तुकाराम अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील रहे। उन्होंने यान्त्रिक विधि-विधानों को त्याग दिया और विनम्रता, हृदय की शुद्धि तथा ईश्वर के प्रति एकाग्र भक्ति पर बल दिया है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने लगभग पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक वैष्णवधर्म का सर्वेक्षण किया। प्रारम्भ में वैष्णवधर्म बौद्ध और जैन धर्मों की भाँति धर्मसुधार सा प्रतीत होता है, जो ईश्वरवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। पहले इसका नाम एकान्तिक धर्म था। इसकी पृष्ठभूमि में भगवद्गीता थी, जिसे वासुदेव कृष्ण द्वारा उपदिष्ट संवाद कहा जाता है। शीघ्र ही इसका स्वरूप सांप्रदायिक बन गया तथा यह भागवत या पाञ्चरात्र धर्म कहलाने लगा। सात्वत नामक क्षत्रिय जाति ने इसका प्रचार किया। लगभग ई० पू० चतुर्थ शतक के अन्त में मेगस्थनीज ने इसको इसी तरह के कुछ विशेष लोगों का धर्म बतलाया है। शनैः शनैः वासुदेवोपासना नारायण और विष्णु की उपासनाओं से घुल मिल गयी। स्वयं भगवद्गीता में भी उपनिषदों तथा सांख्य-योग के कुछ सामान्य सिद्धान्तों का ग्रहण कर लिया गया है, यद्यपि उस समय तक सांख्य-योग को किसी निश्चित दर्शन का स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। ईसवीय शतक के प्रारम्भ होने पर आभीर जाति ने भागवत धर्म को भगवान् बाल-कृष्ण के दिव्य कर्मों एवं गोपियों के साथ उनकी रास-लीला के रूप में एक अन्य तत्त्व प्रदान किया। इस रूप में संगठित वैष्णवधर्म लगभग आठवीं शताब्दी के अन्त तक बना रहा, जबकि शंकराचार्य एवं उनके अनुयायियों ने आध्यात्मिक अद्वैतवाद तथा जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रचार किया। शंकर के इस अद्वैतवाद को वैष्णवधर्म द्वारा प्रतिष्ठापित भक्ति का विनाशक समझा गया। इस अद्वैतवाद के विरोध की भावना ग्यारहवीं शताब्दी में प्रबल हो गयी। उस समय रामानुज ने इसे दबा देने का सुदृढ़ प्रयत्न किया तथा भक्ति को ऊर्जस्वी बनाकर उसका प्रसार किया। उत्तर में उनके बाद निम्बार्क हुए किन्तु उन्होंने वैष्णवधर्म के चतुर्थ तत्त्व या गोपी-तत्त्व को प्राधान्य दिया तथा कृष्ण की प्रिया राधा की उपासना का भी विधान किया, जब कि रामानुज इस विषय में मौन रहे। आत्माद्वैत तथा जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्तों पर तेरहवीं शताब्दी में मध्व या आनन्दतीर्थ ने अपने आक्रमण जारी रखे। उन्होंने द्वैतवाद की स्थापना की तथा परमेश्वर के रूप में विष्णु के नाम को प्रधानता दी।

---

१. **मौखिक परम्परा से प्राप्त पाठों के आधार पर इस अभंग के पाठ में संशोधन कर लिया गया है।**

उत्तर में रामानन्द ने राम के नाम को लाकर वैष्णवधर्म को एक नया मोड़ दिया, जब कि रामानुज ने जो कि रामानन्द की तत्त्व-मीमांसा के स्रोत थे, नारायण नाम पर विशेष जोर दिया था। रामानन्द एवं उनके शिष्यों ने जनभाषाओं में उपदेश दिए। रामानन्द की धार्मिक क्रियाशीलता को चौदहवीं शताब्दी में रखा जा सकता है। इनके बाद पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर हुए, जिन्होंने अद्वैतवाद का उपदेश दिया तथा उन्होंने मूर्ति-पूजा की निन्दा की। उनके उपास्य राम थे। सोलहवीं शताब्दी में बल्लभ ने बाल-कृष्ण एवं उनकी प्रिया राधा की उपासना का उपदेश दिया। इसी समय चैतन्य ने राधा को विशुद्ध-प्रेम की प्रतिमा के रूप में आदर्श बनाया तथा राधा और युवा कृष्ण की उपासना का प्रचार किया। भगवान् के अनुराग एवं भक्ति की अभिव्यक्ति में उत्साह बढ़ता गया। राधा-विषयक मान्यता और गहरी हो गई। चैतन्य एवं अनुयायियों की भक्ति सच्ची और प्रबल थी एवं उन्मत्तता की कोटि पर पहुँच गयी थी। परन्तु बल्लभ एवं उनके संप्रदाय की भक्ति वास्तविक होने की अपेक्षा नाटकीय अधिक थी। यह मान्यता अन्त में वैष्णवधर्म को पतन की ओर ले गयी। महाराष्ट्र में नामदेव, जिनकी तिथि निश्चित नहीं है किन्तु जो लगभग चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे, एवं सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तुकाराम ने परमेश्वर के रूप में पण्ढरपुर के बिठोबा की पूजा का उपदेश दिया तथा राधा-कृष्ण-मत की उपेक्षा करते हुए भक्ति की अधिक गम्भीर धारा को प्रवाहित किया। अपने विचारों का प्रचार करने के लिए उन्होंने भी जनभाषाओं का आश्रय लिया। नामदेव, तुकाराम, कबीर तथा कुछ हद तक चैतन्य ने भी तत्कालीन धर्म की औपचारिकता की निन्दा की तथा ईश्वर की विशुद्ध भक्ति का उपदेश दिया। दोनों मराठा सन्तों तथा कबीर ने शाश्वतशान्ति की प्राप्ति के लिए एकनिष्ठ भगवत्प्रेम के साधन रूप में मनुष्य के हृदय की पवित्रता तथा आचरण की उच्चता पर विशेष बल दिया।

इन विभिन्न वैष्णव मतों में इन बातों में साम्य है: उनके आध्यात्मिक तत्त्व सार रूप में भगवद्गीता से लिए गए हैं, परमेश्वर के रूप में 'वासुदेव' नाम उन सबों की पृष्ठ-भूमि में है तथा उन सभी मतों ने आत्म-अद्वैतवाद तथा जगन्मिथ्यात्ववाद का खण्डन समानरूप से किया है। किन्तु उनमें इस कारण भेद का उदय हुआ कि उन्होंने विभिन्न अध्यात्म दर्शनों को महत्त्व दिया; वासुदेव धर्म के विभिन्न तत्त्वों पर बल दिया; अलग अलग तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की और अपने अनुयायियों को पृथक पृथक् विधि-विधान बतलाये। भगवद्गीता का स्थान आगे चलकर पाञ्चरात्र संहिताओं तथा विष्णु एवं भागवत जैसे पुराणों और इसी तरह की अन्य उत्तरकालीन कृतियों ने ले लिया। इन कृतियों ने यदा कदा कतिपय तात्त्विक सिद्धान्तों का उपबृंहण किया, आचारों को निर्धारित किया तथा अपने विशिष्ट उपदेशों के महत्त्व को बढ़ाने के लिए कथाओं की विस्तृत राशि को संगृहीत किया एवं उन्हें आकर्षक बनाया।

शैवधर्म

रुद्र-शिव विषयक कल्पना का उदय

प्रकृति के कुछ रूप आह्लाददायक एवं मृदु होते हैं तथा अन्य भयंकर एवं संहारक। अरुणोदय में प्राचीन आर्यों ने अपने प्रेमी सूर्य द्वारा अनुसरण की जाती हुई उषा देवी की कल्पना की (ऋ० १,११५,२)। उदीयमान सूर्य में उन्होंने कल्याणकारी मित्र देवता को पाया, जो उन्हें जगाता है और दिन के कार्य करने को प्रेरित करता है (ऋ०, ३, ५९, १; ७, ३६२)। जो उदित होकर पृथ्वी और आकाश को पूरित करता है, रात्रि का अन्त होने पर चैतन्य प्रदान करता है तथा अपने द्वारा निर्धारित मार्ग में लगाता और भुजाओं की भाँति अपने किरणों को फैलाता है उस सूर्य में उन्होंने सविता को पाया (ऋ० ४, ५३, ३)। प्रकृति के भयंकर एवं विनाशक रूप तूफान एवं महामारियाँ हैं। मनुष्यों एवं पशुओं को क्षण मात्र नष्ट कर देने वाली बिजली के साथ तूफान पेड़ों को जड़ से उखाड़ फेकते हैं और घरों को भी ढहा देते हैं। महामारियाँ जब प्रचण्ड हो जाती हैं तब बहुत से लोगों को ले जाती हैं। इनमें प्राचीन आर्यों ने रुद्र को देखा जो अपने पुत्र (रुद्रियाः) मरुतों के साथ गर्जना करते हुए भ्रमण करता है। मनुष्य विश्व पर शासन करने वाली केवल उग्र शक्ति में ही विश्वास नहीं करता। वह प्रकृति के भयंकर रूप को देवता के क्रोध की अभिव्यक्ति समझता है और प्रार्थना, स्तुति एवं बलि द्वारा उसे प्रसन्न करता है। इसी स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार प्राचीन काल में रुद्र-शिव जैसे देवता में भारतवासियों का विश्वास पैदा हुआ। अब हम इस देवता की कल्पना का उस काल तक विकास देखेंगे जब वह परम स्रष्टा, शासक एवं विश्वव्यापी देवता बन गया और उसके ज्ञान से शाश्वत आनन्द की कल्पना की गयी।

रुद्र-शिव विषयक कल्पना का विकास

रुद्र के विषय में ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि वे अपने तेजोमय बाणों को ७, २०)। हैं, जो स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं (ऋ० ७, ४६, ३)। वे आयुध रखते हैंपर ईशाम् कर गायों और मनुष्यों को मारते हैं (ऋ० १, ११४, १०)। ऐसा लगता है कि ो मंत्र हैं। विद्युत् की विनाशकारी शक्ति को दृष्टि में रखा गया है। ऋषि रुद्र से प्रा । स्वयं अरूप हैं कि वे अपने आयुधों को उनसे दूर रखें और उनके द्विपदों और चतुष्प (वर्णों) की करें (ऋ० १, ११४, १)। स्तुतियों के परिणामस्वरूप अथवा सहज में ही वह हम लोगों बच जाते थे। ऐसी स्थिति में रुद्र को पशुओं का रक्षक अथवा पशुप कह आदि के साथ करते थे (ऋ० १, ११४, ९)। रुद्र से प्रार्थना की गयी है कि वे बच्चों क

सतायें (ऋ० ७, ४६, २) और गाँव के सब लोगों को रोग से दूर रखें (ऋ० १,११४, १)। इस प्रकार रुद्र के विषय में यह विश्वास प्रचलित था कि वे बीमारियाँ फैलाते हैं। ऐसा मानते थे कि रुद्र के प्रताप से ही लोग रोगों से अच्छे हो जाते हैं अथवा रोगों से पूरी तरह मुक्त होते हैं। परिणामतः ऐसा वर्णन मिलता है कि रुद्र भेषज रखते हैं (ऋ० १, ४३, ४), सहस्रों औषधियाँ रखते हैं (ऋ० ७,४६, ३) और भिषगों के भी भिषग् हैं (ऋ० २, ३३, ४)। निम्नलिखित मन्त्र से रुद्र के सूक्तों की सामान्य रूपरेखा का ज्ञान होता है : "हे रुद्र ! क्रोधवश हमारे बच्चों, हमारे वंशजों, हमारे मनुष्यों, हमारे पशुओं, और अश्वों का विनाश न करो ; हमारे लोगों को न मारो। हम हविषों के साथ सदैव तुम्हारा आवाहन करते हैं" (ऋ० १, ११४, ८)। वे अपनी शक्ति से समस्त पार्थिव पदार्थों को और अपने दिव्य साम्राज्य से दिव्य पदार्थों को देखते हैं (ऋ० ७, ४६, २)। इस प्रकार ऋग्वेद में ही रुद्र को परम शक्ति के रूप में देखा गया है।

शतरुद्रिय (तै० सं० ४, ५, १, वा० सं०, अध्याय १६) में रुद्र का अधिक विकसित स्वरूप प्राप्त होता है। उनके मङ्गलमय (शिवाः तनुः) और उग्र रूपों में भेद किया गया है। उन्हें गिरिश एवं गिरित्र अर्थात् "पर्वत पर शयन करने वाला" कहा गया है संभवतः इसलिए कि जिस वज्र का वे प्रक्षेप करते हैं, वह मेघ से निकलता है। मेघ की तुलना प्रायः पर्वत से की गई है, जिसमें रुद्र का निवास माना जाता है। गोपालक एवं जल ले जाती हुयी स्त्रियाँ उन्हें नीलकण्ठ एवं रक्तिम आभा युक्त विसर्पण करते हुए देखती हैं। तात्पर्य यह कि खुले मैदानों में काम करते हुए सीधे-साधे लोग विद्युत की हल्की आभा से अरुणीभूत काले मेघ को देखते हैं। प्रकृति की आसुरी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण रुद्र के विषय में मानव बस्तियों से दूर रहने की मान्यता स्वाभाविक है। अतएव उन्हें मार्गों, वनों, वनेचरों, तस्करों एवं पहचाने जाने के भय से निर्जन स्थानों में परिभ्रमण करने वाले राजपथ-दस्युओं तथा लोगों के सामान्य निवासों से दूर रहने वाली अधम जातियों का पति कहा गया है।

चिकित्सक के रूप में वे यहाँ पर औषधियों के पति हैं तथा उन्हें दिव्य चिकित्सक [illegible]या है। खुले क्षेत्रों या मैदानों के स्वामी होने से वे उन मैदानों में संचरण [illegible]ले पशुओं के पति (पशूनाम् पतिः) हैं। आगे चलकर पशुपति उनका नाम बन गया। इस प्रकार रुद्र का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत हो [illegible]े 'दिशाओं के पति' कहलाने लगे। उन्हें 'कपर्दिन्' भी कहा गया है। [illegible]ा उन्हें संभवतः अग्नि से अभिन्न माने जाने के कारण दिया गया है, जिसकी [illegible]पर्दों की भाँति दिखलाई देती हैं। शर्व, भव नाम भी पाये जाते हैं। जब [illegible]ा पूर्णतया शान्त हो जाती है तब वे शम्भु,शंकर एवं शिव बन जाते हैं। [illegible]तरुद्रिय के अन्त में प्राप्त होते हैं। उन्हें चर्म धारण करने वाला (कृत्तिं वसानः)

१० में जिस बात का प्रतिपादन किया गया है, उसकी तुलना भगवद्गीता के अध्याय १५, श्लोक १६, १७ से की जा सकती है।

द्वितीय अध्याय में सर्वप्रथम योग-क्रियाओं का संक्षिप्त उल्लेख है, जिसमें परमात्मा का साक्षात्कार एवं आत्मा की शुद्धि होती है। जब दीपक के समान (प्रकाशमान) जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप द्वारा अज, अविकारी (ध्रुव) एवं पूर्णविशुद्ध ईश्वर का ज्ञान हो जाता है तब जीव बन्धन-मुक्त हो जाता है (१५)। अध्याय की समाप्ति अथर्ववेद के एक श्लोक से होती है।

तृतीय अध्याय में प्रारम्भ में यह बतलाया गया है कि ईश्वर एक है। वह जालवान् (जगत् रूप जाल का अधिपति) होकर अपनी शासन शक्तियों द्वारा समस्त लोकों पर शासन करता है। वह अकेला ही सृष्टि और उसके विस्तार में समर्थ है। उसको जो जान लेता है वह अमर हो जाता है (१)। जो अपनी शासन शक्तियों द्वारा इन सब लोकों पर शासन करता है वह रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं। वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है, समस्त भूतों की रचना करके उनका पालन करता है एवं प्रलयकाल में समस्त वस्तुओं को समेट लेता है (२)। उसके नेत्र सर्वत्र हैं, उसके मुख सर्वत्र (तुलनार्थ, ऋग्वेद १०, ८१, ३) हैं (३)। वह देवों का प्रभव एवं उद्भव है, वह विश्वाधिपति तथा महान् ज्ञानी (महर्षि) है। उसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था। वह परमदेव रुद्र हम लोगों को शुभ बुद्धि-प्रदान करें (४)। इसके अनन्तर शतरुद्रिय के दो मंत्र आते हैं, जिनमें स्तुतिकर्त्ता प्रार्थना करता है कि परमशान्त मूर्ति से ही हमलोगों की ओर देखें और जीव-समुदाय का विनाश न करें (५, ६)। उस ईश्वर को जानकर लोग अमर हो जाते हैं, जो कि परम ब्रह्म है, समस्त भूतों में महत्तम है, समस्त प्राणियों के अन्दर, उनके आकार कुछ भी हों (यथानिकाय), छिपा हुआ तथा सम्पूर्ण विश्व को सब ओर से घेरे हुए है (७)। आगे इसी प्रकार के और श्लोक आते हैं, जिसमें परमेश्वर के गुणों का वर्णन है और उसके ज्ञान को अमृतत्व का द्वार बतलाया गया है। जैसा कि पहले भी कह चुके हैं, इस अध्याय का एक पूरा और एक आधा श्लोक भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में शब्दशः मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ पर परमेश्वर के लिए ईशान, ईश एवं शिव नाम आये हैं और भगवत् उपाधि का अनेकशः प्रयोग हुआ है (११, १२, १५, १७, २०)। बीसवें श्लोक में जो मुण्डकोपनिषद् में भी मिलता है, आत्मनः के स्थान पर ईशम् कर दिया गया है। इस अध्याय में पुरुष-सूक्त (ऋ० १०, ९०) के भी दो मंत्र हैं।

चतुर्थ अध्याय का आरम्भ इस आकांक्षा के साथ होता है कि जो स्वयं अरूप (अवर्ण) होकर भी किसी प्रयोजन वश (निहितार्थ) अनेकों रूपों (वर्णों) की रचना करता है, जिसके आदि और अन्त में यह विश्व स्थित रहता है, वह हम लोगों को शुद्ध बुद्धि से युक्त करे। इसके बाद अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र आदि के साथ

इस परमात्मा का अभेद बतलाया गया है (२-४)। अनन्तर बकरे (अज) का रूपक आता है। एक अज (अजन्मा, बकरा) आसक्त होकर अजा (अजन्मा प्रकृति, बकरी) के साथ शयन करता है (भोग करता है), जब कि दूसरा अज भोग के उपरान्त अजा को त्याग देता है (५)। यहाँ पर बद्ध और मुक्त आत्माओं का वर्णन है। अगले श्लोक में दो पक्षियों का वर्णन है, जो एक दूसरे के सखा एवं साथ-साथ रहने वाले (सयुजा) हैं और समान वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं; एक उस वृक्ष का फल खाता है, दूसरा उसका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है। यह वर्णन ऋग्वेद (१,१६४,२०) तथा मुण्डक उपनिषद् (३, १, १) में भी मिलता है। अगले श्लोक में कहा गया है कि दुर्बल (अनीश) आत्मा मोहित होकर शोक करती है तथा जब वह अपने से भिन्न ईश को देख लेती है तो वह शोक-मुक्त हो जाती है (७)। यह भाव मुण्डक उपनिषद् (३, १, २) में भी मिलता है, परन्तु ऋग्वेद में नहीं। आगे माया प्रकृति कही गयी है तथा माया के प्रयोग करनेवाले (मायी) को महेश्वर (१०)। महेश्वर शिव का नाम है। प्रत्येक योनि के अधिष्ठाता, समस्त भूतों के आश्रय और वर देने वाले उस ईशान को जानकर मनुष्य शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है (११)। बारहवाँ श्लोक कुछ पाठान्तर के साथ चौथे श्लोक की आवृत्ति मात्र है। तेरहवें श्लोक में ऋग्वेद के एक मंत्र (१०, १२१, ३) के प्रथम चरण का रूपान्तर कर दिया गया और दूसरे चरण को ज्यों का त्यों रख दिया गया है। इसमें हिरण्यगर्भ को द्विपदों एवं चतुष्पदों का ईश बतलाया गया है।

पूर्ववर्ती श्लोक में हिरण्यगर्भ नाम आने से सम्भवतः इस मंत्र का ध्यान आया होगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अनेक रूप वाले, विश्व के स्रष्टा, कलिल के मध्य में विश्व को एकमात्र परिवेष्टित करने वाले शिव को जानकर मनुष्य शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है (१४)। वही समस्त जगत् का अधिपति, सम्पूर्ण भूतों का अन्तर्यामी, समय पर (स्थितिकाल में) समस्त ब्राह्मणों का रक्षक है। महर्षि एवं देवता उसमें ध्यान लगा-कर और इस प्रकार उसको जानकर मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं (१५)।

यह जगत्स्रष्टा देव सदा मनुष्यों के हृदय में स्थित है। हृदय, बुद्धि और मन से उसका ध्यान किया जाता है (अभिक्लृप्त है)। जो इस रहस्य को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं (१७)। जब तममात्र था, न दिन था न रात्रि, न सत् था न असत् उस समय केवल शिव ही था। वह एकमात्र अक्षर तत्त्व है, वह सविता का वरेण्य है, प्रकाश है तथा उसी से समस्त ज्ञान का प्रसार हुआ (१८)। यह विचार ऋग्वेद १०, १२९ के विचार से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। इस परमात्मा को न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न बीच से ही कोई पकड़ सकता है। उसकी तरह कोई दूसरा नहीं है। उसका यश महान् है (१९)। उसका रूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता। उसे आँखों से कोई भी नहीं देख सकता। जो साधकजन इस हृदय में स्थित परमेश्वर को (भक्तियुक्त) हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान

लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं (२०)। यह श्लोक, केवल तीसरी पंक्ति को छोडकर, जो कि ऊपर के ५, १७ की तीसरी पंक्ति जैसी ही है, क० उ० (६, ९) के श्लोक जैसा ही है। इस अध्याय का अन्त दो श्लोकों से होता है जिनमें रक्षा के निमित्त रुद्र से प्रार्थना है। अन्तिम श्लोक वस्तुतः ऋग्वेद १, ११४ का आठवाँ मन्त्र है।

पञ्चम अध्याय के प्रथम श्लोक में द्विविध अक्षर ब्रह्म एवं पर का उल्लेख है जो कि अनन्त हैं और जिनमें विद्या एवं अविद्या दोनों गूढ़रूप में स्थित हैं। अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है तथा वह विद्या और अविद्या दोनों पर शासन करता है। (१) अगले श्लोक में प्रत्येक योनि पर आधिपत्य रखने वाले (परमात्मा) द्वारा पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषिको ज्ञानों से पुष्ट किए जाने का उल्लेख है (२)। एक-एक समुदाय (जाल) को बहुत प्रकार के स्वरूप प्रदान करते हुए ईश्वर पुनः पहले की भाँति समस्त भूतों का संहार कर देता है। पुनः लोकपालों की रचना करके परमात्मा ईश, सब पर आधिपत्य करता है (३)। जैसे सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर-नीचे इधर-उधर और सब ओर से प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह भगवान् अकेला ही समस्त कारण रूप (योनिस्वभाव) शक्तियों पर आधिपत्य करता है (४)। विश्वयोनि स्वाभाविक शक्तियों का विकास करता है तथा विकसित कर समस्त पदार्थों को वह नाना रूपों में परिणत करता है। वह समस्त विश्व पर शासन करता है तथा समस्त गुणोंको विनियोजित करता है (५)। वह वेदों के रहस्य से युक्त उपनिषदों में छिपा हुआ है। ब्रह्मा ब्रह्म की उस योनि को जानते हैं। जो पुरातन देवता और ऋषि लोग उसको जानते थे, वे उसमें तन्मय होकर अमर हो गए (६)। इसके बाद उपनिषद् जीवात्मा का वर्णन करता है कि वह प्राणों का अधिपति, फल के उद्देश्य से कर्म करने वाला, उनका उपभोक्ता, और त्रिगुण है। तीन मार्गों से गमन करने वाला वह अपने कर्मों के फलस्वरूप नाना योनियों में भ्रमण करता है (७)। वह अंगूठे जितना बड़ा, सूर्य के समान प्रकाश-स्वरूप तथा संकल्प एवं अहङ्कार से युक्त है तथा भाले की नोक के सौवें भाग के भी सौवें भाग जितना सूक्ष्म है तथा अनन्त है। वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक। यह जिस जिस शरीर को ग्रहण करता है उसी के लिङ्ग से युक्त हो जाता है (८, ९, १०)। वह अपने गुणों, क्रिया-गुणों एवं आत्मगुणों का वशीभूत होकर बहुत से स्थूल और सूक्ष्म रूप धारण करता है। परन्तु उनके संयोग का अन्य कारण भी है (१२)। इसके बाद का श्लोक ४, १४ (१६वें श्लोक के उत्तरार्ध से भी) मिलता है (१३)। अन्तिम श्लोक में जगत् की उत्पत्ति एवं संहार करने वाले शिव को भाव (विश्वास, अनुराग या विशुद्धहृदय) से ग्राह्य कहा गया है (१४)।

छठा अध्याय, पूर्ववर्ती विषयों का उपसंहार सा प्रतीत होता है। अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा गया है कि धर्म की वृद्धि करने वाले और पाप का नाश करने वाले परमात्मा को आत्मस्थ जानना चाहिए (६); एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का

सबका साक्षी, सबको चेतना प्रदान करने वाला, आश्रय केवल एवं निर्गुण है (११)। सांख्य एवं योग द्वारा अधिगम्य कारण को जानने पर मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है (१३)। इसके बाद इस आशय का श्लोक आया है: "न तो सूर्य, न चन्द्रमा, न तारागण और न बिजली ही उसे प्रकाशित कर सकती हैं (उसका ज्ञान करा सकती हैं); जब वह प्रकाशित होता है तब उसके पीछे सब प्रकाशित हो जाते हैं तथा उसके प्रकाश द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है (१४)। यह श्लोक क० उ० (५, १५) तथा मु० उ० (२,२,१०) में भी प्राप्त होता है। इस उपनिषद् का अन्त उस देवता के आगे आत्म-समर्पण की अभिव्यक्ति के साथ होता है, जो कि मनुष्य की अपनी बुद्धि में प्रकाशित होता है, जिसने सबसे पहले ब्रह्मदेव को उत्पन्न किया, जिसने समस्त वेदों को प्रेरणा दी, जो निष्कल, निरवयव, शान्त, निरवद्य निरञ्जन एवं अमृत का परम सेतु तथा जलते हुए इन्धन से युक्त अग्नि की भाँति है (१८, १९)।

इस संक्षिप्त सार से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अन्य संहिताओं के मन्त्र विद्यमान हैं। ये मन्त्र सामान्य प्रचलन में रहे होंगे तथा मुण्डक, कण्ठ, एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों द्वारा आत्मसात् कर लिए गये होंगे। इनके बहुत से अन्य श्लोक, जो अन्यत्र नहीं मिलते, मौलिक प्रतीत होते हैं। इन सब में ईश्वर, जीव एवं जड़ जगत् के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध विषयक सत्य पाये जाते हैं। मोक्ष का मार्ग परमात्मा का ध्यान है। यह मार्ग सामान्य रूप से उपनिषद्-दर्शन की विशेषता है। इस ध्यान को फलोत्पादक बनाने के लिए कतिपय योगक्रियाएँ बतलाई गयी हैं। अन्तिम फल सर्वव्यापी परमात्मा का दर्शन है, जो शाश्वत आनन्द से युक्त है। उपनिषदों का ईश्वरवाद श्वेताश्वतर उपनिषद् में अपनी पूर्णता को पहुँच गया है और ईश्वर भी व्यक्तित्व विभूषित हो गया है। परमात्मा के वाचक शब्द अत्यन्त सामान्य हैं। प्रायः देव शब्द से, जिसका किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं है, उसका निरूपण किया गया। उस देव को रुद्र, शिव, ईशान अथवा महेश्वर से अभिन्न बतलाया गया है और उसकी शक्तियों को ईशानी कहा गया है। किन्तु यहाँ पर ऐसा कोई भी संकेत नहीं है कि ये नाम अन्य देवों को हटा कर एक मात्र रुद्र-शिव को परमेश्वर की कोटि पर पहुँचाने के उद्देश्य से रखे गये हैं। रुद्र-शिव के बोधक नाम इसलिए प्रयुक्त हुए हैं कि उनके व्यक्तित्व को सभी लोग देखते और स्वीकार करते हैं। अतएव यह उपनिषद् बाद के ग्रन्थों की भाँति किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं विभिन्न मतों के आचार्यों ने इससे उद्धरण दिये हैं। इसकी रचना भगवद्-गीता से पूर्व हो चुकी होगी क्योंकि, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, गीता में इस उपनिषद् का एक पूरा और एक आधा श्लोक प्राप्त होता है। इस उपनिषद् के धार्मिक-दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप औपनिषद होने पर भी अन्य उपनिषदों की अपेक्षा उत्तरकालीन

भक्ति मार्ग के अधिक समीप है। इसका ईश्वर और परमानन्द का वर्णन प्रेम और स्तुति की प्रभा से दीप्त है। ग्रन्थ का अन्त उस ईश्वर के समक्ष आत्म-निवेदन की अभिव्यक्ति के साथ होता है, जो पुरुष की बुद्धि में स्वयं प्रकाशित होता है। अतएव श्वेताश्वतर उपनिषद् भक्ति संप्रदाय के द्वार पर अवस्थित है एवं अपनी प्रेमपूर्ण अभ्यर्थना रुद्र-शिव पर अर्पित करती है, वासुदेव कृष्ण पर नहीं, जैसा कि आगे चलकर जब भक्ति अपने पूरे प्रवाह में थी, भगवद्गीता ने किया। वासुदेव-कृष्ण का एक ऐतिहासिक आधार था और उनको परमेश्वर बनाने वाली परिस्थितियाँ बाद में उपस्थित हुईं। परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के काल में सर्वोच्च देव रुद्र-शिव ही थे एवं भक्ति या अनुराग के अङ्कुर, जो उस समय प्रकट हुए, उन्हींके लिए अभिप्रेत थे। परन्तु बाद में वासुदेव-कृष्ण अवतरित होकर लोगों के बीच रहने की कल्पना के कारण अधिक चित्ताकर्षक हुए। फलस्वरूप भक्ति का बड़ी तेजी से विकास हुआ और वासुदेव-कृष्ण रुद्र-शिव की अपेक्षा अधिक समुन्नत भावना के विषय बन गए।

इस काल तक, हमें रुद्र-शिव की पत्नी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केन उपनिषद् में, जो निश्चित रूप से एक प्राचीन उपनिषद् है, उमा का नाम मिलता है। उन्हें हैमवती या हिमवान् की पुत्री कहा गया है। परन्तु केन उपनिषद् में उनका उल्लेख रुद्र-शिव की पत्नी के रूप में नहीं किया गया, यद्यपि बाद में वे रुद्र-शिव की पत्नी कहलाने लगीं। कथा इस प्रकार है:—ब्रह्म ने देवों के लिए उनके शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। परन्तु उस विजय के लिए देवता स्वयं को श्रेय देने लगे और अपनी उपलब्धियों पर गर्व करने लगे। अग्नि, इन्द्र एवं वायु आनन्दमय वार्तालाप में निमग्न होकर एक साथ बैठे हुए थे कि वहाँ से कुछ दूरी पर एक यक्ष प्रकट हुआ। सर्व प्रथम वहाँ पर अग्नि यह देखने को गए कि वह क्या है? उसने अग्नि से उसकी शक्ति के स्वरूप एवं सीमा के बारे में पूछा तथा एक तिनका रख दिया और अग्नि से कहा कि इसे जलाओ। अग्नि उसे जलाने में समर्थ नहीं हो सके एवं प्रतिहत होकर वापस लौट गए। तदुपरान्त वायु वहाँ पर पहुँचे। वे उस तिनके को उड़ाने में समर्थ नहीं हो सके। तदुपरान्त इन्द्र गए। उनके पहुँचने पर वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र निराश हुए, परन्तु उन्होंने वहाँ पर उमा हैमवती नामक एक सुंदर स्त्री को देखा और उससे पूछा, वह यक्ष कौन था? उमा ने उस पुरुष के स्वरूप का रहस्योद्घाटन किया। इससे यह समझा जा सकता है कि यहाँ पर उल्लिखित ब्रह्म रुद्र-शिव थे और उमा हैमवती उनकी पत्नी थीं। इस प्रकार ऐसा लगता है कि उपनिषद् की रचना के कुछ समय पूर्व ही उमा उसकी पत्नी मानी जाने लगी थीं।

अथर्वशिरस् रुद्र से सम्बन्धित एक अन्य उपनिषद् है। यह बहुत बाद की कृति है, जैसा कि नारायण एवं शंकरानन्द द्वारा व्याख्यात इस ग्रंथ के परस्पर विभिन्न पाठों से प्रकट होता है। ऐसा वर्णन है कि देवता स्वर्ग गए और रुद्र से पूछा कि वह

क्या है ? उसने कहा कि वह अकेले ही था, अकेले ही है और अकेले ही रहेगा तथा इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह समस्त दिशाओं में है, वह गायत्री है; पुरुष, स्त्री आदि सब कुछ है और इस प्रकार ऐसी अनेक वस्तुओं का उल्लेख किया गया है, जिनसे वह अभिन्न है। तब रुद्र देवां अदृश्य हो गया ओर उन्होंने हाथ जोड़कर इस प्रकार उसकी स्तुति की "जो रुद्र है, जो भगवान् है तथा जो ब्रह्मदेव भी है, उसे नमस्कार है।" आगे के इस प्रकार के वाक्यों में ब्रह्मदेव के स्थान पर विष्णु, महेश्वर, उमा, स्कन्द, विनायक आदि नाम मिलते हैं। सूर्य एवं नक्षत्रों की भी गणना की गयी है। तदुपरान्त ओंकार का उल्लेख है, जिसके साथ दैवी गुणों के बोधक अनेक विशेषण तथा विशेषणों के भी विशेषण लगाए गए हैं और अन्त में उसे एक रुद्र कहा गया है जो कि ईशान, भगवत्, महेश्वर एवं महादेव है। इसके बाद नामों के विशेषणों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। वह एकरुद्र इसलिए कहलाता है क्योंकि वह अकेले ही प्रत्येक वस्तु को रचता और नष्ट करता है। वह ईशान कहलाता है क्योंकि वह ईशानी शक्तियों द्वारा शासन करता है। इसके बाद कुछ पाठान्तर के साथ श्वे० उप० के चार पाँच श्लोक आते हैं। आगे के वर्णन का सारांश शंकरानन्द ने इस प्रकार दिया है : "रुद्र के ज्ञान के लिए पुरुष को संयत भोजन करना चाहिए, अपने को श्रवण, मनन आदि में लगाना चाहिए, परमहंस या एकाग्रचित भक्त बन जाना चाहिए और इस प्रकार अपना समय बिताना चाहिए। पाशुपतव्रत धारण करना चाहिए जो कि निम्न प्रकार का है। लोभ एवं क्रोध का त्याग कर देना चाहिए। क्षमा का अनुभव करना चाहिए। 'ओम्' का जप करना चाहिए तथा अवगति या प्रत्यक्ष में परिणत होने वाले ध्यान को करना चाहिए।'' मूल अंश जिसकी यह व्याख्या है, इस प्रकार है—"हृदय के अन्दर सूक्ष्म शरीर स्थित है जिसमें क्रोध-लोभ एवं क्षमा हैं। लोभ प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में है। उसका नाश करके एवं एक तथा नित्य रुद्र पर अपना मन लगाकर पुरुष को खान-पान के विषय में संयत होना चाहिए।" इसके बाद, इन शब्दों का उच्चारण करते हुए शरीर में भस्म का लेप करना चाहिए। "भस्म अग्नि है, भस्म जल है, भस्म पृथ्वी है, प्रत्येक वस्तु भस्म है, आकाश भस्म है, मन, नेत्र एवं अन्य इन्द्रियां भस्म है" यह पाशुपत व्रत है। इसका विधान उन पाशों को हटाने के लिए किया गया है, जिनसे पशु या जीवात्मा बँधा हुआ है।

यहाँ पर पाशुपत व्रत के अन्तर्गत पशुपति या रुद्र-शिव के भक्तों के लिए मन्त्र जप के अनन्तर भस्म लगाने का विधान किया गया है जिसे जीवन बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला माना गया है। 'पशुपाशविमोक्षण' यह पाशुपत संप्रदाय की विशेषता है। अतएव यह उपनिषद् पाशुपत संप्रदाय का है। किन्तु इस संप्रदाय पर विचार करने से पूर्व महाभारत में रुद्र-शिव की स्थिति पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

महाभारत में रुद्र-शिव एवं लिङ्ग-पूजा

भीष्मपर्व के प्रारम्भ में कृष्ण अर्जुन को युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व सफलता के लिए दुर्गा की वन्दना करने का परामर्श देते हैं। अर्जुन ने दुर्गा के एक स्तोत्र का पाठ किया, जिसमें उमा, स्कन्दमाता कात्यायनी, कराली आदि नाम आये हैं। वनपर्व में अर्जुन के हिमालय जाने का वर्णन है। वहाँ पर अर्जुन ने तप किया। कुछ समय उपरान्त किरात के वेश में वहाँ पर शिव प्रकट हुए तथा उन दोनों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। अन्त में अर्जुन पराभूत हो गये और श्रान्त होकर भूमि पर लेट गये। तदुपरान्त उन्होंने शिव की स्तुति की एवं मृत्तिका की वेदी बनाकर उसके ऊपर शंकर के नाम से पुष्प चढ़ाये। किन्तु ये पुष्प किरात के शिर पर रखे हुए दिखलाई पड़े। तब अर्जुन ने जाना कि किरात शिव हैं और उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। शिव प्रसन्न हुए और अर्जुन से मनोवाञ्छित वर माँगने को बोले। अर्जुन ने उनसे पाशुपत अस्त्र माँगा, जिसमें समस्त दुर्जेय शत्रुओं के नाश करने की शक्ति है (अध्याय ३८-४०)।

द्रोणपर्व (अध्याय ८०-८१) में फिर अर्जुन द्वारा पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है। यहाँ वह दूसरे प्रकार का मालूम पड़ता है। उसमें धनुष और बाण दोनों हैं। अर्जुन एवं कृष्ण स्वप्न में हिमालय पर्वत पर जाते हैं तथा शंकर को उनके निवास स्थान में देखते हैं। शंकर के आगे वे अपना मस्तक झुकाते हैं और उनकी स्तुति में एक स्तोत्र का गान करते हैं। वे उन्हें अजन्मा, जगत्स्रष्टा तथा अविकारी कहते हैं और उन नामों का भी उच्चारण करते हैं, जिन्हें हम पहले की कृतियों में देख चुके हैं। इस प्रकार उनकी वन्दना करते हुए वे उनसे पाशुपत अस्त्र माँगते हैं। उन्हें एक सरोवर पर जानेका आदेश मिलता है, जिसमें कि वह अस्त्र फेंक दिया गया था। वहाँ पर उन्होंने दो विषैले सर्प देखे, किन्तु उन सर्पों ने धनुष एवं बाण का रूप धारण कर लिया और अर्जुन उनको ले गए। सौतिकपर्व (अध्याय ७) में वर्णन है कि अश्वत्थामा ने शंकर की आराधना की और उनसे एक खड्ग प्राप्त किया। स्वयं शिव उसके शरीर में प्रविष्ट हो गये। अश्वत्थामा ने उस खड्ग से पाण्डवों के शिविर में उत्पात मचा दिया और अपने पिता द्रोण का शिर काटने वाले धृष्टद्युम्न तथा समस्त पाण्डव-पुत्रों का वध कर डाला। युधिष्ठिर कृष्ण से पूछते हैं कि उसने यह सब किस प्रकार किया ? कृष्ण कहते हैं कि उसने यह सब शंकर की शक्ति से किया। वे उसके बारे में एक और कथा कहते हैं। एक बार ब्रह्मदेव ने शंकर से सृष्टि न करने के लिए कहा, जिसपर शंकर बहुत काल तक जल में विलीन रहे। इस कारण जब इतने लम्बे समय तक सृष्टि नहीं हुई तब ब्रह्मदेव ने दूसरे प्रजापति को रचा, जिसने बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों को उत्पन्न किया। क्षुधा पीड़ित होने पर ये प्राणी प्रजापति को खाने के लिए उनके समीप पहुँचे। भयभीत होकर प्रजापति हिरण्यगर्भ के पास गये, हिरण्यगर्भ ने उन प्राणियों के लिए दो प्रकार के खाद्य रचे और

तब वे सब शान्त हो गए। कुछ समय के उपरान्त महादेव जल से बाहर निकले और यह देख कर कि नये प्राणियों की रचना की गई है तथा वे फलफूल रहे हैं, उन्होंने अपने लिंग को काट डाला क्योंकि अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। वह लिंग पृथ्वी पर स्थित हो गया। तदुपरान्त शंकर तप करने के निमित्त मूञ्जवान् पर्वत की उपत्यका में चले गए। महादेव के सृष्टि से विरत होने एवं योगी होने की इसी प्रकार की एक कथा वायुपुराण (अध्याय १०) में भी है। ब्रह्मदेव ने नीललोहित (महादेव) से सृष्टि करने को कहा और अपनी पत्नी सती का स्मरण करते हुए महादेव ने ठीक अपने ही समान सहस्रों प्राणियों की रचना की, जो अमर थे। तदुपरान्त उन्होंने सृष्टि-रचना बन्द कर दी और स्वयं को जनन के अयोग्य बना दिया। तब उन्होंने उन समस्त योग-क्रियाओं का आश्रय लिया, जिन्हें पुराण में पाशुपत-योग कहा गया है। सौप्तिकपर्व में कृष्ण महादेव की कथा के प्रसंग में युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि जब देवों ने यज्ञ-विधान की रचना की और रुद्र के लिए बलिभाग निर्धारित नहीं किया तब क्रुद्ध होकर उन्होंने यज्ञ का विध्वंस कर दिया। तब देवों ने रुद्र के लिए एक भाग निर्धारित किया और वे प्रसन्न हो गये। अनुशासनपर्व (अध्याय १४) में कृष्ण महादेव की महिमा का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि उनकी एक पत्नी जाम्बवती ने ऐसे पुत्र के लिए कामना की जैसा कि उनकी पटरानी रुक्मिणी का था। तब कृष्ण ने महादेव की आराधना की, जिनकी कृपा से ही उनकी इच्छाएँ पूरी हो सकती थीं। तदुपरान्त वे हिमालय गए, जहाँ पर शिव का निवास था। मार्ग में उन्होंने उपमन्यु का आश्रम देखा। उपमन्यु महादेव के शुभ कार्यों का विस्तार से वर्णन करते हैं और ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख करते हैं (जिनमें अनेक दैत्य भी सम्मिलित हैं), जिन्होंने उग्र तप एवं अन्य मार्गों द्वारा महादेव को प्रसन्न करके उनकी अनुकम्पा से पुत्र, आयुध, शक्ति आदि अपने इष्ट पदार्थ प्राप्त किये थे। उनमें एक शाकल्य था, जिसे यह वर प्रदान किया गया था कि वह ग्रन्थकार होगा और जिसका पुत्र सूत्रकार होगा। यहाँ पर निर्दिष्ट व्यक्ति ऋग्वेद संहिता का संकलनकर्ता एवं पदपाठ का रचयिता होना चाहिए। उपमन्यु ने शिव को प्रसन्न करने के निमित्त तप करना अपनी माता की प्रेरणा से प्रारम्भ किया था, जिसने शिव की शक्ति एवं दानशीलता का वर्णन करते हुए कहा था कि शिव दिग्वासस् हैं और नग्न नृत्य करते हैं। जिस समय उपमन्यु तपस्या कर रहे थे उस समय उनकी भक्ति की परीक्षा लेने के लिए महादेव इन्द्र के रूप में प्रकट हुए एवं अनेक दिव्य वर देने के लिए बोले, परन्तु उपमन्यु ने स्वीकार नहीं किया और कहा कि मैं केवल शंकर से ही वर प्राप्त करूँगा। शंकर की आज्ञा पर मैं कीट-पतंग भी हो सकता हूँ, परन्तु इन्द्र से तीनों लोकों के आधिपत्य की भी इच्छा नहीं रखता। महादेव की महिमा का वर्णन करते हुए उपमन्यु कहते हैं कि केवल महादेव ही ऐसे देवता हैं जिनके लिङ्ग की लोग पूजा करते हैं। महादेव तथा उमा प्राणियों के वास्तविक स्रष्टा

हैं, क्योंकि ये प्राणी दोनों के चिह्न धारण करते हैं, चक्र, शंख या अन्य देवों के चिह्न नहीं। तब अकस्मात् हंसारूढ ब्रह्मा और शंख चक्रादिधारी गरुड़ासीन नारायण के साथ वृषभ पर आसीन शिव एवं उमा उपमन्यु के आगे प्रकट होते हैं और उपमन्यु को अभीप्सित वर प्रदान करते हैं। उपमन्यु की प्रेरणा पर कृष्ण ने बहुत लम्बे समय तक तप किया, जिसके अन्त में महादेव एवं उमा कृष्ण के आगे उसी प्रकार प्रकट हुए जैसे कि उपमन्यु के आगे प्रकट हुए थे। शिव ने कृष्ण को आठ वर प्रदान किए तथा उनकी पत्नी (उमा) ने आठ और। इसके अतिरिक्त उमा ने कृष्ण के लिए सोलह सहस्र पत्नियों के लिए वचन दिया। कृष्ण को कुल मिलाकर चौबीस वर मिले, जिसमें कि पुत्र के जन्म का वर भी सम्मिलित था, जैसा कि वे चाहते थे।

इन विवरणों से शिव या महादेव की ये विशेषताएँ प्रकट होती हैं। वे शक्तिशाली, क्रोधी और प्रचण्ड, परन्तु कृपालु एवं दानी देव हैं। प्रसन्न कर लिए जाने पर वे सब कुछ देते हैं। जब किसी के मन में कोई इच्छा होती है तब इन्हीं की आराधना की जाती है। वे हिमालय में अपनी पत्नी उमा पार्वती या दुर्गा के साथ रहते हैं, जिसके काली कराली आदि अनेक नाम हैं। अनेक प्राणी उनकी सेवा करते हैं, जो गण कहलाते हैं। उनका वाहन वृषभ है। वस्तुतः उनमें परमेश्वर के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। सृष्टि करने से विरत होकर स्वयं योग-क्रियाओं को अङ्गीकार करते हैं। यह भी प्रकट होता है कि शैवधर्म में लिंग अत्यन्त पूजनीय है। जहाँ तक हमने परीक्षा की है, शैवधर्म में लिंगपूजा का साक्ष्य महाभारत से पूर्ववर्ती साहित्य में प्राप्त नहीं होता[1]। अनुशासनपर्व में पहली बार लिंग-पूजा का उल्लेख मिलता है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वनों में रहने वाले स्वच्छन्दचारी लोगों, व्रात्यों, निषादों तथा अनार्य जंगली जातियों के साथ रुद्र-शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध था। हमने यह भी निरूपित किया है कि निषाद जाति के देवता रुद्र में मिल गये थे। सम्भवतः सर्प-पूजा के प्रभाव से उनके साथ सर्पों का सम्बन्ध हुआ और जंगली जातियों में प्रचलित भूत-पूजा के प्रभाव से वे भूतपति कहलाये। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि शिश्नदेव को स्तुतिकर्ता के यज्ञों में विघ्न उपस्थित न करने दें (७, २१, ५)। एक अन्य मंत्र में वर्णन है कि उन्होंने शिश्नदेव का वध करके एक पुर के धन को जीत लिया। यहाँ पर शिश्नदेव

---

१. मैं इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं करता कि श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ४, श्लोक ११ के 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको' और अ० ५, श्लोक २ के 'यो योनिं योनिमधिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः' इस प्रकार के वर्णनों में योनि-लिंग के सम्बन्ध को दार्शनिक भूमिका दे दी गयी हो और ईश्वर को समस्त प्रभवों का अधिष्ठाता बतलाया गया हो।

(जिनका देवता शिश्न या लिंग है) का अभिप्राय स्पष्टरूप से वैदिक आर्यों के शत्रुओं से है, जो आर्यों के यज्ञों में विघ्न उपस्थित करते थे। मेरा ऐसा विश्वास है कि यहाँ पर निर्दिष्ट लोग वास्तव में देश की कुछ आदिवासी जातियाँ थीं जो शिश्न की पूजा करती थीं। उस समय वनवासियों और विविक्त प्रदेश में घूमने वाली बर्बर जातियों के अनेक तत्त्व रुद्र-पूजा में ग्रहण किये गये; उनमें शिश्न-पूजा भी एक है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह तत्त्व एकदम स्वीकृत नहीं हुआ, विशेष रूप से शिक्षितवर्ग में जिनके मतों का उस साहित्य में वर्णन है, जिसकी हम परीक्षा कर चुके हैं। ऐसा लगता है कि पतंजलि के काल तक लिंग-पूजा का प्रचलन नहीं हुआ था, क्योंकि पाणिनि के सूत्र ५, ३, ९९ पर पतञ्जलि ने उदाहरण स्वरूप शिव की प्रतिकृति या प्रतिमा को पूजा का विषय बतलाया है न कि किसी प्रतीक को। विम कदफिसस के काल में भी सम्भवतः लिंग-पूजा अज्ञात थी, क्योंकि उसके सिक्कों के पृष्ठ-भाग में नंदी के साथ त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है और कहीं भी लिंग का अंकन नहीं हुआ। फिर भी यह तत्त्व काफी पहले से शनैः शनैः उन जातियों में बढ़ता रहा होगा, जिनका असभ्य जातियों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। धीरे-धीरे ऊँची जातियों में भी लिंग-पूजा को स्थान मिलने लगा और कालान्तर में लिंग-पूजा उनके धर्म का अंग बन गयी। महाभारत में उपमन्यु के उपदेश में उन्नत जातियों द्वारा इसके ग्रहण की अन्तिम अवस्था का ही चित्रण मिलता है। वेदोत्तर साहित्य की समीक्षा से ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्र-शिव की पूजा का समस्त आर्यों में सामान्य प्रचलन था और रुद्र-शिव प्रारम्भ में किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, विष्णु या वासुदेव के लोकप्रिय होने के पूर्व रुद्र-शिव ही सर्वोच्च देव थे। गृह्यसूत्रों में, जैसा कि हम देख चुके हैं, विभिन्न परिस्थितियों में रुद्रकी आराधना करने का निर्देश मिलता है, जिनका किसी शैव-सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। पतञ्जलि के समय कतिपय धार्मिक व्यक्तियों द्वारा अर्थ-लाभ के उद्देश्य से पूजा के निमित्त शिव, स्कन्द या विशाख की प्रतिमायें रखी जाती थीं। कभी-कभी ये प्रतिमायें मूल्यवान् रत्नों की भी बनायी जाती थीं। ऐसा नहीं लगता कि यहाँ निर्दिष्ट शिव-प्रतिमा किसी विशेष शैव सम्प्रदाय में पूजी जाती थी।

शैव सम्प्रदायों का उदय और विस्तार तथा शिव-पूजकों की श्रेणियाँ

एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख तो पतंजलि ने ही किया है, जिसके अनुयायी शिव-भागवत कहलाते थे। हम देख चुके हैं कि अथर्ववेद में शिव को भागवत कहा गया है। पतंजलि के अनुसार शिव-भागवत अपने उपास्य के आयुध शूल को लिए रहते थे (पाणिनि, ५, २, ७६ पर भाष्य)।

महाभारत के नारायणीय पर्व में उल्लिखित धार्मिक मतों में पाशुपत भी एक हैं (शान्तिपर्व, अध्याय ३४९, ५०, श्लोक ६४)। उस प्रसंग में यह कहा गया है कि शिव श्रीकंठ ने, जो उमा के पति, भूतों के स्वामी और ब्रह्मदेव के पुत्र हैं, इस मत के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था (श्लोक ६७)। इस कथन का एक अर्थ तो यह निकलता है कि पाशुपत मत का प्रतिष्ठापक एक मानव था, जिसको कालान्तर में शिव का अवतार मान लिया गया। यह भी सम्भव है कि यह एक सामान्य कथन हो, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् (२,४,१०) में कहा गया है कि ऋक्, यजुस् आदि वेद पुरुष के निःश्वसित हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कथन का इससे अधिक कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं हैं कि पाशुपत मत धीरे-धीरे अस्तित्व में आया और इससे किसी व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध नहीं रहा। इन दोनों अनुमानों में कौन सा ठीक है, यह कहना कठिन है। फिर भी पुराणों और अभिलेखों में प्रथम अनुमान के समर्थन के लिए साक्ष्य प्राप्त होते हैं। वायुपुराण (अध्याय २३) और लिंगपुराण (अध्याय २४) के अनुसार माहेश्वर ने ब्रह्मदेव से कहा था कि युगों के अट्ठाईसवें प्रत्यावर्तन में कृष्ण द्वैपायन के समय जब वासुदेव जन्म लेंगे, तब मैं श्मशान में पड़े हुए एक मृत शरीर में प्रविष्ट होकर लकुलिन् नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार लूँगा। यह घटना कायावतार या कायारोहण में घटेगी। मेरे चार शिष्य होंगे—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरूष्य। अन्त में ये पाशुपत अपने शरीर में भस्म रमा कर माहेश्वर योग को करते हुए रुद्र-लोक में जायेंगे। राजपूताना में उदयपुर से १४ मील उत्तर में एकलिंगजी के मन्दिर के समीप एक अभिलेख है, जिसमें बतलाया गया है कि भृगु से आराधित होकर शिव भृगुकच्छ देश में एक लकुटधारी पुरुष के रूप में जन्म लेंगे। पाशुपत-योग के ज्ञाता, भस्म, वल्कल और जटाधारी कुशिक आदि मुनियों का भी उल्लेख हुआ है। एक अन्य अभिलेख में, जो चिन्त्रप्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है, कहा गया है कि शिव-भट्टारक लकुलीश के रूप में अवतरित हुए और लाट देश के कारोहण में रहे। वहाँ पाशुपत व्रतों के सम्पादन के लिए कुशिक, गर्ग्य, कौरूष्य और मैत्रेय नाम के चार शिष्य भी शरीर धारण कर प्रकट हुए और वे चार सम्प्रदायों के जन्मदाता बने। प्रथम अभिलेख की तिथि वि० सं० १०२८ (९७१ ई०) है। दूसरा अभिलेख १२७४ और १२९६ ई० के बीच लिखा गया था। मैसूर प्रान्त के सीर तालुका में हेमावती से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में, जिसकी तिथि ९४३ ई० है, यह वर्णन मिलता है कि लकुलीश अपने नाम और सिद्धान्तों की रक्षा के लिए मुनिनाथ चिल्लुक के रूप में पुनः उत्पन्न हुए[१]।

माधव ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में पाशुपत मत को "नकुलीश पाशुपत" नाम दिया है और नकुलीश के एक ग्रन्थ से कुछ उद्धरण भी दिये हैं। इस शब्द से यह प्रकट होता है कि लकुलिन् (लकुट, लगुड या लकुल का धारण करनेवाला) नाम का एक

---

१. जे०बी०बी०आर०ए०एस०, भाग २२, पृ० १५१–१५३

व्यक्ति हुआ था, जिसने पाशुपत मत की स्थापना की थी। पाशुपत मत में चार सम्प्रदाय निकले, जिनके प्रवर्तक लकुलीश के शिष्य थे, चाहे वे ऐतिहासिक रहे हों या अनैतिहासिक। लकुलिन् या नकुलिन् एक ही हैं। पुराणों में उनके वासुदेव-कृष्ण के समकालीन होने का जो वर्णन है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वासुदेव-कृष्ण के सम्प्रदाय में जो स्थान पांचरात्र का है वही स्थान शैवधर्म में पाशुपत मत का है। नारायणीय पर्व में उल्लिखित पाशुपत मत के उदय को हम पांचरात्र के उदय के १०० वर्ष बाद अर्थात् ई० पू० दूसरी शताब्दी में रख सकते हैं।

आगे बढ़ने के पूर्व हम इस मत के प्रसार की सीमा का उल्लेख करेंगे। वैशेषिक सूत्रभाष्य के अन्त में भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रकार कणाद की वन्दना की है और बतलाया है कि उन्होंने अपने योग और आचार से महेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक शास्त्र की रचना की थी। योग और आचार पाशुपत एवं शैव दोनों ही सम्प्रदायों में मान्य है, जैसा कि हम बाद में देखेंगे। अतएव कणाद पाशुपत या शैव सम्प्रदाय के अनुयायी रहे होंगे। वात्स्यायन के न्यायभाष्य की उद्योत टीका के लेखक भारद्वाज ने अपनी टीका के अन्त में स्वयं को पाशुपताचार्य कहा है। कुषाण जाति के शक्तिशाली राजा विम कदफिसस, जो लगभग तृतीय शतक ईसवीय के मध्य में उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत के एक बड़े भू-भाग पर शासन करता था, अपने मुद्रा लेख में स्वयं को महेश्वर का भक्त या महेश्वर का मतानुयायी कहता है। मुद्रा के पृष्ठ भाग पर नन्दी तथा त्रिशूल-धारी शिव की प्रतिमाएँ हैं। छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में वराहमिहिर ने यह नियम निर्धारित किया था कि शम्भु की प्रतिमा के प्रतिष्ठापन संस्कार के लिए नियोजित आचार्य शरीर में भस्म-लेप करनेवाले ब्राह्मण होने चाहिए। सम्भवतः यहाँ पर उनका अभिप्राय शैवमतानुयियों से है, क्योंकि अन्य देवों के प्रसंग में जिन नामों का उल्लेख किया गया है, वे उन देवों के नामों पर स्थापित संप्रदायों के नाम हैं।

एक प्राचीन जैन लेखक हरिभद्र ने अपने षड्दर्शनसमुचय में गौतम एवं कणाद के दर्शनों को शैवधर्म का प्रचारक कहा है। परन्तु उनके टीकाकार गुणरत्न ने, जो कि चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे[1], वैशेषिक को पाशुपत एवं न्याय-दर्शन को शैव कहा है। उनकी दूसरी बात असंगत हो सकती है, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, न्याय-दर्शन के भारद्वाज को स्पष्ट रूप से पाशुपताचार्य कहा गया है। सप्तम शतक के मध्य में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने ग्रंथ में बारह बार पाशुपतों का उल्लेख किया है। वह कहता है कि कुछ स्थानों में महेश्वर के ऐसे मन्दिर थे, जिनमें पाशुपत पूजा करते थे और एक या दो मन्दिरों में रहते भी थे। बनारस में उसे लगभग दस सहस्र पाशुप्त-मतावलम्बी मिले थे, जो कि महेश्वर की आराधना

१. इण्डि० एण्टि०, भाग १७, पृ०, २५५–५६

करते; अपने शरीर पर भस्म लगाते, नग्न रहते एवं अपने केश जूड़ों में बाँधते थे। ये तथा मन्दिरों में रहने वाले पाशुपत आजकल के वैरागियों के समान रहे होंगे। परन्तु उसके द्वारा उल्लिखित अन्य पाशुपत-मतानुयायी संभवतः गृहस्थों का सामान्य जीवन बिताते थे। महाराष्ट्र के पुलकेशिन् द्वितीय के भतीजे नागवर्धन, (जो ६१० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था तथा ६३९ ई० में विद्यमान था) के एक ताम्र-पत्र में कपालेश्वर (नर-कपाल की माला धारण करने वालों के ईश्वर) की पूजा तथा मन्दिर में रहने वाले महाव्रतियों के पोषण के निमित्त नासिक जिले में इगतपुरी के समीप एक ग्राम के दान का उल्लेख मिलता है। आगे यह बतलाया जायेगा कि कापालिक या कालामुख महाव्रती कहलाते थे। इस प्रकार सातवीं शताब्दी के मध्य में महाराष्ट्र में कापालिक सम्प्रदाय होने के साक्ष्य मिलते हैं।[1] राष्ट्रकूटवंशी कृष्ण तृतीय के करहाड-दानपत्र में शकाब्द ८८० (९५८ ई०) में राजा द्वारा समस्त शैव आगमों में निष्णात एवं महातपस्वी गगनशिव को एक ग्राम दिये जाने का उल्लेख है। गगनशिव करहाड में स्थित वल्कलेश्वर मठ के महन्त आचार्य ईशानशिव का शिष्य था। यह साधु और उसका यह मठ शैव सम्प्रदाय के प्रतीत होते हैं, पाशुपत सम्प्रदाय के नहीं। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मैसूर में कालामुख एवं शैव सम्प्रदायों के विद्यमान होने का साक्ष्य आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

यहाँ पर एक अन्य भेद करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। बाणभट्ट कादम्बरी में लिखते हैं कि रक्त परिधान पहिनने वाले पाशुपत अन्य लोगों की भाँति तारापीड के मंत्री शुकनास के भवन-द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे। परन्तु अन्य स्थल पर वे (कृष्णपक्ष की) चतुर्दशी को देव-पूजा के निमित्त तारापीड के पत्नी विलासवती के महाकाल मन्दिर जाने का वर्णन करते हैं। मालतीमाधव (अंक ३) में भवभूति ने कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन मालती को अपनी माता के साथ शंकर के मन्दिर में जाते हुए दिखलाया है। शिव के विशेष पूजन के लिए आज भी चतुर्दशी तिथि पवित्र मानी जाती है। विलासवती, मालती तथा उसकी माता कदाचित् ही उस सम्प्रदाय की रही हों, जिसके अनुयायी रक्त परिधान पहिनकर शुकनास के द्वार पर प्रतीक्षा करते थे। अतएव यह आवश्यक नहीं है कि शिव के समस्त उपासक परम्परा से प्राप्त उन सम्प्रदायों में से किसी न किसी के सदस्य रहे हों, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। बहुत प्राचीन काल से शनैःशनैः रुद्र-शिव की पूजा का भारतवासियों में प्रचार हुआ और आज भी वे सामान्यतः पूजे जा रहे हैं। समय-समय पर धार्मिक-दार्शनिक चिन्तन के जो उत्कर्ष एवं अपकर्ष हुए उनके साथ-साथ मुक्ति के विविध मार्ग अपनाने के कारण विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ। परन्तु साधारण जन उन सम्प्रदायों से सम्बन्ध न रखकर

---

1. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग १४, पृष्ठ २६

प्राचीन देवता का आश्रय पकड़े हुए थे। यह उल्लेखनीय है कि उन सम्प्रदायों में भी एक ओर धर्मोपदेशकों या वैरागियों और दूसरी ओर साधारण अनुयायियों या गृहस्थों के वर्ग रहे होंगे। कम से कम ह्वेनत्सांग के वर्णन से तो पाशुपत गृहस्थों का साक्ष्य मिलता ही है तथा करहाड में वैरागियों के एक वर्ग का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार शिवोपासकों के तीन वर्ग थे—(१) धर्मोपदेशक या वैरागी, (२) उनके गृहस्थ अनुयायी तथा (३) साधारण जन, जिनका किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं था। कालिदास, सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष, भट्टनारायण, भवभूति एवं अन्य अनेक कवियों ने अपनी कृतियों के प्रारम्भ में शिव की वन्दना की है। सम्भव है वे किसी सम्प्रदाय के गृहस्थ अनुयायी रहे हों। परन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि वे तृतीय वर्ग के होंगे। इनमें से सुबन्धु, बाण एवं भट्टनारायण ने तो आरम्भ में हरि की भी वन्दना की है, जिससे यह प्रकट होता है कि वे दो में से किसी एक देवता के अनन्य उपासक नहीं थे। प्राचीन चालुक्य एवं राष्ट्रकूटों द्वारा बनवाये गये बहुत से मन्दिरों, विशेषकर राष्ट्रकूटों के एलोरा के कैलाश तथा अन्य गुफा-मन्दिरों का शैव धर्म के किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। अतएव वे इस बात के प्रमाण हैं कि महाराष्ट्र में सातवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक शिव की सामान्य पूजा प्रचलित थी।

शैव संप्रदाय एवं उनके सिद्धान्त

प्राचीन शैव संप्रदायों का अपना निजी साहित्य है, जिसमें शैवागम और अन्य ग्रंथ आते हैं। शैवागम स्वयं शिव की और अन्य ग्रंथ मनुष्यों की रचना माने जाते हैं। परन्तु अब तक इस साहित्य का न तो प्रकाशन ही हुआ है और न पता लगा है। अतएव मुझे उन सम्प्रदायों और उनके सिद्धान्तों के विषय में प्रकीर्ण उद्धरणों का आश्रय लेना पड़ रहा है। ये उद्धरण प्रायः (एक उदाहरण को छोड़कर) उन ग्रन्थों में मिलते हैं जो शैव-मतानुयायियों द्वारा नहीं लिखे गये हैं। अधिक अर्वाचीन सम्प्रदायों की स्थिति भिन्न है, क्योंकि उनका साहित्य कुछ समय पूर्व उपलब्ध हो चुका है।

शंकर कहते हैं कि माहेश्वरों का यह मत है कि पशुपति ने पाँच विषयों का प्रकाशन किया था (ब्र० सू० २, २, ३७)। इस प्रकार कुछ संप्रदाय 'माहेश्वर' नाम से प्रसिद्ध थे तथा पशुपति या भगवान् शिव को इन संप्रदायों का संस्थापक माना जाता था। इसी सूत्र के प्रसंग में (किन्तु जिसकी संख्या ३५ दी गई है) रामानुज ने भी कहा है कि ये संप्रदाय पशुपति के सिद्धान्त हैं। श्रीकण्ठशिवाचार्य कहते हैं कि वे परमेश्वर द्वारा प्रकाशित आगमों को मानते थे। माहेश्वर नाम प्राचीन है। विम कदफिसस और वलभी वंश के राजा स्वयं को माहेश्वर कहते थे। ह्वेनत्सांग ने भी महेश्वर मन्दिरों का उल्लेख किया है, जिनमें पाशुपत पूजा करते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये समस्त संप्रदाय पाशुपत नाम से प्रसिद्ध थे तथा उन सबके संस्थापक भगवान् पशुपति माने जाते थे।

मैसूर के प्रकाशित अभिलेखों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। अन्तर केवल यही है कि इनमें इस सम्प्रदाय के आद्य आचार्य को लकुलिन् या लकुलीश कहा गया है। ऊपर निर्दिष्ट ९४३ ई० के एक अभिलेख में कहा गया है कि लकुलीश यह सोचकर कि उनके नाम एवं उनके सिद्धान्त कहीं विस्मृत न कर दिये जायँ मुनिनाथ चिल्लुक[1] के रूप में अवतरित हुए। यह नाम समस्त संप्रदायों में स्वीकृत सामान्य नाम जान पड़ता है। १०७८ ई० के एक अन्य अभिलेख में एक संन्यासी को लाकुलसंप्रदाय का आभूषण तथा एक अन्य संन्यासी को "लाकुल सम्प्रदाय का हस्त"[2] कहा गया है। यह एक सामान्य नाम प्रतीत होता है तथा किसी विशिष्ट संप्रदाय का बोधक नहीं है। एक तीसरा अभिलेख (१०३० ई०) सोमेश्वरसूरि को लाकुल-सिद्धान्त विकसित करने वाला बतलाता है। उसे नैयायिक एवं वैशेषिक कहा गया है[3]। इससे यह सिद्ध होता है कि वह किसी विशेष पाशुपत संप्रदाय का था। एक चौथे अभिलेख (११७७ ई०) में कतिपय साधुओं को 'लाकुलागमसमय'[4] अर्थात् लकुलिन् के ग्रन्थ पर आधारित मत का समर्थक तथा कालामुख संप्रदाय का अनुयायी कहा गया है। यहाँ पर स्पष्टतया कालमुखों को लाकुल कहा गया है, जो पाशुपतों से भिन्न नहीं हैं। इस अभिलेख में उल्लिखित साधुओं के नामान्त शक्ति एवं जीव हैं। यह कालामुख संप्रदाय का लक्षण प्रतीत होता है। एक पाँचवें अभिलेख (११८३ ई०) में नागशिव-पण्डित को दान देने का उल्लेख है। उसे लाकुल मत का पोषक कहा गया है उसके दो पीढ़ियों के पूर्व के आचार्यों का नामान्त शिव है। आगमों एवं शिवतत्त्व में नागशिव के निष्णात होने की प्रशंसा की गयी है। शिव नामान्त से तथा आगमों एवं शिवतत्त्व[5] में उनके पारंगत होने के उल्लेख से यह प्रतीत होती है कि नागशिव शैव संप्रदाय के

---

१. एपि० कर्ना०, भाग १२, पृ० ९२ (अनुवाद)
२. एपि० कर्ना०, भाग १७, सिकरपुर तालुका, सं० १०७
३. एपि० कर्ना०, भाग ७, खण्ड, १, पृ० ६४ (अनुवाद)
४. एपि० कर्ना०, भाग ५, खण्ड १, पृ० १३५ (अनुवाद)
५. एपि० कर्ना०, भाग ५, अर्सिकेरे तालुका सं० ८९। एपि० कर्ना०, भाग ५, पृ० ३७, अर्सिकेरे तालुका सं० ६९ में एक नागराशि साधु का उल्लेख है। उसमें नागराशि के शिष्य माधजीव को एक दान का उल्लेख है। नागराशि कालामुख सम्प्रदाय का था और पद्मशिव पण्डित का शिष्य था। अभिलेख सं० ४८ में एक अन्य नागराशि का उल्लेख है (वही)। इस अभिलेख में दान देने वाले का नाम कल्याणशक्ति है, जो शिवशक्तिदेव का शिष्य था। शिवशक्तिदेव स्वयं कालामुख सम्प्रदाय वाले नागराशि का शिष्य था। ये दोनों ही नागराशि मुझे ऊपर उल्लिखित नागशिव से भिन्न मालूम पड़ते हैं। यहाँ पर राशि और शक्ति कालामुख सम्प्रदाय के प्रतीत होते हैं, यद्यपि राशि नामान्त पाशुपतों में भी मिलता है।

अनुयायी थे, साथ ही वे लाकुल या पाशुपत भी थे। छठे अभिलेख (११९९ ई०) में लाकुलागमसमय[1] के प्रवर्धक नागराशि के पुत्र बम्मदेव को एक भूमिदान देने का उल्लेख है। बहुसंख्यक शिव-भक्तों का 'राशि' नामान्त मिलता है। यह स्पष्ट नहीं है कि यह किसी संप्रदाय की विशेषता है, फिर भी ऐसा लगता है इसको धारण करने वाले पाशुपत या कालामुख संप्रदाय के थे। सातवें अभिलेख (१२१३ ई०) में एक व्यक्ति को "वागि-लाकुल" (अर्थात् विद्वान् लकुलिन्[2] का मत) मत को मानने वाला कहा गया है। आठवें अभिलेख (१२८५ ई०) में दानकर्ता को लकुलिन्[3] के नूतन संप्रदाय का समर्थक बतलाया गया है। यहाँ संभवतः उत्तरवर्ती लिङ्गायत संप्रदाय का निर्देश है। इस प्रकार लाकुल शैव संप्रदायों का एक सामान्य नाम था। एक उदाहरण में उसके साथ विशिष्ट नाम कालामुख जोड़ दिया गया है। इस सामान्य नाम का यह ऐतिहासिक आधार है कि लकुलिन् या लकुलीश नामक एक व्यक्ति ने एक शैव मत की स्थापना की थी, जिसे, वायु एवं लिङ्ग पुराणों में पाञ्चरात्र का समकालीन माना गया है। दूसरा सामान्य नाम पाशुपत है। पाशुपत नाम का उदय मानव लकुलिन् के स्थान पर, भगवान् पशुपति (लकुलिन् जिनके अवतार माने जाते हैं) को इस मत का संस्थापक मान लेने से हुआ, जैसा कि महाभारत के ऊपर उद्धृत वाक्यों में किया गया है। परन्तु शैवमत का संस्थापक मानव था इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि उसकी कृति का पञ्चाध्यायी या पञ्चार्थविद्या नाम परम्परागत रूप से चला आ रहा है। संभवतः इस कृति का अस्तित्व है, यद्यपि इसे अभी तक खोजा नहीं जा सका। माधव ने इसके भाष्य पर एक टीका (पंचार्थभाष्यदीपिका) का उल्लेख किया है। अतएव निष्कर्ष यह है कि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति उस प्रधान शैवमत का संस्थापक था, जिसको माधव ने नकुलीश-पाशुपत कहा है। आगे चल कर इससे तीन अन्य संप्रदाय निकले।

शंकर के टीकाकारों ने कहा है कि शैव, पाशुपत, कारुकसिद्धान्ती तथा कापालिक नामधारी चार संप्रदाय थे। वाचस्पति ने तीसरे को कारुणिकसिद्धान्ती बतलाया है। रामानुज एवं केशव काश्मीरी ने इन्हीं चार संप्रदायों का उल्लेख किया है, परन्तु कारुक-सिद्धान्तियों को उन्होंने कालामुख नाम दिया है। कारुक शब्द संभवतः लकुलीश के चार शिष्यों में से (पुराणों के अनुसार) तृतीय शिष्य कौरुष्य के नाम का अपभ्रंश है अथवा कौरुष्य मूल कारुक नाम का संस्कृत रूप होगा।[4] पशुपति की ऊपर निर्दिष्ट

---

१. एपि० कर्ना०, भाग ५, अर्सिकेर तालुका सं० १०३

२. एपि० कर्ना०, भाग ५, अर्सिकेर तालुका सं० ४६

३. एपि० कर्ना०, भाग १२, पृ० ४५ (अनुवाद)

४. इन चार सम्प्रदायों का शिव-पुराण की वायवीय संहिता (२, २४, १७७) में भी उल्लेख है, किन्तु शैव सम्प्रदाय को सिद्धान्तमार्ग तथा कालामुख को महाव्रतधर कहा गया है।

कृति पञ्चाध्यायी (पंचार्थों का विवेचन करने वाली) का उल्लेख केशव काश्मीरी ने भी किया है तथा काशीखण्ड के भाष्य में इसे रामानन्द ने उद्धृत किया है[1]। यह वही कृति होनी चाहिए जिससे नकुलीश-पाशुपत-अध्याय में माधव ने उद्धरण दिये हैं तथा जिसे नकुलीश या लकुलीश की कृति बतलाया है।

पाशुपत

शंकराचार्य ने पाशुपत सम्प्रदाय के पाँच सिद्धान्त (पंचार्थ) बतलाये हैं, जिनकी भाष्यकारों ने व्याख्या की है। पाँच सिद्धान्त ये हैं :—(१) कार्य—प्रधान से उत्पन्न महत् आदि, (२) कारण—ईश्वर या महेश्वर और प्रधान, (३) योग—ॐ का जप, ध्यान, समाधि आदि। (४) विधि—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल दिन में तीन बार भस्म-लेपन एवं गूढ़चर्या आदि, (५) दुःखान्त—मोक्ष। माधव ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह में पाशुपत दर्शन के प्रसंग में इनकी व्याख्या की है।

१. कार्य—कार्य वह है जो स्वतन्त्र नहीं है। यह तीन प्रकार का है : (१) विद्या, (२) अविद्या, और (३) पशु (जीव)। विद्या पशु का गुण है। यह दो प्रकार की है, (१) बोधस्वभावा, और (२) अबोधस्वभावा। बोधस्वभावा विद्या दो प्रकार की है, (१) व्यक्त, और(२) अव्यक्त। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त बोधात्मक व्यक्त विद्या चित्त कहलाती है, क्योंकि बोधात्मक प्रकाश की सहायता से जिस वस्तु का व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रत्यक्ष किया जाता है, उसका सम्यक् ज्ञान चित्त से ही होता है। अबोधस्वभावा विद्या के भी दो रूप हैं—धर्म और अधर्म, जिनके लिए जीव (पशु) यत्नशील होता है। अबोधस्वभावा विद्या उन नियमों को निर्धारित करती है, जिनका जीव को पालन करना होता है। कला चेतन पशु के अधीन है और स्वयं अचेतन है। उसके दो रूप हैं—कार्य और इन्द्रिय। कार्यरूपा कलायें दस प्रकार की हैं—पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व तथा रूपादि पाँच गुण। कारण रूप कलायें तेरह प्रकार की हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

---

१. वायवीयसंहिता (२, २४, १६९) में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है और इसे पंचार्थ कहा गया है। नकुलीश-पाशुपत खण्ड में माधव ने पंचार्थभाष्यदीपिका का जो उल्लेख किया है उससे पंचार्थ का निर्देश मिलता है। जयपुर में सीकर प्रदेश के समीपवर्ती हर्षनाथ मन्दिर के एक अभिलेख में विश्वरूप को पंचार्थ-लाकुलाम्नाय का आचार्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह कि लकुलीश के ग्रन्थ का नाम पंचार्थ था। अभिलेख की तिथि वि० सं० १०१३ (९५७ ई०) है। इससे संदेह नहीं रह जाता कि पाशुपत मत का प्रवर्तक लकुलिन् नामक व्यक्ति को माना जाता था और उसका ग्रन्थ पंचार्थ कहलाता था (एपि० इण्डि०, भाग २, पृ० १२२)।

शिव-पुराण में शैव सम्प्रदायों और पंचार्थ ग्रन्थ का नाम मिलने से प्रकट होता है कि इस पुराण की रचना सम्प्रदायों के प्रवर्तन के बाद हुई।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा बुद्धि, अहंकार और मन। मन बुद्धि और अहंकार अतीन्द्रिय हैं तथा उनके कार्य क्रमशः अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प हैं। पशु वह है जिसमें पशुत्व हो। यह दो प्रकार का होता है—(१) मलयुक्त एवं (२) निर्मल। मलयुक्त पशु वह है जो शरीर और कलाओं से सम्बद्ध है जब कि निर्मल पशु उनसे सम्बद्ध नहीं रहता। विस्तार के लिए पंचार्थभाष्यदीपिका तथा अन्य ग्रंथों को देखना चाहिए।

२. कारण—समस्त वस्तुओं का सृष्टि-संहार तथा अनुग्रह करने वाले तत्त्व को कारण कहते हैं। यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों से साद्य आदि अनेक रूपों का हो जाता है। पति का अर्थ है ज्ञान एवं क्रिया की निरतिशय शक्तियों से सम्पन्न होना। अतएव वह शाश्वत शासक है। साद्य का अर्थ है ऐसे ऐश्वर्य से युक्त होना जो आकस्मिक न हो प्रत्युत नित्य हो।

३. योग—चित्त के द्वारा ईश्वर के साथ जीव का सम्बन्ध जोड़ने वाले साधन को योग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है: (१) क्रियायुक्त एवं (२) क्रियाहीन। अक्षरों एवं मन्त्रों का जप तथा ध्यान आदि के रूप में जो योग है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं। अनुभव या तत्त्वज्ञान (संविद्) क्रियाहीन योग है।

४. विधि—वह व्यापार या क्रिया विधि है, जो धर्म की सिद्धि कराती है। इसके दो भेद हैं, (१) प्रधान और (२) गौण। प्रधान विधि वह है, जो साक्षात् धर्म का कारण हो। इसे चर्या भी कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं, (१) व्रत और (२) द्वार। भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप एवं प्रदक्षिणा ये व्रत हैं। भगवान् लकुलीश ने कहा है, "भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या) स्नान करना चाहिए और भस्म में ही शयन करना चाहिए। उपहार (नियम) छह हैं। सूत्रकार के अनुसार हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार इन उपहारों के द्वारा पूजा करनी चाहिए। कण्ठ एवं ओष्ठ-पुटों के विस्फूर्जन के साथ हा! हा! हा! इस प्रकार अट्टहास करना हसित है। संगीत विद्या के नियमों के अनुसार महेश्वर के गुणों का गान करना गीत कहलाता है। नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार हाव-भाव के साथ कर, चरण आदि एवं अंग, प्रत्यंग तथा उपांगों के विक्षेपण आदि द्वारा नृत्य करना चाहिए। हुडुक्कार वह पुण्यप्रद शब्द है, जो जिह्वा और तालु के संयोग से उदित होता है और वृषभ के नाद के समान होता है। हुडुक्क वास्तव में वषट् की तरह की ध्वनि है। जहाँ पर लोग उपस्थित हों वहाँ पर इन सबका प्रयोग गुप्त रूप से करना चाहिए।

द्वार-चर्यायें ये हैं: (१) क्राथन—जाग्रत् अवस्था में सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टायें करना, (२) स्पन्दन—अंगों को इस प्रकार कँपाना जैसे कि वे शक्तिहीन हों, (३) मन्दन—लंगड़ाकर चलना, (४) शृंगारण—किसी सुंदर युवती को देखकर कामुक के समान शृंगारिक हाव-भावों द्वारा अपने को प्रेमासक्त दिखलाना, (५) अवितत्करण—सभी लोगों द्वारा निन्द्य कार्य को इस भाँति करना जैसे कि करणीय-अकरणीय में भेद करने की बुद्धि ही न हो तथा (६) अवितद्भाषण—परस्पर विरोधी और निरर्थक बातें करना।

चर्या की सहायक विधि को गौण विधि कहते हैं, जैसे अनुस्नान (पूजा के उपरान्त भस्म-स्नान) आदि। भिक्षान्न भोजन, उच्छिष्ट भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अपवित्रता आ जाती है, उसका इससे निवारण हो जाता है। इस निमित्त सूत्रकार ने यह विधान किया है कि पूजनोपरान्त शरीर पर भस्म लेप करना चाहिए (अनुस्नान), तथा देवता पर से हटाये गये कुम्हलाये हुए पुष्प-पत्र (निर्माल्य) और लिंग धारण करना चाहिए।

५. दुःखान्त—दुःखान्त दो प्रकार का होता है : (१) अनात्मक—दुःखों का पूर्ण क्षय तथा (१) सात्मक—जिसमें ज्ञान और कर्म की शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ज्ञान शक्ति पाँच प्रकार की है : (१) दर्शन—सूक्ष्म, व्यवहित, और विप्रकृष्ट वस्तुओं का चाक्षुष स्पर्शादि ज्ञान, (२) श्रवण—समस्त शब्दों का सिद्धि ज्ञान, (३) मनन—समस्त चिन्त्य पदार्थों का अद्भुत ज्ञान, (४) विज्ञान—शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और अर्थ के साथ जान लेना, (५) सर्वज्ञत्व—(गुरु के द्वारा) उपदिष्ट तथा अनुपदिष्ट सभी विषयों में समास, विस्तार, विभाग और विशेष के द्वारा तत्त्व के रूप में सम्बद्ध और सदैव प्रकाशित तत्त्वज्ञान। इस मार्ग की ये विशेषताएँ हैं : अन्य मतों में दुःखक्षय ही मोक्ष है, इस मत में परम शक्तियों की प्राप्ति को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। अन्य मतों के अनुसार कार्य असत् से उत्पन्न होता है, परन्तु इस मत में कार्य नित्य है, जैसे पशु या जीवात्मा। अन्य मतों में कारण को अपने कारणत्व के लिए सहायक कारण की अपेक्षा होती है, परन्तु यहाँ पर महेश्वर स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं। अन्य मतों में योग का फल पूर्ण स्थिति की प्राप्ति है, यहाँ पर योग का उद्देश्य परम शक्तियों की प्राप्ति है। अन्य मतों में विधि के फल स्वर्ग आदि हैं, जहाँ से मर्त्य जीवन के लिए पुनः लौटना पड़ता है, परन्तु इस मत में विधि के फल (ईश्वर का) सामीप्य आदि हैं, जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता।

क्रियाशक्ति एक होते हुए भी त्रिविध मानी गयी है : (१) मनोजवित्व—किसी भी कार्य को तत्क्षण कर लेना, (२) कामरूपित्व—इच्छामात्र से अनन्त रूप, शरीर या इन्द्रियाँ धारण करना, (३) विकरणधर्मित्व—इन्द्रिय-व्यापार निरुद्ध हो जाने पर भी निरतिशय ऐश्वर्य से सम्पन्न रहना। इस प्रकार पाशुपत मार्ग द्वारा निर्धारित लम्बी चर्या के अन्त में मनुष्य ज्ञान एवं क्रिया की सिद्धियों को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हमने देखा कि इस मत में परमपद की प्राप्ति के निमित्त कितनी अपरूप और विलक्षण क्रियायें निर्धारित की गयीं हैं। रुद्र-शिव बस्तियों से दूर मैदानों एवं जंगली और भयावह प्रदेशों के देवता थे तथा अनियमित और निर्मर्याद लोगों द्वारा पूजे जाते थे। यह प्रभाव उनको प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली पूजा पर भी पड़ा, जिसका कि आगे चलकर विकास हुआ। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने रुद्र-शिव के मानवीकरण का प्रयास किया, परन्तु उनका अशिष्ट और जंगली स्वरूप प्रचलित रहा। अब हम शैवसिद्धान्त पर आते हैं जो

सम्भवतः बाद में प्रवर्तित हुआ था। यहाँ पर भी माधव ही हमारे प्रमुख मार्ग-निर्देशक हैं, क्योंकि वे बहुत सारी कृतियाँ, जिनका उन्होंने उल्लेख किया है, अब प्राप्त नहीं हैं।

शैवसिद्धान्त

शैवसिद्धान्त में चार पादों और तीन पदार्थों का प्रतिपादन है। चार पाद हैं विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या और तीन पदार्थ हैं पति, पशु और पाश। विद्यापाद में पति, पशु और पाश के स्वरूप की व्याख्या तथा मन्त्र एवं मन्त्रेश्वरों के महत्त्व का निरूपण है। इसके बाद दीक्षा का क्रम आता है, जो कि परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। क्रियापाद में अंगों सहित विविध दीक्षाविधियों का वर्णन है। योगपाद में ध्यान और योग की व्याख्या है। चर्यापाद में विहित और अविहित का उपदेश दिया गया है। इसके बिना योग सम्भव नहीं है।

१. पति—पति पदार्थ से शिव अभिप्रेत हैं। वे जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार भोग और उनके साधनों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार उनकी सर्जन शक्ति का प्रयोग मनुष्य के कर्मों पर आधारित है। वे सब कुछ करते हैं और सर्वद्रष्टा हैं। ईश्वर का शरीर जीवात्मा के शरीर के समान प्राकृत नहीं होता। जीवात्मा का शरीर मल एवं कर्मादिक पाशों से युक्त है किन्तु ईश्वर का शरीर शक्ति-निर्मित है। शक्ति के ईशान आदि पाँच मन्त्र हैं,[1] जिनके द्वारा परमात्मा के अवयवों की कल्पना की जाती है। ये पाँच मन्त्र उनकी शक्तियाँ एवं उनके विभिन्न रूप हैं। इनके द्वारा वह पाँच कर्म करता है—सर्जन (उद्भवलक्षण), पालन (स्थितिलक्षण), संहार (आदानलक्षण), आवरण (तिरोभाव) और प्रसाद (अनुग्रह)। शिव के चार अंग हैं : (१) मन्त्र, (२) मन्त्रेश्वर, (३) महेश्वर एवं (४) मुक्त।

२. पशु—पशु जीवात्मा है। वह सूक्ष्म (अणु) है तथा क्षेत्रज्ञ आदि नामों से जाना जाता है। वह नित्य एव सर्वव्यापी है। वह निष्क्रिय नहीं है और न केवल

---

१. ये पाँच मन्त्र तै० आ० (१०, ४३–४७) और महानारायणीय उप० (१७) में हैं। टीकाकार उनको शिव के पाँच मुख (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान) बतलाता है। वे शिव के पाँच रूप भी कहे गये हैं। हेमाद्रि (दानखण्ड, भाग १, पृ० ७८९–७९२ बिब्लि० इण्डि०) ने एक विशेष दान का उल्लेख किया है, जिसमें शिव के इन पाँच रूपों की सोने या अन्य धातु की बनी मूर्तियों के दान देने का वर्णन है। प्रत्येक को देते समय एक श्लोक पढ़ा जाता है। एक शैव ग्रंथ ने इन पाँच रूपों को क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश से अभिन्न बतलाया है। एक अन्य ग्रन्थ वीरशैवचिन्तामणि (शोलापुर, १९०८) में उन पाँच रूपों को इन तत्त्वों का स्रष्टा कहा गया है।

एक है, जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं। जब पाश हटा दिये जाते हैं तब वह नित्य एवं निरतिशय ज्ञान-क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होकर चैतन्यरूप शिव बन जाता है। मुक्त जीव शिव हैं, जो नित्यमुक्त एवं पाँच मन्त्रों के शरीर वाले शिव की अनुकम्पा से मुक्त होते हैं। यद्यपि वे शिव हो जाते हैं फिर भी वे स्वतन्त्र नहीं होते प्रत्युत नित्यमुक्त शिव के अधीन रहते हैं। पशु तीन प्रकार के हैं : (१) विज्ञानाकल—जिन्होंने ज्ञान-योग द्वारा अथवा कृत कर्मों के संस्कारों का क्षय करके समस्त कलाओं से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया है एवं जिनमें मलमात्र शेष रह गये हैं; (२) प्रलयाकल—जिनकी कलाओं का क्षय जगत् के प्रलय द्वारा होता है, ये कर्म एवं मल दोनों से मुक्त रहते हैं; (३) सकल—जो मल, कर्म एवं माया इन तीनों पाशों से युक्त हैं।

विज्ञानाकल—विज्ञानाकल पशु दो प्रकार का होता है। प्रथम जिसके कलुष समाप्त हो चुके हैं तथा दूसरा जिसके कलुष का अन्त नहीं हुआ है। जिनके कलुष समाप्त हो गये हैं वे विद्येश्वरों के पद पर पहुँचा दिये जाते हैं। विद्येश्वर आठ हैं : (१) अनन्त, (२) सूक्ष्म, (३) शिवात्तम, (४) एकनेत्र, (५) एकरुद्र, (६) त्रिमूर्ति, (७) श्रीकण्ठ एवं (८) शिखण्डी। एक अन्य लेखक कहता है कि शिव समाप्तकलुष पशुओं को विद्येशत्व के पद से अलंकृत करता है तथा असमाप्त-कलुष पशुओं को वह मन्त्रों का पद देता है, जो कि सात करोड़ हैं।

प्रलयाकल—प्रलयाकल पशु भी दो प्रकार का होता है। प्रथम तो वह है जिसके दोनों पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो चुके हैं (तथा टूटने ही वाले हैं) एवं द्वितीय वह जिसके दोनों पाश परिपक्व नहीं हुए हैं। प्रथम को मोक्ष की प्राप्ति होती है एवं द्वितीय पुर्यष्टक से संश्लिष्ट होकर अपने धर्मों के अनुसार अनेक जन्म ग्रहण करता है। पुर्यष्टक सूक्ष्म शरीर है, जो तत्त्वों से निर्मित है। उन तत्त्वों की विभिन्न प्रकार से गणना की गई है। पुर्यष्टकयुक्त पशुओं में जो पुण्यसम्पन्न विशिष्ट पशु हैं महेश्वर अनन्त उनको भुवनपतित्व प्रदान करते हैं।

सकल—सकल पशु भी दो प्रकार का होता है। प्रथम वह जिसका कलुष परिपक्व हो चुका है तथा द्वितीय वह जिसका कलुष परिपक्व नहीं हुआ है। इसमें से प्रथम को मण्डली आदि एक सौ अठारह मन्त्रेश्वरों के पद पर उठा देते हैं। उन पाशों का इतना परिपाक हो जाता है कि उन्हीं के आग्रह से रोध-शक्ति के सर्वथा विनाश हो जाने पर परमेश्वर आचार्य में प्रविष्ट होकर दीक्षा के द्वारा उनको मोक्ष प्रदान करता है। जिन अणु (जीवों) के कलुष परिपक्व नहीं हुए हैं, वे बद्ध हैं, उन्हें परमेश्वर कर्मों के कारण भोग भोगने में लगाये रखता है।

३. पाश—पाश चार प्रकार के हैं : (१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोध-शक्ति। मल वह पाश है जो तुषतण्डुलवत् आत्मा (पशु) की ज्ञान एवं क्रिया शक्ति को तिरोहित कर देते हैं। फल के इच्छुक व्यक्ति जो करें वह कर्म

है, जिसमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। वे बीज और अंकुर के समान प्रवाह के रूप में अनादि काल से चले आ रहे हैं। माया वह शक्ति है, जिसमें प्रलयकाल में समस्त संसार परिमित हो जाता है (√मा) तथा जिससे सर्जन काल में उद्भूत होता है (आ + √या)। रोध-शक्ति शिव की शक्ति है, जो कि अन्य तीन पाशों में अधिष्ठित होकर पशु के यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है इसलिए स्वयं भी पाश कहलाती है। वह अपना कार्य सम्पादित करती है, क्योंकि यह वाक्शक्ति है, जिसके द्वारा वस्तुओं का नामकरण किया जाता है और इस प्रकार उनका स्वरूप निर्धारित किया जाता है।[1]

यह इस सम्प्रदाय का विद्यापाद है, अन्य तीन भागों का स्वरूप संक्षिप्त रूप में दिया जा चुका है। कतिपय विवरण ये हैं[2] :—क्रियापाद में मन्त्रसिद्धि, सन्ध्योपासना, पूजा, जप, हवन, शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए नैमित्तिक कर्म, आचार्य एवं साधक का अभिषेक तथा व्यक्ति को अपने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए आवश्यक दीक्षा-विधि का वर्णन है। योगपाद में छत्तीस तत्त्वों; उनके अधिष्ठाता देवों; विभिन्न लोकों के अधिपति; जीवात्मा; सर्वेश्वर आत्मा; शक्ति; जगत् की कारण माया एवं महामाया के प्रत्यक्ष; सांसारिकता में पड़े हुए व्यक्तियों के लिए सिद्धि, सूक्ष्मता, लघुता आदि की प्राप्ति; प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि तथा शरीर में मूलाधार या नाभि से प्रारम्भ होने वाले चक्रों की स्थितियों का उल्लेख किया गया है। चर्यापाद में तप पवित्रारोपण, प्रतिष्ठा शिवलिङ्गों के स्वरूप, उमा एवं महेश्वर के दृश्यलिङ्ग, गणपति, स्कन्द, नन्दी, जपमाला तथा श्राद्ध का वर्णन है। ऐसा लगता है कि किया-पाद में निर्दिष्ट कर्मों के सहकारी तथा प्रकाशक विषयों का चर्यापाद में समावेश है। ऊपर उल्लिखित प्रतिषिद्ध कर्म ये हैं : (१) अन्य देवता का प्रसाद खाना, (२) (अ) शिव (आ) शिव-भक्त, (इ) शैव-मत, (ई) शैव-मत में विहित क्रियाओं की निन्दा, (३) ईश्वर की वस्तुओं का उपभोग और (४) पशु-हत्या।

इस शैव संप्रदाय के सिद्धान्त पाशुपत-संप्रदाय के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक संयत एवं युक्ति-युक्त हैं। पाशुपत, कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय अतिमार्गिक कहलाते हैं। शम्भुदेव ने इन्हें रुद्र द्वारा प्रकाशित बतलाया है। वे शैव संप्रदाय को सिद्धान्तशास्त्र या मन्त्रों पर आधारित सच्चा शास्त्र बतलाते हैं तथा कहते हैं कि इसे शिव ने प्रकाशित किया था। वायवीयसंहिता में भी इसे सिद्धान्त संप्रदाय कहा गया है। यह तथा पाशुपत दोनों संप्रदाय द्वैतवादी या भेदवादी हैं और यह मानते हैं कि परमात्मा एवं जीवात्मा भिन्न भिन्न सत्ताएँ हैं तथा जगत् का उपादान कारण प्रधान है। मुक्तावस्था में

---

१. शम्भुदेव, शैवसिद्धान्तदीपिका, शोलापुर, १९०९

२. उसी ग्रंथ से।

जीवात्मा अज्ञान एवं दुर्बलता से मुक्त हो जाता है। पाशुपत यह मानते हैं कि वह असीम ज्ञान एवं क्रियाशक्तियों से सम्पन्न हो जाता है, जबकि शैवसिद्धान्त के अनुसार वह स्वयं शिव हो जाता है अर्थात् वह भगवान् शिव का पूर्ण सादृश्य प्राप्त कर लेता है, केवल उनकी सर्जनशक्ति को प्राप्त नहीं करता।

एक अन्य शैव मत यह मानता है कि शिव, जीवात्मा एवं भौतिक जगत् के मूल तत्त्वों वाली शक्ति से संपन्न हैं या उन्होंने इस शक्ति का विकास किया जिससे समस्त जगत् का विकास हुआ। अतएव शक्तिविशिष्ट शिव सृष्टि करते हैं, इसको हम रामानुज के सिद्धान्त की भाँति विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं। यह शैवमत आगे चलकर विशिष्टाद्वैत के रूप में विकसित हुआ। शम्भुदेव और श्रीकण्ठशिवाचार्य ने इसका वर्णन किया है एवं वायवीय संहिता के अवतरणों से भी इसका समर्थन होता है। इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे शक्तिविशिष्ट शिव द्वारा सृष्टि-रचना लिङ्गायत सम्प्रदाय का भी सिद्धान्त है।

कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय

ब्रह्मसूत्र २, २, ३५ या ३६ पर अपने भाष्य में रामानुज बतलाते हैं कि कापालिकों का यह मत है कि जो छह मुद्रिकाओं का तत्त्वज्ञ है तथा उनके प्रयोग में विशारद है वह भगासन पर बैठकर आत्मा का ध्यान करता हुआ निर्वाण प्राप्त करता है। ६ मुद्राएँ ये हैं : (१) कण्ठिका, (२) रुचक, (३) कुण्डल, (४) शिखामणि, (५) भस्म तथा (६) यज्ञोपवीत। जो अपने शरीर पर इन मुद्रिकाओं को धारण करता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। कालामुखों की यह धारणा है कि ऐहलौकिक और पारलौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए निम्न उपाय हैं—(१) नर-कपाल में भोजन करना, (२) शरीर पर शव की भस्म रमाना, (३) भस्म को खाना, (४) लगुड धारण करना, (५) सुरापात्र रखना तथा (६) सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना। रुद्राक्षमाला, शिर पर जटाजूट, कपाल, शरीर में भस्म लेपन, एवं इसी प्रकार की अन्य बातें शैव शास्त्रों में उल्लिखित हैं। उनका यह भी मत है कि कतिपय विधानों के करने से अन्य जाति के लोग भी ब्राह्मण हो जाते हैं तथा उत्तम गति प्राप्त करते हैं, क्योंकि "साधारण दीक्षा-विधि के तुरन्त बाद व्यक्ति ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत धारण करके व्यक्ति पवित्र सन्त बन जाता है"।

शंकरदिग्विजय (अध्याय १५, श्लोक, १–२८) में माधव ने एक स्थान पर, जो कि टीकाकार के अनुसार उज्जयिनी था, शंकर को कापालिकों से मिलाया है। इस सम्प्रदाय का आचार्य शंकर से मिलने के लिए आया था। उसका शरीर श्मशान से लायी गयी भस्म से लिप्त था। उसके हाथ में नर-कपाल तथा एक लौह यष्टि थी। उसने शंकर से कहा, "तुम्हारे शरीर पर भस्म तो सर्वदा उपयुक्त है।[1] परन्तु पवित्र नर-

---

१. सामान्य शैव भी अपने शरीर पर भस्म की रेखाएँ धारण करते हैं। शंकर के शरीर पर वैसी ही रेखाएँ थीं।

कपाल के स्थान पर तुमने यह अपवित्र मृत्पात्र क्यों ले रखा है ? तुम कपाली भैरव की पूजा क्यों नहीं करते ? रक्त एवं सुरा से रञ्जित नर-कपालों से पूजा किये बिना भैरव कैसे प्रसन्न होंगे ?" तब राजा सुधन्वा (जो शंकर की यात्राओं में उनके साथ थे) और कापालिकों में युद्ध हुआ। शंकर ने उन्हें शाप दिया और उन सबका विनाश हो गया। तब कापालिकों के प्रमुख क्रकच ने शंकर के पास आकर अपने हाथ के कपाल को सुरा से भर दिया, उसका आधा स्वयं पी लिया और अवशिष्ट आधा भाग छोड़ दिया। फिर भैरव का आह्वान किया। भैरव वहाँ पर तुरन्त आये और क्रकच ने उनसे अपने शत्रु का नाश करने की प्रार्थना की। परन्तु चूँकि शंकर तो उन्हीं के अवतार थे, अतः उन्होंने स्वयं क्रकच को मार डाला, शंकर को नहीं। आनन्दगिरि शंकरदिग्विजय में बतलाते हैं कि वे कापालिक जिनसे शंकर उज्जयिनी में मिले थे, भैरव को सर्जन, संहारादि करने वाला मानते हैं। वे सुरापान तथा एक विशेष प्रकार के भोजन (संभवतः घृणित पदार्थ) के द्वारा अपनी ज्ञान-शक्ति के तीक्ष्ण होने तथा सदैव भैरवी से आलिंगित रहने की बात करते हैं। अपने मालतीमाधव में भवभूति ने श्रीशैल को कापालिकों का प्रधान पीठ बतलाया है। वे योगाभ्यास द्वारा अर्जित कापालिकों की तीव्र गति की सिद्धि का उल्लेख करते हैं। एक स्त्री कपालकुण्डला नर-कपालों की माला धारण करती है। वह नाटक की नायिका मालती को उसके पिता के भवन से सोती अवस्था में आधी रात को उठा ले जाती है तथा श्मशान के समीप कराला-चामुण्डा की प्रतिमा के आगे उपस्थित करती है, जहाँ आचार्य अघोरघंट के द्वारा उसका बलिदान किया जाना था।

उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है कि यह सम्प्रदाय कितना भयंकर एवं आसुर था। प्रकृति के बाह्यरूप के द्वारा मानव मस्तिष्क में संचारित भय से रुद्र की वैदिक धारणा का उदय हुआ था, जिसका विकास नरबलि तथा सुरा के नैवेद्य से प्रसन्न होने वाले नर-कपालधारी चण्डिका-भैरव के आदर्श में हुआ। उपर्युक्त विवरण में कापालिकों और कालामुखों में कुछ भ्रान्ति मालूम पड़ती है। रामानुज के विवरण से कालमुख अत्यधिक अतिमार्गी संप्रदाय प्रतीत होता है। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, शिवपुराण में उन्हें महाव्रतधर कहा गया है। यहाँ व्रत की महत्ता इसके असाधारण स्वरूप में है जैसे नर-कपाल में रखा हुआ भोजन खाना, नर-शव की भस्म का शरीर पर लेपन करना इत्यादि, जिनका रामानुज ने कालामुखों के प्रसंग में उल्लेख किया है। किन्तु मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने कापालिक-व्रत की व्याख्या महाव्रत[1] शब्द से की है तथा यह व्याख्या सही मालूम पड़ती है, क्योंकि नासिक के कपालेश्वर मंदिर में रहने वाले यतियों को दानपत्र में महाव्रती कहा गया है। अन्य साक्ष्यों के आधार पर ऊपर दिया गया कापालिकों का वर्णन

---

१. मालतीमाधव (मेरा द्वितीय संस्करण), प्रथम दृश्य, पृष्ठ ३३

अतिशय अतिमार्गी प्रतीत होता है। अतएव ऐसा लगता है कि प्राय: लोग कापालिकों एवं कालामुखों के मध्य सूक्ष्म अन्तर नहीं करते थे।

काश्मीरी शैवमत

मानव बुद्धि एवं भावना की उच्छृङ्खल पथभ्रष्टता के इस दारुण चित्र से अधिक मानवीय तथा युक्तिसंगत काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की ओर मुड़ने में राहत सी मिलती है। काश्मीरी शैवमत की दो शाखायें हैं स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। प्रथम के कर्ता वसुगुप्त एवं उनके शिष्य कल्लट बतलाये जाते हैं। इस संप्रदाय के दो मुख्य ग्रन्थ हैं शिवसूत्रम् या शिवसूत्राणि तथा स्पन्दकारिका, जिसमें केवल ५१ श्लोक हैं। कहा जाता है कि स्वयं शिव अथवा एक सिद्ध ने वसुगुप्त को शिवसूत्रों का दर्शन कराया था। ये सूत्र महादेव-पर्वत की एक शिला पर उत्कीर्ण थे। शिव ने वसुगुप्त को उस शिला का दर्शन कराया था। दूसरा विवरण यह है कि भगवान् शिव ने स्वप्न में उनका प्रकाशन किया था। एक अन्य विवरण में भी इनके प्रकाशन का श्रेय एक सिद्ध को प्रदान किया गया है। इन अन्तिम दो घटनाओं को महादेव पर्वत में घटित बतलाया गया है। स्पन्दकारिका के बारे में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की परम्पराएँ हैं, एक में कारिकाओं का कर्ता वसुगुप्त को बतलाया गया है, दूसरे में कल्लट को। एक तीसरी परम्परा है कि कल्लट ने इस मत का ज्ञान वसुगुप्त से प्राप्त किया एवं अपने शिष्यों की शिक्षा के लिए स्पन्दकारिकाओं की रचना की। इसमें कुछ सत्य प्रतीत होता है।[१] शिवसूत्रों के सम्बन्ध में उपर्युक्त परम्परा का जिसमें वसुगुप्त को सीधा उनका कर्त्ता नहीं बतलाया गया, क्या अर्थ है, यह कहना कठिन है। सम्भवत: मूल कृति स्पन्दकारिका थी और शिवसूत्र आगे चलकर प्राचीन शैली में लिखे गए। वसुगुप्त सम्भवत: उन सूत्रों की रचनाकाल के आस पास हुए थे और लोगों में अपने कार्यों के कारण प्रसिद्ध हो गये थे। लोग वसुगुप्त के साथ नये सूत्रों का कर्तृत्व न जोड़कर सूत्रों की अद्भुत उत्पत्ति मानने लगे। उनमें यह परम्परा प्रचलित हो गयी कि वसुगुप्त ने इन सूत्रों को प्राप्त किया था।

कल्लट अवन्तिवर्मन् ८५४ ई[२] के शासन काल में हुए थे, अतएव उनके गुरु की साहित्यिक क्रियाशीलता नवम शतक के प्रारम्भ में निर्धारित की जानी चाहिये। इस संप्रदाय के अनुयायी जगत्-रचना के निमित्त कर्म सदृश किसी प्रेरक कारण अथवा प्रधान जैसे उपादान कारण की आवश्यकता का दृढ़ता से खण्डन करते हैं। वे न तो यह मानते हैं कि ईश्वर उपादान कारण है, जैसा वेदान्तियों का मत है,

---

१. इन विविध परम्पराओं के लिए द्रष्टव्य मेरी 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, १८८३–८४, पृ० ७७

२. बूह्लर, रिपोर्ट ऑफ ए टूर मेड इन कश्मीर, पृ० ७८

और न उनका यही विचार है कि माया अथवा भ्रम उन प्रतीतियों को उत्पन्न करता है, जो कि असत्य हैं। उनके अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र है तथा अपनी इच्छा-शक्ति से ही समस्त पदार्थों का सर्जन करता है। वह स्वयं में जगत् को इस तरह प्रतिभासित करता है जैसे कि जगत् उससे भिन्न हो, यद्यपि वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसे भवन या नगर दर्पण में प्रतिबिंबित होते हैं किन्तु दर्पण उनसे प्रभावित नहीं होता, इसी प्रकार अपने में प्रतिभासित जगत् से ईश्वर अप्रभावित रहता है। वह उस रूप में भी नहीं है जैसा कि जगत् में देखते हैं। अतएव वह जगत् का उपादान कारण नहीं है। एक श्लोक में, जो वसुगुप्त का बतलाया जाता है शूलिन् या शिव की इस प्रकार वन्दना की गई है, "जो बिना किसी भित्ति (आधार) के (शून्य में) बिना उपकरण-समूह का सहारा लिए, इस विचित्र संसार की रचना करता है, कलाओं के स्वामी उस शूलधारी को मैं प्रणाम करता हूँ।[1]

बिना किसी उपादान या प्रेरक कारण के ही सृष्टि का उन्होंने एक अन्य उदाहरण दिया है। वह बिना सामग्री के अपनी इच्छा मात्र से ही पदार्थों की सृष्टि करने वाले योगी का उदाहरण है। अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा स्वयं महेश्वर अनेक जीवों के रूप में प्रकट होते हैं तथा अन्य शक्ति द्वारा उस स्थिति को अस्तित्व में लाते हैं, जिससे हमारे जीवन की जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थायें बनती हैं।[2] इस प्रकार इस मत के अनुसार जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। परन्तु मल के कारण जीव इस अभेद का दर्शन नहीं कर पाता। यह मल तीन प्रकार का होता है। जब कोई जीव (आत्मा) अज्ञान के कारण अपने मुक्त एवं विश्वव्यापी स्वरूप को भूलकर स्वयं को अपूर्ण समझता है एवं शरीरादि वस्तुओं को, जो आत्मा नहीं हैं, आत्मा मानता है और इस प्रकार स्वयं को परिमित कर देता है, तब यह मल आणव कहलाता है। जब वह मायानिर्मित शरीर में रहता है तब उस मल को मायीय कहते हैं। जब अन्तःकरण के प्रभाव से कर्मेन्द्रियाँ क्रियारत हो जातीं हैं तब उस मल को कार्म कहते हैं उदाहरणार्थ सुख-दुख को जन्म देने वाले अच्छे या बुरे कर्म करने का अहम्।[3] इन अनेक प्रकार के मलों को संचालित करने वाला नाद है, जो शिव की आद्या शक्ति है और जिससे वाक् का उदय होता है। बिना वाक् के लोकव्यापार को सम्भव बनाने वाले विचार स्थिर नहीं रह सकते और न रूप ही

---

१. माधव, सर्वदर्शनसंग्रह, प्रत्यभिज्ञादर्शन। यह श्लोक काव्यप्रकाश के चतुर्थ अध्याय में भी मिलता है। अलंकारशास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी इसे उद्धृत किया है।

२. द्रष्टव्य मेरी रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, १८८३-८४, पृ० ८०, पाद टिप्पणी १

३. क्षेमराज, शिवसूत्रविमर्शिनी, सूत्र १, २, ३, (काश्मीर सरकार द्वारा प्रकाशित)

ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए वाक् तत्त्व मल का प्रभाव है और सांसारिकता की ओर ले जाता है। इस शक्ति के साथ अन्य शक्तियाँ जैसे अम्बा, वामा, रौद्री, ज्येष्ठा भी सन्बन्धित हैं।[१] जब गहन ध्यान से चित्त में परम सत्ता का दर्शन होता है, तब मल तिरोहित हो जाता है और सम्पूर्ण चिन्तन विलीन हो जाता है। जब इस स्थिति में स्थिरता आ जाती है, जीव स्वतन्त्र हो जाता है और स्वयं परमात्मा हो जाता है। दर्शन के उदय को भैरव कहते हैं, क्योंकि दर्शन उन्हीं का होता है और वही देते है।[२]

काश्मीरी शैवमत के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के संस्थापक सोमानन्द थे, जिनकी कृति का नाम शिवदृष्टि है। परन्तु इस दर्शन के प्रमुख ग्रंथ की रचना उनके शिष्य उदयाकर ने की थी। इसके सूत्रों पर सोमानन्द के प्रशिष्य अभिनवगुप्त की विस्तृत टीकाएँ हैं।[३] अभिनवगुप्त ने ९९३ ई० एवं १०१५ ई०[४] के बीच में लिखा है, जिससे कि सोमानन्द को दशम शतक के पूर्वार्ध में माना जाना चाहिए।

इस दर्शन में सृष्टि तथा जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में वही सिद्धान्त हैं, जो स्पन्दशास्त्र में मिलते हैं। परन्तु इस दर्शन में 'यह वही है' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। एक उपनिषद्-वचन है कि जब वह प्रकाशित होता है तब सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं एवं उसके प्रकाश द्वारा प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है[५]। इस प्रकार हमारी ज्ञान-शक्ति वही है जो ईश्वर की है तथा इससे वाह्य प्रत्येक वस्तु उसकी प्रकाशक शक्ति द्वारा ज्ञेय बन जाती है। चूँकि हम ज्ञानसंपन्न एवं क्रियाशील हैं, अतः हम ईश्वर के अंश हैं। परन्तु इस अंश को सीमा में बाँधने के लिए कोई तर्क नहीं है, अतएव यह समझना चाहिए कि हम साक्षात् ईश्वर हैं। परन्तु अपनी वर्तमान स्थिति में हमें ईश्वर के लक्षण, ज्ञान एवं उत्कर्ष का बोध नहीं होता और इस कारण हम सब इस बात की प्रत्यभिज्ञा नहीं कर पाते कि हम ईश्वर हैं, यद्यपि हम वस्तुतः ईश्वर हैं। जैसे कोई कामिनी, किसी युवक के गुणों के

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी, सूत्र ४; स्पन्दप्रदीपिका, श्लोक ४२। मल और नाद के इन अनेक प्रकारों की तुलना शैव-दर्शन के पाशों (मल, कर्म, माया और रोध शक्ति) से की जा सकती है (द्रष्टव्य सर्वदर्शनसंग्रह)। यहाँ पर मल शैवदर्शन के पाश के लिए प्रयुक्त हुआ है और आणव मल के लिए। शम्भुदेव ने भी इसको आणव कहा है।

२. शिवसूत्रविमर्शिनी १, ५

३. बूलर, रिपोर्ट ऑफ ए टूर मेड इन कश्मीर, सं० ४६५-६६ का अनुच्छेद, पृ. १६०

४. वही, पृ. ८१–८२

५. कठ० उ० ५, १५; श्वे० उ० ६, १४; मु० उ० २, २, १०

विषय में सुनकर प्रेम से पीड़ित हो और कभी उस युवक को देखे तो न पहचानने के कारण उसे सामान्य व्यक्ति की तरह देखती है और आनन्दित नहीं होती, परन्तु जब उसे बतलाया जाता है कि यही वह व्यक्ति है जिसके गुणों ने उसे इतना मोहित कर रखा है, तब वह आनन्दित हो उठती है एवं उसे आत्म-समर्पण कर दे देती है। यही बात जीवात्मा के बारे में भी है। जीव ईश्वर के स्वरूपगत विशुद्ध आनन्द का अनुभव नहीं करता, यद्यपि वह स्वयं ईश्वर है क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि वे उच्च गुण, जो ईश्वर में होते हैं, उसमें भी विद्यमान हैं। परन्तु जब उसका गुरु उसे यह विश्वास दिलाता है कि वह उन गुणों से युक्त है अर्थात् जब गुरु के उपदेशों से अपने में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा करने में सक्षम हो जाता है तब प्रशान्त आनन्द उसके अन्दर उदित होता है। स्पन्द-दर्शन के अनुसार ध्यान की अवस्था में मन में भैरव का दर्शन होने पर तब मल नष्ट हो जाते हैं और मल का नष्ट हो जाना ही ईश्वर के साथ अभेद की अनुभूति का मार्ग है, परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन इस बात को मानता है कि ईश्वर के साथ अभेद की अनुभूति का एकमात्र मार्ग स्वयं में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा है।

माधव के अनुसार ये दोनों मत प्राणायाम इत्यादि तथा आभ्यन्तर और वाह्य नियमों के विलक्षण मार्ग का विधान नहीं करते, जिन्हें अन्य मतों ने आवश्यक माना है। स्पष्ट रूप से ये दोनों संप्रदाय, उस प्राचीन पारम्परिक शैव-धर्म से अलग हो गए हैं, जिसका विकास शनैः शनैः कापालिक या कालमुख संप्रदायों के रूप में हुआ। इसीलिए किसी भी अर्थ में उनके लिए पाशुपत या लाकुल विशेषण लागू नहीं किया जा सकता। अतएव वसुगुप्त को एक अभिनव शास्त्र के दर्शन होने की कल्पना की गयी, यद्यपि अधिक गम्भीर शैव सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों स्पन्दशास्त्र में निहित थे।

वीरशैव या लिङ्गायत संप्रदाय

इस सम्प्रदाय की स्थापना आराध्य सम्प्रदाय के एक ब्राह्मण मादिराज के पुत्र बसव द्वारा बतलायी जाती है। उसकी कथा बसवपुराण[१] में दी गई है, जो १९०५ ई० में पूना से प्रकाशित हुआ था। इस कथा से किसी भी तरह यह बात सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने सिद्धान्तों को स्थिर करके इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। किन्तु वे इस सम्प्रदाय के कट्टर समर्थक थे। बसवपुराण के प्रारम्भ में बतलाया गया है कि नारद शिव के समीप गए तथा उनसे बोले कि पृथ्वी पर विष्णु के भक्त, यज्ञ-धर्म के अनुयायी, जैन एवं बौद्ध सभी हैं परन्तु आपके भक्त वहाँ पर नहीं हैं। समय-समय पर विश्वेश्वराराध्य, पण्डिताराध्य, महायोगी एकोराम आदि हुए और उन्होंने शिवभक्ति

---

१. बसवपुराण तथा लिंगायत संप्रदाय के अन्य बहुत से ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के एक प्रभावशाली और विद्वान् सदस्य शोलापुरवासी स्वर्गीय श्री मल्लाप्पा वारद के संरक्षण में प्रकाशित हुए थे।

प्रतिष्ठित की, परन्तु सम्प्रति कोई भी नहीं है। इस पर शिव ने कहा कि मैं अपने धर्म की समुन्नति तथा वीरशैवों के प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त पृथ्वी पर अवतार लूँगा। इस सबसे ऐसा नहीं लगता कि बसव इस सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। कुछ लोग उनके भी पूर्ववर्ती थे, जिनमें से तीन के नाम अभी-अभी दिए जा चुके हैं। उनका जीवन राजनैतिक द्वन्द्व का था। अपने जन्मस्थान बागेवाड़ी से वे कल्याण गए, उस समय बिज्जल या विज्जण का शासन था (११५७–११६७ ई०)। बसव के मामा बलदेव राजा के मन्त्री थे, जिनकी मृत्यु के उपरान्त उन्हें वह पद दे दिया गया। बसव की बहन से, जो बड़ी सुन्दर थी, राजा ने विवाह किया। बसव राजा के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने जङ्गम नामक लिङ्गायत यतियों की सहायता एवं सेवा में प्रचुर सम्पत्ति का व्यय किया। जब यह बात राजा विज्जण को मालूम हुई, वे शनैः शनैः उनसे विरक्त होते गए और अन्त में उन्हें कैद करने के लिए उद्यत हो गये। बसव भाग खड़े हुए। राजा ने उनकी खोज में कुछ लोग भेजे। बसव ने इन लोगों को सरलता से पराजित कर दिया। तब राजा स्वयं अपनी सेना सहित उन्हें दण्डित करने को चल पड़े, परन्तु बसव ने बड़ी संख्या में अपने अनुचर एकत्रित कर लिए थे और वे राजा को पराजित करने में सफल हो गए। राजा ने बसव से सन्धि कर ली और उन्हें कल्याण वापस ले आये। परन्तु उनमें सच्ची सन्धि नहीं हो सकी और कुछ समय बाद बसव ने राजा की हत्या करवा दी।

विज्जलरायचरित नामक एक जैन ग्रन्थ में बसव और विज्जण के साथ उसके सम्बन्धों का विवरण दिया गया है। यह कृति बसव के शत्रु के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इसमें बसव की भगिनी का राजा को दिए जाने का भी उल्लेख है, जो कि सम्भवतः सत्य है। लिङ्गायत एव जैन विवरणों में मुख्य बातों में ऐक्य है, अतः उन बातों को ऐतिहासिक माना जा सकता है।[१] इस प्रकार बसव युक्तिमान् राजनीतिज्ञ थे, किन्तु वे एक नवीन संप्रदाय के प्रवर्तक शायद ही रहे हों। इसके अतिरिक्त उपलब्ध अनेक लिङ्गायत कृतियों में उनका उल्लेख किसी भी विषय के उपदेशक के रूप में नहीं किया गया है। अतएव ऐसा लगता है कि उन्होंने केवल वीरशैव मत के उन्नयन और प्रचार के लिए अपने राजनैतिक प्रभाव का उपयोग किया। डा० फ्लीट कतिपय अभिलेखों के आधार पर एक अन्य व्यक्ति एकान्त या एकान्तद रामय्या को लिङ्गायत संप्रदाय का संस्थापक बतलाते हैं। बसव-पुराण के उत्तरार्ध में भी इस व्यक्ति का विवरण दिया गया है। इस विवरण एवं अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति जैनमतानुयायियों का शत्रु था तथा उनके देवता एवं देवायतन विनष्ट करना चाहता था। उसने उन लोगों के साथ शर्त लगायी

---

१. लिंगायत संप्रदाय के विवरण के लिए द्रष्टव्य बसवपुराण, पूना से प्रकाशित; बसवपुराण का अनुवाद, जे०बी०बी०आर०ए०एस०, भाग ८

थी कि मैं अपना शिर काट कर शिव के चरणों पर रख दूँगा तथा यदि वह शिर फिर यथास्थान जुड़ जाए तो जैनों को अपनी देव प्रतिमाएँ फेंककर शैव-धर्म स्वीकार कर लेना होगा। एक अभिलेख के अनुसार यह काम सर्वप्रथम अबलूर में उस जगह किया गया जहाँ पर कि अभिलेख स्थित है, और जब रामय्या ने जैनों को उनकी प्रतिमाएँ विनष्ट करने के लिए बाध्य किया तो वे कल्याण गए और राजा विज्जण से इस बात की शिकायत की। इस पर उस राजा ने रामय्या को अपने सामने बुलवाया तथा पूछा कि उसने ऐसा क्यों किया ? रामय्या ने राजा के सामने प्रस्ताव किया कि उसका शिर काट लिया जाय और वह पुनः जुड़ जायेगा। बसवपुराण के अनुसार जब रामय्या ने यह बाजी लगायी उस समय वहाँ पर बसव भी उपस्थित थे। इस प्रकार रामय्या द्वारा केवल जैन धर्म को गिराने का वर्णन है, वीरशैव धर्म के स्थापित करने का नहीं।

जहाँ तक दीक्षा का प्रश्न है, जब व्यक्ति गुरु या आचार्य का वरण करता है, जल से परिपूर्ण चार कलशों को चार दिशाओं में तथा एक कलश को मध्य में रखते हैं। मध्य में स्थित कलश गुरु या आचार्य का होता है, जो विश्वाराध्य नामक एक प्राचीन आचार्य का प्रतिनिधि माना जाता है। चार अन्य कलश अन्य चार पुरोहितों के होते हैं, जो रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, एकोराम एवं पण्डिताराध्य के संप्रदायों के होते हैं तथा मठों से सम्बद्ध रहते हैं[१]। एक अन्य ग्रन्थ में भी यही सूची दी गयी है[२]। पाँच कलश शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान इन पाँच मुखों या स्वरूपों के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऊपर जिनके नाम दिए गए हैं वे आचार्य इस कलियुग में शिव के पाँच रूपों से उद्‌भूत माने जाते हैं।[३] अन्य युगों में उत्पन्न आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। इन पाँच आचार्यों में से कम से कम तीन का उल्लेख इस खण्ड के प्रारम्भ में बसव से पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में किया गया है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि वीरशैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय बसव से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुका था। इसका सम्बन्ध शैवधर्म के अधिक संयत और गंभीर सम्प्रदाय शैवदर्शन अथवा सिद्धान्तदर्शन से था। परन्तु इस सम्प्रदाय के स्थल, अङ्ग, लिङ्ग आदि पारिभाषिक शब्द तथा विचार शैव सम्प्रदाय के विचारों से (जिस रूप में माधव आदि ने व्याख्या की है) पूर्णतया भिन्न हैं। ये पारिभाषिक शब्द हमें अन्यत्र नहीं मिलते अतएव यह एक आधुनिक सम्प्रदाय है। यह कब उत्पन्न हुआ, कहना कठिन है। परन्तु बसव के समय में यह सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से प्रबल था। अतएव इस सम्प्रदाय का जन्म लगभग सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा।

---

१. विवेकचिन्तामणि, पूर्वभाग, शोलापुर, १९०९, पृ० २३० तथा आगे।

२. वीरशैवाचारप्रदीपिका, पूना, १९०५ ई०, पृ० ३३-३७

३. पंचाचार्यपंचमोत्पत्तिप्रकरण, बम्बई, १९०३ ई० पृ० १

उपर्युक्त पांच आचार्यों में से कम से कम दो के नाम आराध्य शब्दान्त है, जब कि अन्य ग्रन्थों में पाँचों आचार्यों के नामों के साथ यह उपाधि लगायी गयी है।[1] यह लिङ्गायतों से सम्बद्ध एक सम्प्रदाय का नाम था।

पाँच कलश जिन पाँच आचार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें से मध्यवर्ती आचार्य का उल्लेख ब्राउन[2] महोदय ने नहीं किया तथा अन्य चारों को उन्होंने 'आराध्य' कहा है। अतएव दीक्षा एवं अन्य संस्कारों के समय पूजित होने वाले पाँचों आचार्य आराध्य संप्रदाय के हैं, जो ब्राउन महोदय के अनुसार वीरशैव मत का एक सम्प्रदाय है। आराध्यों एवं सामान्य लिङ्गायतों में काफी दुर्भावना रही है। इसका कारण संभवतः यह है कि आराध्यों ने गायत्री मन्त्र, यज्ञोपवीत जैसे कतिपय ब्राह्मण विधानों को अपना लिया था। परन्तु स्वयं आराध्य नाम यह प्रदर्शित करता है कि दोनों शाखाओं में कलह उत्पन्न होने से पूर्व आराध्य अत्यधिक सम्मानित थे। इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि आराध्यों ने, जो विद्वान् और सदाचारी रहे होंगे, वीरशैव संप्रदाय को स्वरूप प्रदान किया तथा बसव जैसे बाद के सुधारकों ने उसे कट्टर एवं ब्राह्मण-विरोधी बना दिया। इस प्रकार वीरशैव-मत की ये दो शाखायें अस्तित्व में आयीं। अब हम इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

सच्चिदानन्दमय अद्वितीय परम ब्रह्म शिवतत्त्व है, जो स्थल कहलाता है। स्थल नाम की व्याख्यायें भी की गयी हैं। इनमें से दो व्याख्यायें कृत्रिम व्युत्पत्ति पर आधारित हैं। महत् आदि परम ब्रह्म या शिवतत्त्व में स्थित हैं तथा उसी में लीन भी हो जाते हैं। इसमें प्रकृति एवं पुरुष से समुद्भूत विश्व सर्वप्रथम स्थित होता है और सबके अन्त में लय हो जाता है। अतएव इसे स्थल कहते हैं (प्रथम भाग 'स्था' स्थानवाचक है तथा द्वितीय भाग 'ल' लयवाचक है)। इसका नाम स्थल इसलिये भी रखा गया है कि यह समस्त चराचर जगत् का आधार है और समस्त शक्तियों, समस्त प्रकाश पुंजों एवं समस्त आत्माओं को धारण करता है। यह समस्त प्राणियों, समस्त लोकों एवं समस्त सम्पत्तियों का आश्रय है। यह परमानन्द चाहने वाले पुरुषों के लिए परमपद है, अतएव यह एक तथा अद्वैत स्थल कहलाता है। अपनी शक्ति में क्षोभ उत्पन्न होने पर वह स्थल दो में विभक्त हो जाता है: (१) लिङ्गस्थल, (२) अङ्गस्थल। लिङ्गस्थल शिव या रुद्र है तथा वह पूजनीय या उपासनीय है। अङ्गस्थल पूजक या उपासक जीवात्मा है। इसी प्रकार शक्ति अपनी इच्छा से स्वयं दो भागों में विभक्त होती है। एक भाग शिव पर आश्रित है एवं कला कहलाता है तथा जीवात्मा पर आश्रित दूसरा भाग भक्ति कहलाता है। शक्ति में एक

---

१. पंचाचार्यपंचमोत्पत्तिप्रकरण, बम्बई, १९०३ ई०, पृ० ३५

२. मद्रास जरनल ऑफ लिटरेचर एन्ड साइन्स, भाग ११

प्रकार की ग्रहणशीलता रहती है, जो उसे क्रियारत करती है तथा जगत् से संलग्न कर देती है। भक्ति ग्रहणशीलता से मुक्त है। वह कर्म एवं जगत् से पराङ्मुख करती है और मुक्ति प्रदान करती है। शक्ति से अद्वय शिव पूजनीय बनते हैं, और भक्ति से जीव पूजक बनता है। अतएव शक्ति लिङ्ग या शिव में स्थित है तथा भक्ति अङ्ग या जीवात्मा में। इसी भक्ति द्वारा जीव तथा शिव का संयोग होता है।

लिङ्ग साक्षात् शिव है, उनका बाह्य चिह्न मात्र नहीं। लिङ्ग-स्थल के तीन भेद हैं : (१) भावलिङ्ग, (२) प्राणलिङ्ग तथा (३) इष्टलिङ्ग। भावलिङ्ग कलाओं से रहित है तथा श्रद्धा द्वारा देखा जा सकता है। यह देश-काल से अपरिच्छिन्न है सूक्ष्म है तथा परम से भी परे है। प्राणलिङ्ग मनोग्राह्य है तथा सकल एवं निष्कल भेद से दो प्रकार का है। इष्टलिङ्ग भी सकल और निष्कल है, किन्तु चक्षुर्ग्राह्य है। वह इष्ट इसलिए कहलाता है कि वह समस्त इष्ट पदार्थों को प्रदान करता है और क्लेशों का अपनयन करता है अथवा बड़ी सावधानी के साथ पूजित होता है। प्राणलिंङ्ग परमात्मा का चित् है तथा इष्टलिङ्ग आनन्द है। भावलिङ्ग परम तत्त्व है, प्राणलिङ्ग सूक्ष्म रूप है तथा इष्टलिङ्ग स्थूल रूप है। तीनों लिङ्ग आत्मा, चैतन्य एवं स्थूल रूप हैं। ये तीनों लिङ्ग क्रमशः प्रयोग, मन्त्र एवं क्रिया से विशिष्ट होकर कला, नाद और बिन्दु का रूप धारण करते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं, भावलिङ्ग के महालिङ्ग एवं प्रसादलिङ्ग, प्राणलिङ्ग के चरलिङ्ग एवं शिवलिङ्ग तथा इष्टलिङ्ग के गुरुलिङ्ग एवं आचारलिङ्ग। छह प्रकार की शक्तियों से संचालित होकर छह लिङ्ग निम्नलिखित छह रूपों को उत्पन्न करते हैं[1]। (१) जब शिव-तत्त्व चित् शक्ति द्वारा संचालित होता है तब महालिङ्ग का उद्‌भव होता है। वह जन्म मृत्यु से परे निर्मल, पूर्ण, एक, सूक्ष्म, परात्पर, अक्षय, अगाध, भक्ति एवं अनुराग द्वारा ग्राह्य तथा चैतन्यरूप है। (२) जब शिव-तत्त्व अपनी पराशक्ति से संचालित होता है तब सादाख्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जो प्रसादलिङ्ग कहलाता है। वह लघु, नित्य, अविभाज्य, इन्द्रियागोचर, धीगम्य, अविनाशी तथा विकसित होने वाला मूलतत्त्व है। (३) जब शिव-तत्त्व अपनी आदि-शक्ति द्वारा संचालित होता है तब चरलिङ्ग की उत्पत्ति होती है। वह अनन्त है, आभ्य-न्तर एवं बाह्य जगत् में व्याप्त है, तेज से परिपूर्ण है, पुरुष है, प्रधान या प्रकृति से उत्तम (पर) है तथा केवल मनोग्राह्य है। (४) इच्छा शक्ति से संचालित होकर

---

१. शिवतत्त्व तथा उनकी 'परा' और 'आदि' शक्तिया के योग से सादाख्य की उत्पत्ति होती है। सादाख्य पाँच हैं :—(१) शिव सादाख्य, जिसका सदाशिव के रूप में विकास होता है; (२) अमूर्त्त, जो ईश बनता है; (३) समूर्त्त, जो ब्रह्मेश के रूप में विकसित होता है; (४) कर्त्ता, जो ईश्वर बनता है; (५) कर्म, जो ईशान रूप धारण करता है। उपर्युक्त ग्रन्थ में उल्लिखित सादाख्य सदाशिव प्रतीत होते हैं।

शिवतत्त्व शिवलिङ्ग को उत्पन्न करता है, जो एकमुख है। वह अहंकारयुक्त, ज्ञानवान्, कलावान्, दिव्याभ, तथा शान्त अनन्त तत्त्व है (५)। ज्ञानशक्ति से संचालित शिवतत्त्व गुरुलिंग को उत्पन्न करता है। वह कर्तृत्व युक्त है, प्रत्येक मत अथवा शास्त्र का अधिष्ठाता है, तेजोमय है, आनन्द का असीम सागर है तथा मानव बुद्धि में निवास करता है। (६) क्रिया-शक्ति से प्रभावित होने पर वह आचारलिङ्ग कहलाता है, जो कि क्रिया के रूप में समस्त वस्तुओं के अस्तित्व का आधार है, मनोग्राह्य है तथा संन्यास की ओर ले जाता है।

मूल सत्ता अपनी अन्तरंग शक्ति द्वारा ईश्वर एवं जीवात्मा में विभक्त हो जाती है तथा ईश्वर के उपर्युक्त छह रूप ईश्वर को देखने के विभिन्न मार्ग हैं। प्रथम स्वरूप अनन्त सत्ता का है जो स्वतन्त्र है। द्वितीय स्वरूप वह है, जिसकी हम अपनी पराशक्ति द्वारा वर्धित होते हुए या सृष्टि करते हुए कल्पना करते हैं। तृतीय स्वरूप वह है, जिसकी कल्पना भौतिक जगत् से भिन्न रूप में की जाती है। चतुर्थ स्वरूप शरीर है, परन्तु शरीर अप्राकृत अथवा दिव्य है जैसा कि वैष्णवों के नारायण या कृष्ण का है। पाँचवाँ स्वरूप वह है, जिसमें वह मानव जाति को उपदेश देता है। छठे स्वरूप में वह तब तक जीवात्मा से समस्त कर्मों का निर्देशन करता है जब तक जीवात्मा मुक्त नहीं हो जाता। इस स्वरूप में शिव समुद्धर्ता हैं।

भक्ति जीवात्माओं की विशेषता है। इसमें ईश्वराभिमुखी प्रवृत्ति होती है, जिसकी तीन अवस्थाएँ हैं। इन्हीं के अनुरूप अङ्गस्थल के भी तीन विभाग हैं। प्रथम योगांग, द्वितीय भोगांग तथा तृतीय त्यागांग कहलाता है। योगांग द्वारा मनुष्य शिव-सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करता है, भोगांग द्वारा वह शिव के साथ भोग करता है तथा त्यागांग में क्षणभङ्गुर या भ्रमरूप जगत् का परित्याग करता है। योगांग का संबंध कारण में लय हो जाने तथा सुषुप्ति की स्थिति से है, भोगांग का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर एवं स्वप्न से है तथा त्यागांग स्थूल शरीर एवं जाग्रत् स्थिति से सम्बद्ध है। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद किये गये हैं। योगांग के ऐक्य या शरण नामक दो भेद मिलते हैं। समस्त जगत् के मिथ्यात्व का बोध हो जाने पर शिव के आनन्दों में सम्मिलित होना ऐक्य है। इसे समरसा भक्ति कहते हैं, जिसमें ईश्वर एवं आत्मा आनन्दानुभूति में एक हो जाते हैं। द्वितीय को शरणभक्ति कहते हैं, जिसमें पुरुष अपने अन्दर तथा सर्वत्र लिंग या ईश्वर का दर्शन करता है। यह स्वयं के लिए आनन्द की स्थिति है। शरणभक्ति भी दो प्रकार की है: (१) प्राणलिंगी, एवं (२) प्रसादी। पहले में जीवन के प्रति समस्त अनुरक्तियों का परित्याग, अहंकार का परित्याग तथा लिंग या शिव में पूर्णतया मन का लगा देना सम्मिलित हैं। द्वितीय की अनुभूति तब होती है जब व्यक्ति लिङ्ग या महेश्वर के लिए समस्त भोग्य पदार्थों का परित्याग कर देता है तथा उसे प्रसाद प्राप्त हो जाता है। त्यागांग के माहेश्वर एवं भक्त दो विभाग हैं। माहेश्वर वह है जिसे ईश्वर की सत्ता में दृढ़ विश्वास है

और जो व्रतों एवं नियमों की चर्या और सत्य, नैतिकता, पवित्रता आदि का अनुसरण करता है तथा लिंग या शिव की एकता में दृढ़ विश्वास रखने का कठोर व्रत धारण करता है। भक्त वह है जो आकृष्ट करने वाले समस्त पदार्थों की ओर से अपना मन मोड़ कर तथा भक्ति एवं विधियों का आचरण करता हुआ जगत् के प्रति उदासीन रहता है।[१]

यहाँ आत्मा की प्रगति की उत्तरोत्तर अवस्थायें बतलायी गयी हैं। संसार के प्रति उदासीनता प्रथम सोपान है। तब विपर्यस्त क्रम से मध्यवर्ती अवस्थाओं से होते हुए आत्मा सामरस्य तक पहुँचती है जो उच्चतम अवस्था है। इस प्रकार यहाँ पर निर्दिष्ट लक्ष्य परमात्मा एवं जीवात्मा में पूर्ण अभेद हो जाना या अहंकार को त्याग कर तथा अपनेपन का ज्ञान न रखते हुए मात्र आत्मा बन जाना नहीं है, जैसा कि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में है। शिव-तत्त्व अपनी अन्तर्वर्तिनी शक्ति द्वारा लिंग या ईश्वर तथा अंग या जीवात्मा में विभक्त हो गया और अन्य शक्तियों के प्रभाव द्वारा जगत् का रचयिता बन गया। इस मान्यता से प्रकट होता है कि वीरशैव सम्प्रदाय का सिद्धान्त यह है कि सृष्टि के बीज स्वयं ईश्वर में उसकी वास्तविक शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। अतएव यह सिद्धान्त रामानुज के सिद्धान्त से मिलता है। परन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर आत्मा तथा वाह्य जगत् के मूलतत्त्वों से विशिष्ट है, जो वास्तविक हैं और बाद में विकसित होते हैं, जब कि वीरशैवों के मत में ईश्वर में केवल एक शक्ति विद्यमान है और उसी से सृष्टि होती है। इस प्रकार वीरशैवों के अनुसार ईश्वर उस शक्ति से विशिष्ट है, जबकि रामानुज के अनुसार मूलतत्त्व से। अतएव लिंगायत सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत का पोषक है। यह भी द्रष्टव्य है कि इस सम्प्रदाय ने भक्ति तथा सामरस्य-प्राप्ति पर्यन्त नैतिक एवं आध्यात्मिक चर्या को मुक्ति का मार्ग बतलाया है। इस विषय में भी यह संप्रदाय रामानुज-मत से मिलता है।

वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार श्रीकण्ठशिवाचार्य का भी यही मत है। वे १, ४, २२ पर लिखते हैं कि जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले आत्मा शब्द का व्यवहार बृ. उ. (४, ५, ६) में परमात्मा के निमित्त किया गया है, क्योंकि परमात्मा जीवात्मा का अन्तर्यामी है तथा इस अर्थ में प्रत्येक वस्तु से अभिन्न है। २, २, ३८ पर वे कहते हैं कि शक्तिमान् शिव जगत् के उपादान कारण हैं। ४, ४, ३-४ पर अपने भाष्य में वे मुक्तात्मा को परमात्मा के समान अर्थात् परमात्मा के गुणों से युक्त बतलाते हैं। ४, ४, २ पर वे मुक्तात्मा को समरस कहते हैं। इस प्रकार श्रीकण्ठ का मत वीरशैवों के मत से अभिन्न प्रतीत होता है।

---

(१) यह मयिदेव के अनुभवसूत्र (शोलापुर, १९०९) के विवरण का सारांश है।

पाशुपत आदि चार प्राचीन सम्प्रदाय द्वैतवादी हैं और उनके विपरीत ये तीन शैव सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

लिंगायतों का सर्वोत्कृष्ट वर्ग उन लोगों का है जो कि अपने को लिंगि ब्राह्मण कहते हैं, लिङ्ग धारण करने वाली अन्य जातियाँ या वर्ग उनके अनुयायी मात्र हैं। लिंगि ब्राह्मणों के आचार्य एवं पञ्चम दो मुख्य वर्ग हैं। इनके बारे में यह पौराणिक विवरण प्राप्त होता है। मूल रूप से आचार्य पाँच थे। वे शिव के सद्योजात आदि पूर्वोल्लिखित मुखों से निकले थे। ये वही हैं जिनका उल्लेख दीक्षा विधि के अवसर पर कलशों के प्रसंग में ऊपर किया जा चुका है। इन पाँचों से वर्तमान समस्त आचार्य-वर्ग उत्पन्न हुआ। इन पाँचों के वीर, नन्दी वृषभ, भृंगी तथा स्कन्द ये पाँच गोत्र हैं। ये मूल रूप में शिव के ही समान श्रेष्ठ थे। शिव के ईशान मुख से गणेश्वर निकले, जिनके कि पाँच वक्त्र हैं। इन पाँच वक्त्रों से पाँच पंचमों का उदय हुआ, जो मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि एवं वेदारि कहलाते थे। पाठक को याद होगा कि ये वस्तुतः शिव के ही नाम थे जो उन्हें कतिपय कर्मों के कारण दिये गये थे। इनसे उपपंचमों का उदय हुआ। प्रत्येक पंचम को पाँच आचार्यों में से किसी एक के साथ गुरु के रूप में सम्बन्ध जोड़ना होता है। गुरु का गोत्र उसका गोत्र होता है तथा एक ही गोत्र के सदस्यों में विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता। इन पंचमों का अपना गोत्र, अपना प्रवर तथा अपनी शाखाएँ हैं। इस प्रकार ऐसा लगता है कि लिंगायतों ने ब्राह्मणों की व्यवस्था का अनुकरण किया था। पंचमों को शिव का वास्तविक भक्त कहा गया है।[1] सामान्य विवरण के अनुसार लिंगायत चार श्रेणियों में विभक्त हैं: (१) जंगम, (२) शीलवन्त, (३) वणिक् (४) पंचमशाली। इनमें से शीलवन्त तथा वणिक् श्रेणियाँ गृहीत व्यवसायों या अनुसृत जीवन-पद्धतियों पर आधारित है। अतएव इनमें भी दो ही जातियाँ हैं। आचार्य श्रेणी के लोग जन सामान्य में जंगम कहलाते हैं। इनमें कुछ विरक्त कहलाते हैं। जो ध्यान तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं का अनुसरण करते हैं और ब्रह्मचर्य एवं संन्यास का जीवन बिताते हैं। उनके मठ होते हैं और सब लोग उनकी पूजा करते हैं। उनका प्रधान मठ मैसूर प्रदेश में मारवाड़ से लगभग सौ मील दूर चितलद्रुग में स्थित है। महन्त का बड़ा सम्मान होता है और इस संप्रदाय के अनुयायियों पर उसका अत्यधिक प्रभाव रहता है। आचार्यों में ही एक अन्य वर्ग है, जिसके लोग पौरोहित्य करते हैं तथा समस्त संस्कारों को करवाते हैं। वे विवाहित होते हैं तथा गार्हस्थ्य जीवन बिताते हैं। वे पञ्चमों तथा उनके मत के अनुयायियों पर धार्मिक नियन्त्रण रखते हैं। ये पुरोहित जंगम हिमालय से लेकर मैसूर प्रान्त तक देश के विभिन्न भागों में स्थित पाँच प्रमुख मठों में किसी न किसी के सदस्य होते हैं। संप्रदाय से सम्बन्धित किसी भी जटिल प्रश्न

---

१. पञ्चाचार्यपञ्चमोत्पत्तिप्रकरण

का निर्णय किसी एक मठ में प्रसारित आज्ञा द्वारा होता है। शुद्ध लिंगायतों के अतिरिक्त एक उनसे सम्बद्ध वर्ग है तथा एक वर्ग अर्धलिंगायतों का है। लिंगायत मांस और मदिरा का सेवन नहीं करते। उनमें विधवाओं को विवाह की अनुमति है तथा स्त्रियों को ऋतु-काल में अशुद्ध और अस्पृश्य नहीं माना जाता, जैसा कि ब्राह्मण-मतानुयायी हिन्दुओं में होता है।

वीरशैवों में ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार से मिलता-जुलता एक दीक्षा-संस्कार है। उपनयन के गायत्री-मन्त्र के स्थान पर इन लोगों का मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' होता है तथा इन्हें यज्ञोपवीत के स्थान पर लिंग धारण करना होता है। दीक्षा के अवसर पर गुरु अपने बाएँ हाथ में एक लिंग पकड़ता है, प्रचलित षोडश प्रकारों से इसकी पूजा करता है तथा शिष्य को इसका दर्शन कराता है। तदुपरान्त इसे शिष्य के बाँये हाथ में रखते हुए आदेश देता है कि इसे अपनी आत्मा के सदृश तथा सर्वोत्तम माने। तदनन्तर वह एक कौशेय वस्त्र के साथ लिंग को शिष्य के गले में बाँधता है। इस अवसर पर वही मन्त्र पढ़ते हैं, जो यज्ञोपवीत पहनाते समय ब्राह्मणों में पढ़ा जाता है। इस संस्कार को लिंग-स्वायत्त-दीक्षा कहते हैं। यह संस्कार लड़कियों का भी होता है और पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी लिंग धारण करना पड़ता है। सामान्यतया लिंग को चाँदी की ताबीज में रख दिया जाता है और उसे गले में पहिन लेते हैं। वीरशैवों को ब्राह्मणों की संध्योपसना से मिलती जुलती दैनिक विधि का सम्पादन करना होता है। इस अवसर पर उपर्युक्त मन्त्र तथा शिव-गायत्री को जपते हैं। शिव-गायत्री की प्रथम दो पंक्तियाँ वहीं हैं जो कि ब्रह्म-गायत्री की हैं किन्तु अन्तिम पंक्ति 'तन्नः शिवः प्रचोदयात्' है। विवाह संस्कार में पाणिग्रहण और साप्तपदी के अवसर पर वे ही मन्त्र उच्चरित होते हैं, जिनका प्रयोग ऋग्वैदिक ब्राह्मणों द्वारा किया जाता है। अपने विवाह-संस्कारों में वे लाजाहोम नहीं करते जैसा कि ब्राह्मण लोग करते हैं। शरीर पर धारण किये गये इष्टलिंग की पूजा उनकी प्रमुख उपासना है। मन्दिरों में जाना एवं उनमें प्रतिष्ठित लिंग की पूजा करना उनके लिए आवश्यक नहीं है। शिव के सार्वजनिक मन्दिरों के साथ उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है।

लिंगायतों में एक आख्यान मिलता है कि जब शिव ने ब्रह्मलोक को उत्पन्न किया तब उन्होंने ब्रह्मदेव से जगत् की रचना करने को कहा। परन्तु ब्रह्मदेव ने कहा कि वे यह नहीं जानते कि जगत् की रचना कैसे करें? इस पर शिव ने स्वयं ही जगत् की रचना की, जिससे ब्रह्मा के लिए उदाहरण मिल सके। अपने-अपने गोत्रों एवं शाखाओं सहित आचार्य एवं पञ्चम, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, शिव की सृष्टि हैं। इस आख्यान का यथार्थ तत्पर्य यह है कि लिंगायतों ने ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध अपने मत की प्रतिष्ठापना की। इन दोनों मतों के बीच अत्यधिक सादृश्य होने से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। परन्तु केवल अनुकरण ही उनका लक्ष्य नहीं था। उन्होंने कतिपय सुधार भी किए, विशेष रूप से स्त्रियों की स्थिति में, जैसा कि ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट है। इस दृष्टि से यह संप्रदाय वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि सभी

सम्प्रदायों से भिन्न है। उन संप्रदायों ने अपनी निजी सामाजिक व्यवस्था अथवा गृह्य-विधानों की स्थापना नहीं की, जबकि लिंगायत इस कार्य में पीछे नहीं रहे। यद्यपि, जैसा कि पहले ही दिखला चुके हैं, लिंगायतों की सामाजिक व्यवस्था और गृह्य-विधान ब्राह्मण-परम्परा का अनुकरण है, किन्तु यह अनुकरण भी संशोधन के साथ किया गया था।

इस पूरे विवरण का कुल मिला कर जो प्रभाव पड़ता है वह यह है कि लिंगायत धर्म का जन्म, ब्राह्मणवाद की शक्ति के प्रति ईर्ष्या तथा विरोध की भावना से हुआ। ईर्ष्या एवं विरोध की इस प्रकार की भावना का उदय ऐसे लोगों के मनों में नहीं हो सकता था, जिनको पूरी तरह दबा दिया गया था। अतएव यह सम्प्रदाय उत्साही और कुलीन अब्राह्मणवादी हिन्दुओं के बीच अस्तित्व में आया होगा और इसका नेतृत्व आराध्य कहलाने वाले ब्राह्मणों ने किया होगा। इस वर्ग के कुछ लोगों ने अभीप्सित सुधार को बहुत आगे नहीं बढ़ाया (जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है) तथा उन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय बना लिया[1]। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि समस्त लिंगायत शूद्र जाति के नहीं थे। उनमें तीन उच्च जातियों का मिश्रण है। लिंगायत संप्रदाय के दो प्रमुख वर्गों का यह दावा कि वे लिंगि-ब्राह्मण अर्थात् लिंग धारण करने वाले ब्राह्मण हैं ठीक जान पड़ता है। जंगम अपनी उत्पत्ति उन पाँच आचार्यों से मानते हैं जिनकी धार्मिक अवसरों पर पूजा की जाती है और जिनके आराध्य नामान्त से उनके ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। अतएव जंगमों को निर्भय होकर ब्राह्मण-वंशी मान सकते हैं[2]। जहाँ तक पंचमों का सम्बन्ध है, वे ब्राह्मण-

---

१. अनन्तानन्दगिरि ने इस बात का उल्लेख किया है कि शंकराचार्य का एक आराध्य संप्रदाय से विवाद हुआ था (द्रष्टव्य शंकरदिग्विजय, बि०इ०, पृ० ३७)। किन्तु धनपति विरचित डिंडिम (इसमें माधवकृत शंकर-विजय भी है) के उस प्रसंग में आराध्य संप्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव शंकराचार्य के पूर्व आराध्य संप्रदाय का अस्तित्व संदिग्ध है, भले ही अनन्तानन्दगिरि द्वारा उल्लिखित आराध्य संप्रदाय वही हो जो लिंगायतों से सम्बद्ध था। यह भी संभव है कि शङ्कराचार्य के समय अर्थात् नवीं शताब्दी से पूर्व आराध्य संप्रदाय अस्तित्व में आ चुका था और फिर इस मान्यता का प्रचलन हुआ कि इसी की परिधि में लिंगायत धर्म-सुधार आरम्भ हुआ तथा आराध्य संप्रदाय के एक वर्ग ने नये धर्म को अपनाकर उसका विकास किया, जब कि अन्य वर्ग रुढ़िवादी बना रहा और ब्राह्मण धर्म के आचारों को मानता रहा। इस वर्ग से आधुनिक आराध्य संप्रदाय का विकास हुआ।

२. कुछ जंगम संस्कृत जानते हैं। ऐसे ही एक मल्लिकार्जुन शास्त्री से मेरा पत्र व्यवहार रहा है, जिसने मुझको इस संप्रदाय के कुछ ग्रन्थ बतलाये, जिनका मैंने यहाँ पर

परम्परा के वैश्य प्रतीत होते हैं, जो व्यापार और खेती करते थे। चूँकि वैश्य द्विजाति हैं अतएव पञ्चम भी द्विजाति रहे होंगे और इसीलिए लिंगि-ब्राह्मण वर्ग में उनका समावेश है।

द्रविड़ प्रदेश में शैवधर्म

शैवधर्म द्रविड़ या तामिल देश में फैला हुआ है तथा उसका अपना विस्तृत साहित्य भी है। यह साहित्य ग्यारह संग्रहों में है। प्रथम तीन संग्रहों में परमपूज्य तिरुज्ञानसम्बन्ध नामक एक सन्त द्वारा रचित स्तुतियाँ हैं। उनकी संख्या तीन सौ चौरासी है, प्रत्येक को पडिगम् कहते हैं, जो कि दस पदों का होता है और प्रायः ग्यारहवाँ चरण (जिसमें कि लेखक का नाम रहता है) भी जोड़ दिया जाता है। अगले तीन संग्रहों की रचना अप्पर ने की थी, जो सम्बन्ध के पूर्ववर्ती और साथ ही सम-सामयिक भी थे। वे बौद्ध या जैनधर्म त्याग कर शैव हुए थे। सातवाँ संग्रह सुन्दर का है, जो बाद की पीढ़ी के ब्राह्मण भक्त थे। इन सात संग्रहों को देवारम् कहते हैं तथा इनकी तुलना वेदों से की जाती है। कुछ जुलूसों में एक ओर वेदों के सूक्तों का पाठ किया जाता है और दूसरी ओर देवारम् की स्तुतियों का। तिरुवासगम् आठवाँ संग्रह है तथा यह उपनिषदों के समान है। इस पुस्तक के लेखक मानिक्कवा-शगर हैं। नवाँ संग्रह देवारम् का अनुकरण है। इसमें स्तुतियाँ हैं। इनका एक लेखक चोल शासक कन्दरादित्य है। राजराज चोल, जो कि ९८४-८५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, वशांनुक्रम में इससे पाचवाँ था। दसवें संग्रह में तिरुमूलर नामक एक योगी के रहस्यवादी गीत हैं। ग्यारहवें संग्रह में प्रकीर्ण रचनायें हैं। अन्तिम दस रचनाओं को नम्बि आन्दार नम्बि ने लिखा था। इनमें तीसरी रचना तामिल पेरियपुराण का आधार है। ये ग्यारह संग्रह और पेरियपुराण, जो तामिल भाषा में लिखे गए हैं, तामिल शैवों के धर्मग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त सनातन आचार्यों की भी कृतियाँ हैं, जिनकी संख्या चौदह है तथा जिन्हें सिद्धान्त-शास्त्र कहा जाता है। इनके विषय दार्शनिक हैं। इनके लेखकों में तिरुज्ञानसम्बन्ध का सर्वाधिक सम्मान है। वे जन्म से ब्राह्मण थे तथा उनमें बाल्य-काल से ही कवित्व-शक्ति का विकास हो गया था। उनकी स्तुतियाँ बड़ी मधुर हैं और निर्मल भक्ति-भावों से ओत-प्रोत हैं। मूलतः उन स्तुतियों को तामिल रागों में गाया जाता था,

---

उपयोग किया है। उसने कुछ विषयों पर मौखिक सूचना भी दी है। वह अपने को वेदाध्ययन का अधिकारी ब्राह्मण मानता है और कृष्ण यजुर्वेदी है। ऊपर उल्लिखित चितलद्रुग मठ का महन्त दो माह पूर्व पूना आया था। उसके साथ महन्त का पूरा वैभव, चार हाथी और बहुत से अनुयायी थे। वह सज्जन, विनम्र और कृपालु था। उसने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था और शुद्ध संस्कृत में धारा-प्रवाह बोल सकता था। इस संप्रदाय के कुछ ग्रन्थ संस्कृत में हैं।

परन्तु आगे चलकर उत्तर-भारतीय नामोंके साथ उत्तर-भारतीय रागों का प्रयोग होने लगा। प्रत्येक शैव-मन्दिर में पूजा के लिए सम्बन्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती है। तामिल कवि एवं दार्शनिकों ने अपनी कृतियों के आरम्भ में उनकी वन्दना की है। वे बौद्धों व जैनों के महान् शत्रु थे। उनके पडिगम् या स्तुतियों के दसवें चरण में बौद्धों या जैनों की भर्त्सना है। एक समय मदुरा के कुनि पाण्ड्य की रानी ने उन्हें बुलाया। वहाँ पर उन्होंने बौद्धों या जैनों से शास्त्रार्थ किया, जिसके अन्त में वहाँ का राजा शैव हो गया[1]।

तंजोर के राजेश्वर मन्दिर के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजा राजराजदेव (जिसके नाम पर उस मन्दिर का नामकरण हुआ था) अपने शासन के उनतीसवें वर्ष से पूर्व तिरुपडियम् (तिरुज्ञानसम्बन्ध के पडिगम) के पाठकों की मदद के लिए दैनिक वृत्ति देता था[2]। राजराज के एक अभिलेख में चन्द्रग्रहण के उल्लेख से उसके सिंहासनारोहण की तिथि ८८४-८५ ई० निर्धारित की गई है[3]। यह (तिथि) अन्य अभिलेख[4] के इस उल्लेख के अनुरूप है कि उसने महाराष्ट्र के उत्तरवर्ती चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप के तुरन्त बाद के उत्तराधिकारी सत्याश्रय पर विजय प्राप्त की थी। उसकी मृत्यु शकाब्द ९३० या १००८ में हुई थी। इस प्रकार राजराज के शासन के उनतीसवें वर्ष के पहले अर्थात् १०१३ ई० से पूर्व ही सम्बन्ध के पडिगम् इतने पवित्र माने जाने लगे थे कि उनका पाठ या गान वैसा ही पुण्य कार्य था जैसा वैदिकों द्वारा शतरुद्रिय का पाठ। सम्बन्ध के पडिगमों को यह सम्मान तभी मिला होगा जब वे ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में आ चुके होंगे। श्री पिल्लई भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्बन्ध सातवीं शताब्दी में हुए थे।

काञ्चीपुर के मन्दिरों के अभिलेखों से प्रकट होता है कि वहाँ शैवमत छठवीं शताब्दी में उन्नत अवस्था में था। पल्लव राजा राजसिंह ने एक मन्दिर बनवाया था तथा इस मन्दिर के देवता का नाम अपने नाम पर राजसिंहेश्वर रखा था। कतिपय अभिलेखों से राजसिंह आरम्भिक चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन्[5] प्रथम का समकालीन

---

१. उपर्युक्त विवरण पी० सुन्दरम् पिल्लई के विद्वतापूर्ण लेख से लिया गया है, इण्डि० एण्टि०, भाग २५, पृ० ११३ तथा आगे। खेद की बात है कि पिल्लई महोदय ने इस बात की स्पष्ट सूचना नहीं दी कि सम्बन्ध ने जिनकी भर्त्सना की है वे बौद्ध थे अथवा जैन।

२. ई० हुल्श, साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग २, पृ० २५२, सं० ६५

३. इण्डि० एण्टि०, भाग २३, पृ० २९७

४. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग २, पृ०२

५. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग १, पृ० ११

प्रतीत होता है। पुलकेशिन् प्रथम का समय ५५० ई० के लगभग माना जा सकता है, क्योंकि उसका पुत्र कीर्तिवर्मा प्रथम ५६७ ई० के आसपास सिंहासन पर बैठा था।[१]

तामिल देश में जिस शैवमत का प्रचार था वह सामान्य शैवधर्म प्रतीत होता है, क्योंकि देवारन् के पद्यों में शिव का स्तुतिगान और अनन्य भक्तिभाव है। परन्तु तामिल शैवधर्म का कोई दर्शन भी रहा होगा, क्योंकि काञ्ची के राजसिंहेश्वर मन्दिर के एक अभिलेख में, अत्यन्तकाम (राजसिंह का ही अन्य नाम) को शैवसिद्धान्तों के मत में निष्णात बतलाया गया है। हम देख चुके हैं कि शैव साहित्य के अन्तिम प्रकार को सनातन आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त-शास्त्र कहा गया है। ये शैवधर्म के दार्शनिक ग्रंथ रहे होंगे। सम्भव है कि उसमें उपदिष्ट दर्शन शैव-दर्शन (जिसकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं) से अभिन्न या सदृश रहा हो। परन्तु सिद्धान्तों द्वारा उपदिष्ट मत वास्तव में क्या था, यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं। पेरियपुराण में शिव के तिरसठ भक्तों का विवरण दिया गया है। ये वैष्णव आळवारों के समान हैं। वैष्णव और शैव दोनों ही धर्मों के अनुयायियों को जिन शत्रुओं से विवाद करना पड़ता था, वे जैन थे। मुझे ऐसा लगता है कि चतुर्थ एवं पंचम शतकों में उत्तर-भारत में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के उपरान्त शैव और वैष्णव दोनों ही धर्म सुदूर दक्षिण तक पहुँच गये थे। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म इससे पूर्व ही वहाँ प्रचलित हो चुके थे और दोनों ही इन आस्तिक धर्मों के प्रसार के समय प्रभावशाली थे। अतएव विवादों और शास्त्रार्थों की आवश्यकता हुई, जो निरन्तर चलते रहे। शैवमत पुनरुत्थान से पूर्व ही तामिल देश में फैल चुका था यह निश्चय करने के लिए हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं हैं।

———

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, द्वितीय संस्करण, पृ० ६१

शाक्त-सम्प्रदाय

रुद्र-शिव विषयक विचार का विकास देखने के लिए हमने आरम्भ से गृह्यसूत्रों तक वैदिक साहित्य की परीक्षा की। किन्तु कहीं भी शक्तिसंपन्न किसी देवी का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि रुद्राणी और भवानी जैसे कुछ नाम मिलते हैं, किन्तु ये व्युत्पन्न शब्द मात्र हैं। इनसे किसी शक्तिसम्पन्न स्वतन्त्र देवी के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। उमा भी एक देव की पत्नी ही हैं और प्रभाव में अपने पति से ऊपर नहीं हैं। किन्तु महाभारत (भीष्मपर्व, अध्याय २३) में कृष्ण के परामर्श पर अर्जुन दुर्गा की स्तुति करते हैं और भावी युद्ध में विजय के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं। यह स्तोत्र ही यह प्रदर्शित करता है कि जब इसकी रचना की गयी थी, उस समय के पहले ही दुर्गा शक्तिसम्पन्न देवी हो चुकी थीं और लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उनकी आराधना करने लगे थे। जिन नामों द्वारा उनकी स्तुति की गयी है, वे निम्नलिखित हैं : कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, उमा, कान्तारवासिनी। विराट-पर्व (अध्याय ६) में युधिष्ठिर ने देवी की स्तुति की है। मुख्य दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों में यह अंश नहीं है। सम्भवतः यह अंश प्रक्षिप्त है, क्योंकि इसका विषय प्रायः वही है, जो कि हरिवंश के एक ऐसे ही स्थल का है। इस स्तुति में प्रयुक्त विशेषण और मुख्य बातें ये हैं। वे महिषासुर-मर्दिनी हैं तथा सुरा, मांस एवं पशुओं में अनुरक्त हैं। उन्होंने यशोदा के गर्भ से जन्म लिया था। जब (कंस ने) उन्हें पत्थर पर पटका तब वे स्वर्ग चली गयी थीं। वे नारायण की परमप्रिया तथा वासुदेव की भगिनी कहलाती हैं। वे विन्ध्याचल पर स्थायी रूप से निवास करती हैं।

हरिवंश (श्लोक, ३२ ३६ तथा आगे) में यह वर्णन मिलता है कि विष्णु पाताल लोक गए तथा कालरूपिणी निद्रा से यशोदा की पुत्री होने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि वे कौशिकी होंगीं तथा विन्ध्याचल पर स्थायी रूप से निवास करेंगीं, वे शुम्भ और निशुम्भ का वध करेंगी तथा पशु-बलि से पूजित होंगी। वहाँ पर 'आप्या' (दुर्गा) की एक स्तुति उद्धृत की गयी है, जिसमें उन्हें सुरा और मांस में अनुराग रखनेवाली तथा शबरों, पुलिन्दों, बर्बरों एवं अन्य वन्य जातियों की देवी के रूप में चित्रित किया गया है।

मार्कण्डेयपुराण (अध्याय ८२) के अनुसार महिषासुरमर्दिनी देवी शिव, विष्णु, ब्रह्मदेव तथा विभिन्न देवों के प्रचण्ड तेज से बनी थीं। उन्हें चण्डी एवं अम्बिका कहा गया है। [illegible] के विवरण में

शुम्भ और निशुम्भ का वध करने वाली देवी की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है। शुम्भ और निशुम्भ दैत्यों से पीड़ित होकर देवगण हिमालय पर्वत पर गए तथा देवी की स्तुति की। उसी समय पार्वती गङ्गा में स्नान करने को निकलीं। तब शिवा, जो अम्बिका भी कहलाती हैं, पार्वती के शरीर से निकलीं और बोलीं कि शुम्भ और निशुम्भ के वध के लिए देवगण जिसकी स्तुति कर रहे हैं वह मैं ही हूँ। वे पार्वती के शरीर के कोश से उद्भूत हुई थीं, इसलिए कौशिकी कहलायीं। जब अम्बिका पार्वती के शरीर से निकलीं तब पार्वती के शरीर का वर्ण कृष्ण हो गया। इसीलिए उनका 'कालिका' (काले रङ्ग की) नाम पड़ा। युद्ध के अवसर पर जब शुम्भ और निशुम्भ ने उन पर आक्रमण कर दिया तब उनका ललाट क्रोध से कृष्णवर्ण का हो गया तथा उससे नरमुण्डों की माला, व्याघ्रचर्म एवं हाथ में खट्वांग धारण किए हुए करालमुखी काली निकलीं। उन्होंने चण्ड और मुण्ड दैत्यों का संहार किया तथा लौट कर अम्बिका के पास गयीं। चूंकि उन्होंने चण्ड और मुण्ड दैत्यों का वध किया था, अतः अम्बिका ने उनका नाम चामुण्डा रखा। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही एवं ऐन्द्री ये सात शक्तियाँ (जो उन-उन देवों की शक्तियाँ हैं, जिनसे उनके नाम व्युत्पन्न हैं,) उनकी विभूति कही गयी हैं। अन्त में देवी कहतीं हैं कि वैवस्वत मन्वन्तर में वे पुनः विन्ध्यवासिनी देवी का रूप धारण करके शुम्भ और निशुम्भ का विनाश करेंगीं। इसके बाद वे अपने अन्य स्वरूपों का वर्णन करतीं हैं, जिन्हें वे अन्य अवसरों पर ग्रहण करेंगीं जैसे नन्दसुता, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि।

यहाँ पर दिए गए विवरण में विभिन्न नामों से युक्त एक ही देवी है। परन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर प्रकट होगा कि वे केवल नाम-मात्र नहीं हैं, प्रत्युत विभिन्न देवियों के सूचक हैं, जिनकी कल्पना का उदय विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ था। बाद में हिन्दुओं की सहज प्रवृत्ति द्वारा सभी देवियाँ एक देवी के साथ अभिन्न मान ली गयीं। सर्वप्रथम हमें उमा मिलतीं हैं, जो रक्षा करने वाली देवी हैं तथा शिव की पत्नी हैं। तदुपरान्त हम हैमवती और पार्वती नाम पाते हैं जो 'उमा' के ही विशेषण हैं, क्योंकि उनके पति शिव पर्वत पर रहने वाले (गिरीश) थे तथा वे भी पर्वत पर उत्पन्न हुई थीं। तदुपरान्त वनों और विन्ध्य पर्वत पर निवास करने वाली देवियाँ आतीं हैं, जिन्हें पशुओं किंवा मनुष्यों की भी बलि दी जाती है तथा सुरा की आहुति चढ़ायी जाती है। पुलिन्द, शबर, बर्बर जैसी जंगली जातियाँ उनकी पूजा करती हैं। ये उग्र देवियाँ हैं। इनके नाम कराला, काली, चण्डी, चामुण्डा आदि हैं। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रथम दो नाम उसी समय प्रचलन में आ गये थे जब प्राचीन काल में रुद्र का अग्नि से समीकरण किया गया था। अग्नि की सात जिह्वायें मानी जाती थीं, जिनमें दो काली और कराली कहलाती थीं। उत्तरकालीन काली और कराली देवियों की प्रचण्डता का कारण सम्भवतः अग्नि के साथ उनका तादात्म्य था, न कि बर्बर जातियों द्वारा उनका पूजित होना। अथवा दोनों ही कारण रहे होंगे।

शतरुद्रिय में हम देख चुके हैं कि रुद्र की स्वरूप-रचना में आदिम जातियों का योग था। सम्भव है उसी तरह रुद्र की पत्नी की स्वरूप-रचना में भी आदिम जातियों का योग रहा हो। इन देवियों की कल्पना में एक तीसरा प्रबल तत्त्व शक्ति की भावना है। इच्छा, क्रिया, सर्जन, मोह आदि की शक्तियों की कल्पना देवियों के रूप में की गयी, क्योंकि शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। उपर्युक्त ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि सात देवियों की कल्पना का कारण तत्-तत् देवों की शक्तियों की भावना है। आगे चल कर कुछ ब्राह्मण-परिवारों की अपनी इष्ट देवियाँ बन गयीं जैसे कात्यों में कात्यायनी और कुशिक ब्राह्मणों में कौशिकी। शक्ति की भावना के प्रभाव से देवी का और भी विकास हुआ। इस प्रकार हमें देवी के तीन रूप प्राप्त होते हैं: (१) सौम्य रूप, जिसकी सामान्यतः पूजा की जाती है; (२) प्रचण्ड रूप, जो कापालिकों और कालामुखों से सम्बद्ध है तथा जिसे पशु-बलि एवं नर-बलि चढ़ायी जाती है; और (३) कामप्रधान रूप, जिसकी शाक्त पूजा करते हैं। शक्ति के उपासक होने के कारण वे शाक्त कहलाते हैं।

शक्ति के इन विभिन्न रूपों की पूजा का विधान करने वाला तन्त्र साहित्य बड़ा विशाल है। यहाँ पर हम शक्ति के एक रूप पर आधारित संप्रदाय की रचना, सिद्धान्त और विधियों की समीक्षा करेंगे। इसको हमने कामप्रधान कहा है। इस सम्प्रदाय में देवी के आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि नाम हैं। उनके निवास का इस प्रकार वर्णन है। कल्पवृक्ष से परिवृत सुधा-सिन्धु में नीप अथवा कदम्ब वृक्षों से घिरा हुआ एक मणिमय मंडप है। उस मंडप में चिन्तामणि-गृह है, जिसमें त्रिपुरसुन्दरी ईशानी निवास करती हैं। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मंच, पर्यंक और उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र और ईश्वर मंच के पैर हैं। वहाँ पर ऐसी भी आत्माएँ हैं जो महेश्वर-सार[1] में उपनिबद्ध कार्यों को पूरा करती हैं। मंडल की मूर्तियों और पारिभाषिक शब्दों का प्रतीकात्मक अर्थ है। इस प्रकार देवी को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। आनन्दभैरव अथवा महाभैरव नौ व्यूहों की आत्मा हैं अथवा वे नौ व्यूहों से निर्मित हैं। ये नौ व्यूह हैं—(१) कालव्यूह, (२) कुलव्यूह, (३) नामव्यूह, (४) ज्ञानव्यूह, (५) चित्तव्यूह, (अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन)। महाभैरव ही देवी की आत्मा हैं। इसलिए देवी भी नौ व्यूहों की आत्मा हैं अथवा उनसे निर्मित हैं। इस प्रकार दोनों एक हैं। उनमें जब सामरस्य होता है तब यह सृष्टि आरम्भ होती है। सृष्टि में महाभैरवी और संहार में महाभैरव प्रधान हैं[2]।

शाक्त विधि-विधान शाम्भव दर्शन पर आधारित बतलाये जाते हैं, जिसके दार्शनिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं। शिव और शक्ति आद्य तत्त्व हैं। शिव प्रकाशस्वरूप हैं और विमर्शरूप अथवा स्फूर्तिरूप शक्ति में प्रविष्ट होते हैं, और फिर बिन्दु का रूप धारण कर

---

१. सौन्दर्यलहरी, लक्ष्मीधर की टीका सहित, मैसूर संस्करण। द्रष्टव्य श्लोक ८ और ९२ की टीका।

२. वही, श्लोक ३४।

लेते हैं। इसी प्रकार से शक्ति शिव में अनुप्रविष्ट होती है। तदनन्तर बिन्दु संवर्धित होता है। तब उससे नाद (स्त्रीतत्त्व) निर्गत होता है। बिन्दु और नाद मिल कर मिश्र-बिन्दु हो जाते हैं, जो स्त्री-पुरुष शक्तियों का योग है और काम कहलाता है। श्वेत और रक्त बिन्दु, जो पुरुष और स्त्री तत्त्व के प्रतीक हैं, उसके कलाविशेष हैं। ये तीनों फिर एक संयुक्त बिन्दु बन जाते हैं। श्वेत, रक्त और मिश्र बिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं और कामकला कहलाते हैं। इस प्रकार यहाँ चार शक्तियों का सामरस्य है :— (१) मूलबिन्दु—जो विश्व का उपादान है (२) नाद—जिसके आधार पर बिन्दु-संबर्धन से जन्म लेने वाले तत्त्वों का नामकरण होता है। बिन्दु और नाद दोनों में उत्कट प्रेम रहता है, किन्तु इतने मात्र से सृष्टि का आरम्भ नहीं होता। वे केवल अर्थ और वाक् के उपादान हैं। इसलिए इनके साथ (३) श्वेत पुरुषबिन्दु और (४) रक्त स्त्रीबिन्दु रुप में दो उत्पादक शक्तियों का योग होता है। जब ये चारों तत्त्व मिलकर कामकला का रूप धारण कर लेते हैं तब वागर्थमय सृष्टि आरम्भ होती है। कुछ प्रमाणों के अनुसार जब स्त्री तत्त्व प्रथम बार बिन्दु में प्रविष्ट होता है तब नाद के साथ हार्धकला नामक एक अन्य तत्त्व भी विकसित होता है। एक ग्रन्थ में उच्चतम देवी कामकला है और सूर्य (संयुक्तबिन्दु) उसका मुख है। अग्नि और चन्द्र (रक्त और श्वेतबिन्दु) उसके उरोज हैं और हार्धकला उसकी योनि है, जिससे सृष्टि आरम्भ होती है। इस प्रकार देवी सृष्टि करने वाली है। वह देवी देवताओं में सर्वोच्च है और परा, ललिता, भट्टारिका तथा त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। शिव 'अ' अक्षर हैं और शक्ति 'ह', जो संस्कृत वर्णमाला का अन्तिम अक्षर है। यह 'ह' अर्धकला कहलाता है। इसलिए उपर्युक्त स्त्री तत्त्व अथवा योनि 'ह' के आकार का अर्धभाग (हार्धकला) है। यह अर्धकला अथवा 'ह' शिव के प्रतीक 'अ' अक्षर से मिलकर कामकला अथवा त्रिपुरसुन्दरी का प्रतीकात्मक रूप है, जो शिव और शक्ति के संयोग का फल है। वह अहं कहलाती है और स्वयं अहं से युक्त है। इसलिए उसके सभी विकास अर्थात् पूरी सृष्टि अहंकार से युक्त है। सभी आत्माएँ त्रिपुरसुन्दरी की रूपमात्र हैं और जब वे देवी-चक्रों के साथ कामकला विद्या और ज्ञान का अभ्यास कर लेती हैं, वे त्रिपुरसुन्दरी हो जातीं हैं। 'अ' और 'ह' वर्णमाला के प्रथम व अन्तिम अक्षर हैं और सभी अक्षर इनके बीच में हैं तथा उनके माध्यम से सभी शब्द (संपूर्ण वाक्) उनके अन्तर्गत हैं। जिस प्रकार त्रिपुरसुन्दरी से सब अर्थ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अर्थ के व्यञ्जक सब शब्द भी त्रिपुरसुन्दरी से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका नाम परा है, जो वाक् के चार प्रकारों में प्रथम है। सृष्टि उसका परिणाम है, विवर्त नहीं। यह शाम्भव-दर्शन है। यद्यपि आरम्भ में यह पुरुष तत्त्व को स्वीकार करता है, फिर भी इसमें स्त्री तत्त्व का प्राधान्य है और देवी त्रिपुरसुन्दरी का सर्वोच्च स्थान है। इस मत को मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति की यही महत्त्वाकांक्षा रहती है कि मैं त्रिपुरसुन्दरी के साथ अभिन्न हो जाऊँ। उसको इस बात का भी अभ्यास करना पड़ता है कि वह अपने को स्त्री समझे।

शाक्तों का ऐसा विश्वास है कि ईश्वर स्त्रीरूप है, अतएव सबका उद्देश्य यही होना चाहिये कि वे स्त्री हो जायँ।

दीक्षा-विधि के द्वारा देवी की आराधना की जाती है और उनको प्राप्त किया जा सकता है। इसके तीन प्रकार हैं। प्रथम में देवी का इस प्रकार का ध्यान करना पड़ता है कि वे महापद्मवन में शिव के अंक पर बैठी हुई हैं। उनका विग्रह आनन्दमय है, सबका कारण है और आत्मा से अभिन्न है। दीक्षा का दूसरा प्रकार चक्र-पूजा है। यह बाह्य पूजा (बाह्ययाग) है। तीसरी विधि है सच्चे दर्शन का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करना। चक्र-पूजा का शाक्त सम्प्रदायों में अत्यन्त महत्त्व है। इस पूजा के निमित्त भूर्जपत्र, रेशमी वस्त्र अथवा स्वर्णपत्र पर नौ योनियों के मण्डल के मध्य में एक योनि का चित्र बनाते हैं और उसकी पूजा करते हैं[1]। पूरा मण्डल श्रीचक्र कहलाता है। इस पूजा की दृष्टि से शाक्तों के दो वर्ग हैं :—(१) कौलिक और (२) समयिन्। प्रथम स्त्री-रूप की पूजा करते हैं और दूसरे काल्पनिक रूप की। ऊपर जिस प्रकार के चित्र का उल्लेख किया गया है, उसकी पूजा पूर्व-कौलों द्वारा की जाती है, जबकि उत्तर-कौल जीवित सुन्दरी की योनि की पूजा करते हैं। कौल मदिरा मांस, मधु, मत्स्य आदि अपनी उपास्य देवी को अर्पित करते हैं और फिर स्वयं ग्रहण करते हैं। किन्तु समयिन् इस प्रकार की पूजा से दूर रहते हैं। ब्राह्मण भी शाक्त दर्शन में विश्वास रखते हैं और पूर्व-कौल तथा उत्तर-कौल विधि के अनुसार त्रिपुरसुन्दरी देवी की पूजा करते हैं। भैरवीचक्र के आरम्भ हो जाने पर वर्णभेद नहीं रहता। भैरवी-चक्र के समाप्त हो जाने पर वे पुनः अलग-अलग वर्ण के हो जाते हैं। अन्य धार्मिक ग्रन्थों में ललिता और उपाङ्ग-ललिता नाम से देवी-पूजा की अन्य सरल और शिष्ट विधियों का वर्णन है। उपाङ्ग-ललिता की पूजा आश्विन शुक्लपक्ष की पंचमी और ललिता की पूजा प्रथम दस दिनों में सम्पन्न होती है। उपाङ्ग-ललिता की पूजा स्त्रियों के द्वारा वैधव्य निवारण के लिये की जाती है[2]।

---

१. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ४१, टीका

२. द्रष्टव्य हेमाद्रि, व्रतखण्ड

गाणपत्य-सम्प्रदाय

मरुत रुद्र के गण हैं और इनके स्वामी गणपति हैं। हम देख चुके हैं कि रुद्र एक सामान्य नाम हो गया था और रुद्र जैसी प्रकृतिवाली गणों के लिये भी प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार गणपति भी एक सामान्य नाम था। इसका अर्थ था गण अर्थात् समुदायों का नायक। दूसरा नाम विनायक भी प्रयोग में आ गया था, जो विचरनेवाली आत्माओं के लिये प्रयुक्त होता था। अथर्वशिरस् उपनिषद् में रुद्र का अनेक देवों या आत्माओं से समीकरण किया गया है, जिनमें से एक विनायक भी हैं। महाभारत (अनुशासन पर्व १५१, श्लोक २६) में गणेश्वरों और विनायकों का देवताओं के साथ उल्लेख हुआ है, जो मनुष्यों के कार्यों को देखते हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं। कहा गया है कि स्तुति किये जाने पर विनायक अनिष्टों को दूर करें (अ० प० १५० ५७)। यहाँ पर गणेश्वर या गणपति और विनायकों को (जैसा कि गणपति के लिए शतरुद्रिय में भी कहा गया है) संख्या में अनेक और सर्वत्र विद्यमान बतलाया गया है। मानवगृह्यसूत्र (२,१४) में विनायकों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनके अनुसार इनकी संख्या चार है। उनके नाम हैं—(१) शालकटंकट, (२) कूष्माण्डराजपुत्र, (३) उस्मित और (४) देवयजन। जब कोई व्यक्ति इनसे ग्रसित हो जाता है, तब जमीन कूटता है, घास काटता है, अपने शरीर पर लिखता है, स्वप्न में जल, मुण्डित व्यक्तियों, उष्ट्र, शूकर, गर्दभ आदि को देखता है, यह अनुभव करता है कि वह हवा में उड़ रहा है और जब चलता है तब उसे लगता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है। उनसे ग्रसित होने पर राजकुमार को राज्य नहीं मिलता, भले ही वह शासन करने के योग्य हो; अपेक्षित गुणों के होने पर भी कन्याओं को वर नहीं मिलते और सक्षम होने पर भी स्त्रियों के सन्तान नहीं होती; अन्य स्त्रियों की सन्तान मर जाती है; अध्यापनकुशल और विद्वान् आचार्यों को शिष्य नहीं मिलते और छात्रों के विद्याध्ययन के मार्ग में अनेक बाधायें-और अवरोध आते हैं; व्यापार और कृषि विफल हो जाती है। इनसे ग्रसित व्यक्ति को चार प्रदेशों से लाये गये पानी और चारों दिशाओं से लायी गयी मिट्टी से स्नान कराते हैं। स्नान के बाद सद्यः निकाले गये सरसों के तेल से चार विनायकों को आहुति दी जाती है। आहुतियाँ उदुम्बर वृक्ष के श्रुवा से उस व्यक्ति के सिर पर डालते हैं। तब चार तरह के खाद्य जैसे धान और चावल, पकी और कच्ची मछली, तरह-तरह की दालें और अन्य वस्तुओं को एक टोकरी में रख कर टोकरी को चौरस्ते पर घास बिछाकर रख आते हैं। तब अनेक देवताओं और प्रेतात्माओं का आवाहन करते हैं कि वे सन्तुष्ट हों और स्वयं

संतुष्ट होकर पूजा करने वाले को सन्तुष्ट करें। इस विधि से विनायकों द्वारा ग्रसित व्यक्ति छुटकारा पा जाता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में उसी विधान को और प्रायः उन्हीं शब्दों में दिया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह विधान अधिक विकसित और जटिल हो गया है। वे यह कहते हुए विधान का आरम्भ करते हैं कि रुद्र और ब्रह्मदेव ने विनायक को गणपति बनाया और उन्हें लोगों के कामों में विघ्न-बाधा उपस्थित करने का कार्य सौंपा। स्मृति में एक ही विनायक को संबोधित् किया गया है। किन्तु मानवगृह्यसूत्र में उल्लिखित चार नामों के स्थान पर उनके छह नाम बतलाये गये हैं—(१) मित, (२) संमित, (३) शाल, (४) कटंकट, (५) कूष्माण्ड और (६) राजपुत्र। ये एक ही विनायक के छह नाम हैं। टोकरी में विभिन्न प्रकार की खाद्य-सामग्री रखने के बाद विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करने का भी विधान किया गया है।

मानवगृह्यसूत्र में उल्लिखित विधान याज्ञवल्क्यस्मृति के विधान से अधिक प्राचीन है। दोनों की तुलना करने पर यह प्रकट होता है कि मानवगृह्यसूत्र और याज्ञवल्क्यस्मृति के बीच जो समय बीता था उसमें चार विनायक एक गणपति-विनायक हो गये थे और अम्बिका उनकी माता मानी जाने लगी थीं। इस प्रकार यह गणपति विनायक स्वभावतः अनिष्टकारी देव हैं, किन्तु आराधना करने पर कल्याणकारी हो सकते हैं। इस दृष्टि से वे रुद्र से मिलते-जुलते हैं। गृह्यसूत्र में उल्लिखित उपर्युक्त विधान से यह निष्कर्ष निकलता है कि विनायक ईसवी संवत् के पूर्व ही लोगों के उपास्य बन गये थे। किन्तु हिन्दू देवमंडल में अम्बिकापुत्र गणपति-विनायक का प्रवेश बाद में हुआ। जिन गुप्त अभिलेखों[1] का मैंने परीक्षण किया है, उनमें से कोई भी न तो उनके नाम का और न उनके सम्मान में किसी दान का ही उल्लेख करता है। एलोरा की दो गुफाओं में काल, काली, सप्तमातृका और गणपति की सामूहिक मूर्तियाँ हैं। ये गुफाएँ अष्टम शतक ई० के उत्तरार्द्ध की मानी जाती हैं। इसलिए पाँचवीं और आठवीं शताब्दियों के बीच गाणपत्य सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया होगा और याज्ञवल्क्यस्मृति छठी शताब्दी से पूर्व नहीं लिखी गयी होगी। एक अन्य मूर्ति और अभिलेख, जिनसे गणपति-पूजा के प्रचलन की सूचना मिलती है, जोधपुर से २२ मील उत्तर-पश्चिम घटियारा नामक स्थान पर मिले हैं। वहाँ पर एक स्तम्भ है, जिसके शीर्ष पर चारों दिशाओं को मुख किये हुए गणपति की चार मूर्तियाँ हैं और स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख के आरम्भ में

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २०, पृ० ३५६ तथा आगे
२. फरगुसन और बर्जेस, केव टेम्पुल्स, रावण की खाई और रामेश्वर मन्दिर
३. एपि० इण्डि०, भाग ९, पृ० २७७ तथा आगे

विनायक को नमस्कार किया गया है। अभिलेख की तिथि विक्रम संवत् ९१८ (८६२ ई०) है।

यह कहना कठिन है कि गणपति के गज-मुख की कल्पना कब की गयी है। एलोरा के गुहा-मंदिरों की मूर्तियाँ गजमुखी हैं। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में भवभूति भी मालतीमाधव के मंगलाचरण में गजमुखी गणपति का वर्णन करते हैं। गणपति से संबद्ध रुद्र-शिव और अन्य देवताओं का जंगलों व अन्य स्थानों से निकट सम्बन्ध था, जिनमें हाथी भी पाये जाते हैं। रुद्र और उमा के गजचर्म पहनने की मान्यता भी प्रचलित है। सम्भव है कुछ लोगों को यह कल्पना बड़ी अनुकूल जान पड़ी हो कि ऐसे देवता का, जो मूलतः अनिष्टकारी था, सिर हाथी का हो। मेरे विचार से गणपति की बुद्धि के अधिष्ठाता के रूप में जो प्रसिद्धि है, उसका कारण उनको और बृहस्पति को एक समझ लेना है। ऋग्वेद २,२३,१ में बृहस्पति को गणपति कहा गया है। बृहस्पति, निःसन्देह, वैदिककाल से बुद्धि के देवता हैं और ऋषियों के भी ऋषि कहलाते हैं।

आनन्दगिरि (कभी-कभी अनन्तानन्दगिरि भी कहलाते हैं) ने अपने शंकर-दिग्विजय ग्रन्थ में और धनपति ने माधव के शंकरदिग्विजय की टीका में गणपति के छह सम्प्रदाय बताये हैं। प्रथम सम्प्रदाय महागणपति के उपासकों का है। उनके अनुसार महागणपति स्रष्टा हैं और प्रलयकाल में जब ब्रह्मदेव आदि नहीं रह जाते, केवल वही शेष बचते हैं। शक्ति से आलिंगित उनके एकदन्त रूप का आराधन करना चाहिए। अपनी अद्भुत शक्ति से वे ब्रह्मदेव आदि की रचना करते हैं। जो मूल मंत्र का पाठ करते हैं और गणपति का ध्यान करते हैं वे परमानन्द को प्राप्त करते हैं। शंकराचार्य के सामने इन सिद्धान्तों का वर्णन आचार्य गिरिजासुत ने किया था।

अब दूसरे उपदेशक आते हैं। उनका नाम गणपतिकुमार है और वे हरिद्रागणपति के उपासक हैं। वे ऋग्वेद २,२३,१ को आधार बना कर उसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं, "हम तुम्हारा ध्यान करते हैं; तुम रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि के गण के पति हो; तुम भृगु, गुरु, शेष आदि ऋषियों के उपदेष्टा हो; तुम सर्वोपरि हो और शास्त्रों के ज्ञाता हो; तुम विश्व की सृष्टि में लगे हुए ब्रह्माओं के सर्वोच्च पति हो अर्थात् सृष्टि आदि कार्यों में ब्रह्मा और अन्य देव तुम्हारी आराधना करते हैं।" पीत कौशेय और पीत ब्रह्मसूत्र धारण करने वाले, चार भुजा, तीन नेत्र और सिन्दूरसे लिप्त मुखवाले, पाश, अंकुश और दण्ड धारी गणपति का आराधन करना चाहिये। इस रूप में जो उनकी पूजा करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है। गणपति समस्त विश्व के कारण हैं। ब्रह्मा आदि उनके अंश हैं। इन गणपति के उपासकों को गणपति के मुख और दन्त के चिह्न अपने दोनों हाथों पर दगवाना चाहिये।

तब हेरम्बसुत आये जो उच्छिष्ट गणपति के उपासक थे। इनके अनुयायी वाम-

मार्गी थे। यह मार्ग सम्भवतः शक्ति-पूजा के कौलाचार के अनुकरण पर बना था। इस संप्रदाय में गणपति के जिस रूप की आराधना की जाती है, वह अत्यन्त अश्लील है। इस संप्रदाय के अनुयायियों में जाति-भेद नहीं माना जाता। विवाह आदि की मर्यादायें भी नहीं हैं। मदिरा और कामाचार की पूरी छूट है। उपासक को अपने मस्तक पर रक्त चिन्ह धारण करना चाहिए। संध्या-वन्दन आदि समस्त साधारण विधान व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ दिये गए हैं।

अन्य तीन नवनीत, स्वर्ण और संतान गणपतियों के अनुयायी श्रौत विधि के अनुसार अपने-अपने उपास्य की पूजा करते हैं। चूँकि प्रत्येक धार्मिक कृति के आरम्भ में गणपति की आराधना करते हैं, अतएव वे प्रमुख देवता हैं और अन्य देवता उनके अंश हैं। इस रूप में गणपति की पूजा करनी चाहिये। उनके उपासक समस्त विश्व को गणपतिमय देखते हैं और इस रूप में पूजा भी करते हैं।

गणपति-विनायक की पूजा का प्रारम्भ छठी शताब्दी में हुआ था। अतएव शंकराचार्य के समय में अनेक गाणपत्य सम्प्रदायोंका अस्तित्व संदिग्धहै। आराध्य देवता के मुख और दाँत को भुजाओं पर दगवाने के समान परम्परा माध्व वैष्णवों में भी प्रचलित थी, किन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि इस सम्प्रदाय का उदय कब हुआ? प्रायः सभी हिन्दुओं में सभी धार्मिक कृत्यों के आरम्भ में और विशेष अवसरों पर गणपति की पूजा की जाती है, जिसका संप्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं है। महाराष्ट्र में भाद्रपद शुक्लपक्ष की चतुर्थी के दिन बड़े उत्सव के साथ उनकी मिट्टी की मूर्ति की पूजा की जाती है और पूना के समीप चिञ्चवाड में केवल गणेश की पूजा के लिए एक मठ है।

स्कन्द-कार्तिकेय

स्कन्द-कार्तिकेय की पूजा बड़ी व्यापक थी, किन्तु आजकल विरल है। सामान्य मान्यता यह है कि वे शिव और पार्वती के पुत्र थे। किन्तु रामायण में उन्हें अग्नि और गंगा का पुत्र कहा गया है (काण्ड १, अध्याय ३७)। गंगा ने भ्रूण को हिमालय पर्वत पर फेंक दिया था और छह कृत्तिकाओं ने उनका पालन-पोषण किया था, इसलिये वे कृत्तिकाओं के पुत्र अथवा कार्तिकेय कहलाते हैं। महाभारत (वनपर्व अध्या० २१९) में भी वे अग्नि के पुत्र कहे गये हैं, किन्तु उनकी माँ अग्नि की पत्नी स्वाहा थीं, जिन्होंने ६ ऋषियों की पत्नियों का रूप धारण कर रखा था और जिन्हें अग्नि प्रेम करते थे। किन्तु यहाँ पर कार्तिकेय को शिव का पुत्र कहा गया है, क्योंकि अग्नि शिव देवता का एक रूप है। ऐसी अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें उन्हें शिव-पार्वती का पुत्र कहा गया है। कहानियाँ कुछ भी हों, इसमें सन्देह नहीं कि उनका शिव से संबंध था और वे उनके एक गण के नायक थे। लिंगायत संप्रदाय में ऐसी अनुश्रुति प्रचलित है कि वे शिव के एक रूप और गोत्र प्रवर्तक थे। उनका वाहन मयूर है और इससे भी उनका शिव से संबंध प्रकट होता है, क्योंकि मयूर जंगलों में पाये जाते हैं, जिनके अधिपति रुद्र और उनके गण थे। कार्तिकेय रुद्र के गणों के एक नायक थे, सम्भवतः इस बात से इस विचार का उदय हुआ कि वे देवताओं के सेनापति थे। ऐतिहासिक काल में भी उनका शिव से सम्बन्ध मान्य था। अष्टाध्यायी ५, ३, ९९ पर पतञ्जलि शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियों का उल्लेख करते हैं, जिनकी उनके समय पूजा की जाती थी। कुषाणराज कनिष्क के कुछ सिक्कों के पृष्ठ भाग पर स्कन्दो महासेनो कुमारो और विजागो नामों के साथ तीन आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं[1]। प्रथम स्कन्द हैं, वे देवताओं की सेना का नायकत्व करते थे इसलिए वे महासेन भी कहलाते थे। सिक्कों पर दूसरा नाम महासेन है। तीसरा नाम कुमार है, जो स्कन्द का ही नाम है और चौथा नाम विशाख है। यदि प्रथम तीन एक ही देवता के नाम हैं तो तीन नाम और तीन आकृतियाँ देने की आवश्यकता नहीं थी। अतएव ये तीन पृथक् देवता माने जाते रहे होंगे। पतञ्जलि ने विशाख और स्कन्द नामों का अलग-अलग उल्लेख किया है। महाभारत की एक कथा के अनुसार, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, जब इन्द्र ने स्कन्द पर वज्र प्रहार किया तब उनके दक्षिण पार्श्व से विशाख उत्पन्न हुये थे। इस कथा में दो व्यक्तियों को एक करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और कालान्तर में वे एक

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २०, पृ० ३८५

२. वही, पृ० ३९३

हो गये। अथवा यह भी सम्भव है कि वे तीनों एक ही देवता के नाम हों क्योंकि सिक्कों पर बुद्ध के भी दो नाम मिलते हैं। आरम्भिक शताब्दियों में स्कन्द अथवा महासेन के लोकप्रिय देवता होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बिल्साड में ध्रुवशर्मा ने ४१४ ई० में स्वामी महासेन के मंदिर में एक प्रतोली बनवाई थी। हेमाद्रि ने व्रतखण्ड में कुमार तथा कार्तिकेय के लिए अनेक विधान एवं व्रत बतलाये हैं और आज भी कार्तिकेय-पूजा उच्छिन्न नहीं हुई है।

सौर-सम्प्रदाय और उदीच्य सूर्य-पूजा

सूर्य (अर्थात् आकाश में दृष्टिगोचर होने वाला सूर्य-चक्र) एक वैदिक देवता थे। ऐसे देवता की पूजा का बाद तक प्रचलित रहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि सूर्य-चक्र आकाश में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों (७, ६०, १; ६२, २) में ऋषि उदीयमान सूर्य से प्रार्थना करते हैं कि मित्र वरुण आदि देवताओं से हमको निष्पाप बतलायें। इस विचार का उदय संभवतः इस कररण हुआ कि सूर्य उदित होकर अपनी प्रभा से रात्रि में होने वाली प्रत्येक बात को प्रकाशित कर देता है। अतएव यह धारणा बन गयी कि सूर्य पापों का नाश करता है। कौषीतकि ने प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सूर्य की आराधना की और जल, चन्दन के साथ अथवा केवल अर्घ्य देकर उनसे पापों के प्रक्षालन की प्रार्थना की (कौ० ब्रा० उ० २, ७)। हम लोग संध्या और मध्याह्न की आराधनाओं में यही करते हैं। मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचमन करते हैं। उस मन्त्र का आशय यह है कि सूर्य, मन्यु और मन्युपति आराधक की पापों से रक्षा करें (आ० गृ०, परिशिष्ट १, ३; तै० आ० १०, २५, १)। इसके बाद गायत्री मन्त्र का पाठ करके तीन बार सहायक सामग्री के साथ अथवा विना सामग्री के सूर्य को अर्घ्य देते हैं। तदनन्तर आदित्य ब्रह्म हैं, इस प्रकार के मन्त्र का जप करते हुए पानी को अपने सिर के चारों ओर अर्पित करते हैं। आश्वलायन ने यह विधान किया है कि प्रातःकाल संध्या-वन्दन करते हुए पूर्व की ओर मुख करके गायत्री मन्त्र का तब तक जप करना चाहिए जब तक सूर्य का पूरा उदय न हो जाय। संध्याकाल में पश्चिम की ओर मुख करके तब तक जप करना चाहिए जब तक सूर्य पूरी तरह न डूब जाय और तारे न निकलने लगें (आ० गृ० ३, ७, ४-६)। उपनयन संस्कार में जब बालक को यज्ञोपवीत और ब्रह्मचर्य जीवन की अन्य वस्तुएँ प्रदान की जाती हैं, उसको सूर्य-मण्डल की ओर देखने को कहा जाता है। तब आचार्य सूर्य की ओर संबोधन करके कहता है "हे सविता! यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है, इसकी रक्षा करो, यह मरने न पाये" (आ० गृ० १, २०, ६)। खादिरगृह्यसूत्र संम्पत्ति और यश की प्राप्ति के लिए सूर्य की आराधना का विधान करता है (४, १, १४ एवं २३)। अपने वनवास में युधिष्ठिर ने सूर्य की स्तुति की थी और उनसे अपने परिवार और अपने अनुयायियों के भोजन पकाने के लिए एक पात्र प्राप्त किया था। सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के दरबार के कवि मयूर ने कुष्ठरोग से मुक्ति पाने के लिए सूर्य-शतक की रचना की थी। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में भवभूति ने अपने मालतीमाधव नाटक में सूत्रधार से पापों

के क्षय और कल्याण के लिए उदयकालीन सूर्य की स्तुति करायी है। इस प्रकार वैदिक काल से ही पापों के विनाश के लिए तथा सम्पत्ति, अन्न, यश, स्वास्थ्य और अन्य लाभों के लिए सूर्य की स्तुति होती रही है। आजकल सूर्य को उनके बारह नामों का जप करते हुए बारह बार साष्टांग प्रणाम करते हैं। नामों की संस्कृत व्युत्पत्ति स्पष्ट है, उनमें से कोई भी बाहर से आया हुआ नहीं मालूम पड़ता। साष्टांग प्रणामों की अधिक लम्बी तालिका प्राप्त होती है।

यह सहज सम्भावना है कि सूर्य की अलग पूजा के लिए कोई सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया होगा। यह सौर सम्प्रदाय है। आनन्दगिरि ने बतलाया है कि शंकर दक्षिण के सुब्रह्मण्य नामक स्थान में, जहाँ की यात्रा में अनन्तशयन या त्रिवेन्द्रम् से १४ दिन लगते हैं, सौर सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिले थे। उनके आचार्य का नाम दिवाकर था। वे अपने मस्तक में चन्दन की लाल टिपकी लगाये थे और रक्त-पुष्प धारण किये थे। दिवाकर ने सौर सम्प्रदाय का यह विवरण दिया है। सूर्य परमात्मा हैं और जगत् के स्रष्टा हैं। वे सौरों के देवता हैं और उनके द्वारा पूजित होते हैं। श्रुतियाँ स्वयं उन्हें जगत् का कारण बतलाती हैं जैसे "सूर्य चल और अचल की आत्मा हैं (ऋ० १, ११५, १) और "आदित्य ब्रह्म हैं।" तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म, जिससे सूर्य को अभिन्न बताया गया है, समस्त जगत् का कारण है, और उससे प्राणियों की उत्पत्ति होती है (तै० उ० ३, १, १)। एक स्मृति ग्रंथ में भी यही सिद्धान्त मिलता है। सूर्योपासकों के ६ वर्ग हैं। सभी लाल चन्दन के चिह्न तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं और अष्टाक्षर मन्त्र का पाठ करते हैं। कुछ लोग उदय हुए सूर्य मण्डल की स्रष्टा ब्रह्मदेव के रूप में तथा कुछ लोग मध्याह्न सूर्य की संहारक ईश्वर के रूप में पूजा करते हैं। उसे प्रभवकर्ता भी मानते हैं। कुछ लोग अस्त होते हुए सूर्य को पालक विष्णु मानते हैं। उसको सृष्टि और प्रलय का कारण और परमतत्त्व मान कर उसकी पूजा करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सूर्य के तीन रूपों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा स्रष्टा, पालक और संहर्ता मानकर उनकी उपासना करते हैं। अन्य लोग नित्य सूर्य-मण्डल के दर्शन करने का व्रत धारण करके उसमें परमात्मा को विद्यमान मानकर पूजा करते हैं। वे सूर्य मण्डल ... मर में देखते हैं, सोलह प्रकार से उसकी पूजा करते हैं, अपने समस्त कार्य ... खला, जैसा कि को समर्पित कर देते हैं और बिना सूर्य-मण्डल को देखे भोजन नह अथवा वैसा ... र्य, भक्त अपने मस्तक, भुजा और वक्ष पर गरम लोहे से सूर्य-मण्डल दगवाते हैं अ... र्य-मूर्ति ... एक रूप से भगवान् का ध्यान करते हैं। इन सभी छह सम्प्रदायों के भक्त अष्टा ... पुजारी के पुत्र जप करते हैं। सौर सम्प्रदाय के लोग भी अन्य सम्प्रदायों की भाँति ... प्रचलित मन्त्रों से अपने उपास्य की महिमा और श्रेष्ठता की व्याख्या क ... ल से ही (ऋ० ९, ९०) एवं शतरुद्रिय की इस रूप में व्याख्या की गयी ... न्दन, १९०... दिखलाई निकाला गया है कि मुक्ति चाहने वाले सभी लोगों को सूर्य ... थी। ईसा की अपने शरीर पर उनके चिह्न धारण करने चाहिए और मन्त्र

यहाँ तक सूर्य-पूजा के विकास में किसी तरह का विदेशी तत्त्व नहीं दिखलाई पड़ता। किन्तु ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से ही इस प्रकार का प्रभाव उत्तर भारत में सूर्यपूजा को प्रभावित करने लगा था। वराहमिहिर पूर्वोद्धृत श्लोक में (बृ० सं०, अध्याय ६०, १९) बतलाते हैं कि विभिन्न देवों की प्रतिष्ठा उन-उन लोगों से करवानी चाहिए जो अपनी विशिष्ट विधि से अपने-अपने देवताओं की उपासना करते हैं; सूर्य की मूर्तियों और मन्दिरों की प्रतिष्ठा मगों से करवानी चाहिए। इस सम्बन्ध में भविष्यपुराण (अध्याय १३९) में एक कहानी है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब ने, जिनका जन्म जाम्बवती से हुआ था, चन्द्रभागा (पंजाब की चिनाब) नदी के तट पर एक सूर्य मन्दिर बनवाया, किन्तु कोई स्थानीय ब्राह्मण उसका पुजारी बनने को तैयार नहीं हुआ। तब उन्होंने उग्रसेन के पुजारी गौरमुख से पूछा। गौरमुख ने उनसे शाकद्वीप से सूर्य-पूजक मगों को बुलाने की बात कही। तदनन्तर मगों का इतिहास दिया है। सुजिह्व मिहिरगोत्र का एक ब्राह्मण था। उसके निक्षुभा नाम की एक पुत्री थी, जिससे सूर्य को प्रेम हो गया था। उन दोनों का पुत्र जरशब्द या जरशास्त कहलाया। उससे मगों की उत्पत्ति हुई। मग अपनी कमर में एक मेखला पहनते थे, जो अव्यंग कहलाती थी। तदनन्तर साम्ब गरुड़ पर बैठकर शाकद्वीप पहुँचे और वहाँ के कुछ मगों को लाये तथा उनको अपने द्वारा बनवाये गये मन्दिर का पुजारी बना दिया। भारत के इतिहास में काफी पहले से मगों का उल्लेख मिलता है। गया जिले के गोविन्दपुर में शकाब्द १०५९ (११३७-३८ ई०) का एक अभिलेख है। इसके प्रारम्भिक श्लोक में कहा गया है कि सूर्य से मगों की उत्पत्ति हुई और शाम्ब उन्हें इस देश में लाये। छह बड़े कवियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें से कुछ का साहित्य अवशिष्ट है। अन्यत्र भी मगों के सन्दर्भ मिलते हैं। राजपूताना और उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों में मग ब्राह्मण पाये जाते हैं। ये मग प्राचीन पारस के मगी हैं और भविष्य पुराण में उल्लिखित जरशास्त नाम अवेस्ता के जरथुस्त्र का स्मरण दिलाता है। अव्यंग, जिसको पुराण के अनुसार वे कमर में पहनते थे, अवेस्ता का ऐव्याओंघेन है। उसका तात्पर्य कुस्ति से है, जिसे आजकल भी पारसी पहनते हैं। अल्बेरूनी का कहना है कि भारत में मग ल...यमान थे।[१] उनको शाकद्वीप का निवासी कहने का कारण संम्भवतः यह हो कि ब्रह्मचर्य ज...शाँति, जिनसे द्वितीय या तृतीय शताब्दी से ही भारतवासी परिचित थे, को कहा जाता थे। अतएव स्पष्ट है कि सूर्य अथवा मिहिर की पूजा भारतवर्ष में यह तुम्हारा त्सीक मगी लाये थे, किन्तु वे किसके आदेश पर और किन परिस्थतियों में खादिरगृह्यसूत्र...हना कठिन है। साम्ब द्वारा उनको लाये जाने की अनुश्रुति बारहवीं करता है (४, ...र्द्ध में प्रचलित थी, जैसा कि अभिलेख साक्ष्य के आधार पर हम देख की थी और उनस्लिखित चन्द्रभागा के तट पर बनाया हुआ मन्दिर मुल्तान में था, लिए एक पात्र प्राप्त। ह्वेनसांग ने बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। चार शताब्दियों के बाद मयूर ने कुष्ठरोग से मुक्ति

शताब्दी के आरम्भ में भ...भाग १, पृ० २१

अल्बेरूनी ने भी उसको देखा था।[१] सत्रहवीं शताब्दी तक उसका अस्तित्व रहा जब कि औरंगजेब ने उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया। मुल्तान संस्कृत के मूलस्थान शब्द का अपभ्रंश है। इस स्थान को यह नाम सम्भवतः इसलिए दिया गया था कि सूर्य की नवीन पूजा को पहली बार यहीं संगटित किया गया था और यह सूर्य-पूजा का मूल अधिष्ठान था। कनिष्क के सिक्कों पर नाम के साथ मिहिर की आकृति है। मिहिर पारसी मिह्र शब्द का संस्कृत रूप है। मिह्र मिथ्र शब्द का अपभ्रंश है, जो वैदिक मित्र का आवेस्तिक रूप है। मिह्र सम्प्रदाय का उद्भव पारस में हुआ था और एशिया माइनर तथा रोम तक इसका विस्तार था। इसकी धर्म-परिवर्तक शक्ति, जो इसके आरम्भिक अनुयायियों की विशेषता थी, पूर्व दिशा में भी फैली होगी। इस प्रसार का प्रमाण है कनिष्क के सिक्कों पर मिहिर की आकृति। कनिष्क के काल में ही सूर्य-पूजा भारत में आयी होगी और मुल्तान का मन्दिर भी, जो इसका मूल अधिष्ठान था, लगभग उसी समय बना होगा।

मन्दसौर का एक अभिलेख ४३७ ई० में श्रेणी वायपट्ट द्वारा एक सूर्य मन्दिर बनवाने और ४७३ ई० में उसकी मरम्मत कराने का उल्लेख करता है। बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) के इन्दौर से प्राप्त एक ताम्रपत्र में (४६४ ई०) देवविष्णु के एक दान का उल्लेख है, जो सूर्य के एक मन्दिर में दीप जलाने के लिए दिया गया था। एक अन्य अभिलेख में ५११ ई० में आदित्य के एक मन्दिर को दान देने का वर्णन है। पश्चिमी भारत में मुल्तान से कच्छ और उत्तरी गुजरात तक बहुत से सूर्य मन्दिर मिले हैं।[२] उत्तरी गुजरात में पाटन से अटारह मील दक्षिण मोधेरा में एक सूर्य मन्दिर का अवशेष है, जिसकी तिथि विक्रमाब्द १०८३ (१०२७ ई०) है। हूण राजा मिहिर कुल के राज्य-काल में छटवीं शताब्दी के आरम्भ में एक मन्दिर ग्वालियर में बनवाया गया था।

वराहमिहिर ने इस प्रकार के मन्दिरों में पूजित सूर्य-मूर्ति का स्वरूप निरूपण किया है (बृ० सं०, अध्याय ५८)। इस प्रसंग में उनके द्वारा उल्लिखित ये लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं। सूर्य की मूर्ति उदीच्यवेश में बनायी जानी चाहिए, उसके पैर जानुपर्यन्त ढके रहने चाहिए, (श्लोक ४६) और कमर में अव्यंग होना चाहिए (४७)। इसी कारण उपर्युक्त मन्दिरों की सूर्य मूर्तियाँ जानुपर्यन्त लम्बे उपानह और कमर में मेखला, जिसका एक छोर नीचे लटकता है, पहने हुए हैं[३]। यह मेखला, जैसा कि हम देख चुके हैं, पारसी लक्षण है। उपानह का भी पारसी अथवा वैसा ये, स्रोत होना चाहिए। यह निश्चित रूप से भारतीय लक्षण नहीं है। सूर्य-मूर्ति एक लक्षण और मगों (जो पारसी मगी के वंशज हैं) के सूर्य-मन्दिर के पुजारी के पुत्र प्रचलित

१. सखाऊ का अनुवाद, भाग १, पृ० ११६
२. बर्जेस, अर्कीटेक्चरल एण्टिक्विटीज़ ऑफ नार्दर्न गुजरात, लन्दन, १९०
३. वही, फलक ५६

...ल से ही ...न दिखलाई ...थी। ईसा की

यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य-पूजा पारस से भारतवर्ष में आयी। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अनेक मन्दिरों के बनने का कारण भी विदेशी प्रभाव है, क्योंकि हमने ऊपर सौर संप्रदायों का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, उसमें सूर्य-मन्दिर का कोई उल्लेख नहीं है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि उत्तर भारत में प्रचलित सौर पूजा उन सम्प्रदायों से भिन्न थी और उसका उनमें से किसी भी सम्प्रदाय से संबंध नहीं था। किन्तु हिन्दुओं ने अधिकांश रूप में उसे स्वीकार कर लिया था। सूर्य की स्वदेशी पूजा की भाँति यह भी भावनापूर्ण थी। मन्दिरों में प्राप्त आभिलेखों में जिस ढंग से सूर्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित की गयी है, उसमें लेशमात्र भी विदेशीपन नहीं दिखाई पड़ता। स्वयं मग, जो नवीन सूर्य-पूजा में पुजारी थे, शनैः शनैः हिन्दू बना लिये गये। अन्ततोगत्वा अन्य हिन्दुओं से उनका भेद करना असम्भव हो गया और केवल उनकी जाति अलग बन गयी। हर्षवर्धन (सातवीं शताब्दी के मध्य में) के दानपत्र में उसके पिता प्रभाकर-वर्धन, पितामह आदित्यवर्धन और प्रपितामह राज्यवर्धन परमादित्यभक्त कहे गये हैं[१]। यह इस बात का प्रमाण है कि सूर्य-पूजा, जिसमें स्वदेशी और विदेशी तत्त्वों का समन्वय हो गया था, छठी शताब्दी के आरम्भ में प्रचलित थी और बड़े राजा इसके समर्थक थे।

उपसंहार

प्रकृति के भयंकर और विनाशकारी रूप से रुद्र (भयंकर रव करने वाला) और उनके गणों (रुद्र अथवा रुद्रीय) की कल्पना का उदय हुआ। आराधना करने पर यह रुद्र देवता शिव, शंकर और शंभु हो जाते हैं। रुद्र विषयक कल्पना का शनैः शनैः और भी विस्तार हुआ, यहाँ तक कि रुद्र विषम और भयंकर दृश्यों जैसे श्मशान, पर्वत और वन के देवता हो गये तथा वन और पर्वतों में रहने वाले पशुओं असभ्य लोगों, चोरों और हीन वर्णों, जो उनकी पूजा करते थे, के भी स्वामी हो गये। कालान्तर में वे सबके देवता बन गये। अग्नि, जल, समस्त प्राणियों, औषधियों और वृक्षों में उनका निवास माना जाने लगा। वे सब प्राणियों के सर्वोच्च शास्ता हो गये। इस स्थिति पर पहुँच जाने से वे औपनिषद चिन्तन के विषय बने और उनका ध्यान करके तथा उनको विश्व में सर्वत्र देख कर आनन्दमय मुक्ति की कल्पना होने लगी।

यह परन्तु रुद्र का भयंकर और विषम पक्ष तिरोहित नहीं हुआ, प्रत्युत विकसित होता खादि। पाञ्चरात्र जैसे धार्मिक मतों के उदय के कुछ समय बाद ही रुद्र करता पशुपति का भी एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने की थी लकुटिन्, लकुलिन्, लकुलीश अथवा नकुलीश नामक व्यक्ति था। लिए एक प का नाम पंचार्थ और उसके सम्प्रदाय का नाम पशुपत था। उस सम्प्रदाय मयूर ने कुछ

शताब्दी के [१] इण्डि०, भाग १, पृ० ७२-७३

में दो अतिमार्गिक और एक सौम्य शाखा (शैव) का उदय हुआ । ईसा की दूसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक इन सम्प्रदायों के संदर्भ मिलते हैं। दोनों अतिमार्गिक सम्प्रदायों के अमांगलिक रूप और अन्य दो सम्प्रदायों के विकट रूप की प्रतिक्रिया हुई । नवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम काश्मीरी शैव मत का उदय हुआ और लगभग सौ वर्ष बाद दूसरे मत का। काश्मीर के ये दोनों ही सम्प्रदाय अपने दर्शन और आचार में सौम्य थे। सम्भव है वे शंकराचार्य के दर्शन से प्रभावित रहे हों। यद्यपि इन मतों ने उनके एकान्त अद्वैत से हट कर मुक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता बतलायी। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में लिंगायत सम्प्रदाय ने अन्य सुधार प्रस्तुत किया। लिंगायत दर्शन यह है कि ईश्वर शाश्वत चित् और आनन्द है, विश्व का स्रष्टा है, मनुष्य मात्र का उपदेष्टा और उद्धारक है। विश्व में शनैः शनैः विरक्त हो कर पूजार्चा करते हुए अपने को ईश्वर के प्रति अर्पित करके और उनको सर्वत्र देखते हुए जीव आनन्दानुभूति में ईश्वर के सायुज्य को प्राप्त करता है। यह दर्शन रामानुज दर्शन से प्रभावित मालूम होता है। फिर भी लिंगायत कट्टर थे और उन्होंने ब्राह्मण मान्यताओं पर आधारित समाज से अपना पृथक् वर्ग बना लिया था। इन सब सम्प्रदायों के अस्तित्व में रहते हुए भी सामान्य लोगों में रुद्र-शिव की सामान्य उपासना प्रचलित रही।

शिव अपनी शक्ति पार्वती अथवा उमा से सम्बद्ध थे। वे भी कल्याणकारी देवी थीं, जैसा कि केनोपनिषद् से मालूम होता है। रुद्र-शिव की भाँति पार्वती की कल्पना के विकास में भी आदिवासियों का योगदान है। इस प्रकार वे भयंकर देवी हो गयीं और पशु-बलि एवं नर-बलि से उनकी आराधना की जाने लगी। चूँकि मनुष्य में काम प्रबल होता है, अतः त्रिपुरसुन्दरी (तीन पुरों में सुन्दर) अथवा ललिता जगत् की सृष्टि करने वाली मानी जाने लगीं। पतित और कामपरायण विधियों के साथ उनकी पूजा होने लगी। इस प्रकार शाक्त सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसके मानने वाले त्रिपुरसुन्दरी के साथ तादात्म्य को जीवन का लक्ष्य समझते थे। गणपति गण के स्वामी होने के कारण रुद्र-शिव से सम्बद्ध थे। उनके साथ लोगों को ग्रसित करने वाले विनायकों की कल्पना भी आ मिली और इस प्रकार मिश्र देवता गणपति-विनायक इस उद्देश्य से पूजा के विषय बन गये कि किसी कार्य को आरम्भ करने के पहले विघ्न उपस्थित करने वाली दुरात्माओं की आराधना करनी चाहिये। कालान्तर में उनके छह सम्प्रदाय हो गये, जिनमें से एक का दर्शन शाक्त सम्प्रदाय की तरह अनैतिक है। शिव के गणों में एक स्कन्द भी थे और इस कारण उनका शिव से घनिष्ठ सम्बन्ध था। बाद में वे उनके पुत्र माने जाने लगे। पतञ्जलि के काल से आगे कई शताब्दियों तक उनकी पूजा प्रचलित रही और आज भी पूरी तरह उच्छिन्न नहीं हुई है। सूर्य की आरम्भिक काल से ही पूजा होती थी जो अब तक चल रही है, क्योंकि सूर्यमण्डल प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है। किन्तु उनकी साम्प्रदायिक पूजा कुछ समय बाद आरम्भ हुयी। ईसा की

तृतीय शताब्दी के लगभग पारस से एक अन्य सौर मत आया। इसने भारत में अपनी जड़ें जमा लीं और उत्तर-पश्चिम भारत में काफी समय तक प्रचलित रहा। सूर्य की पूजा के लिए समय-समय पर बहुत से मंदिरों का निर्माण हुआ। मग नामक एक विशेष पुरोहित वर्ग इस सौर मत से सम्बद्ध था। हिन्दू जनता ने इस मत को इस प्रकार से ग्रहण कर लिया, जैसे यह अपने मूल रूप में स्वदेशी हो।

हिन्दू देववाद और विश्वात्मवाद

हमने विभिन्न मत-प्रवर्तकों के सिद्धान्त अथवा दार्शनिक पक्ष का अध्ययन किया। उनके ये सिद्धान्त उपनिषदों और भगवद्गीता के कतिपय मूल विचारों पर आधारित हैं। हम इस बात की समीक्षा करेंगे कि वे विचार क्या हैं और विभिन्न मत-प्रवर्तकों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनको किस सीमा तक स्वीकार किया है अथवा उनमें किस सीमा तक परिवर्तन किया है।

इन विचारों पर विमर्श करते हुए कतिपय विद्वान् देववाद (थीज्म) तथा वेदान्त (जिसको वे पेन्थीज्म कहते हैं) में अन्तर करते हैं और यदि वे किसी देवपरक ग्रंथ में ईश्वर के विश्वानुगत्व का सूचक कोई अंश पाते हैं तो उस अंश को प्रक्षिप्त कह देते हैं। इस ग्रंथ के आरम्भ में ही मैंने इस प्रवृति की ओर संकेत किया है, किन्तु इस विषय पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है। यदि देववाद से उनका तात्पर्य है अठारहवीं शताब्दी के डीज्म (जिसके अनुसार विश्व ईश्वर द्वारा निर्मित और परिचालित यन्त्र है, किन्तु ईश्वर उससे विलग रहता है) और साथ ही इस सिद्धान्त से है कि वह उनलोगों से सम्बन्ध स्थापित करता है जो उसकी पूजा और आराधना करते हैं, तो उनका दृष्टिकोण ठीक है। परन्तु यह हिन्दू देववाद नहीं है। बाह्य जगत् और जीवों के हृदय में ईश्वर का अन्तर्भाव हिन्दू देववाद का मूल सिद्धान्त है। किन्तु इसका ईश्वर की विश्वोत्तीर्णता से कोई विरोध नहीं है। विश्वोत्तीर्णता का तात्पर्य यह है कि ईश्वर जीव और जगत् से पृथक् तथा उनसे ऊपर है; वह उनको प्रभावित करता है; उनका नियमन करता है; उनकी रक्षा करता है और उनकी प्रार्थना सुनता है। इस बात को यूरोपीय विचारक भी स्वीकार करते हैं कि विश्वानुगत्व और विश्वोत्तीर्णता परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। भगवद्गीता का देववाद इसी प्रकार का देववाद है। अतएव ईश्वर को अन्तर्यामी बतलाने वाले अनुच्छेदों को प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार का देववाद उपनिषदों में भी है, यद्यपि उनमें अनेक प्रकार के अद्वैतवादी विचार भी मिलते हैं।

पैन्थीज्म की स्पिनोजा ने इस प्रकार व्याख्या की है, "ईश्वर बाह्यतः अनवधार्य होकर भी आत्मना पूर्णतः अवधार्य है। इस प्रकार ईश्वर, जो एकमात्र कारण है, असंख्य विशेषवस्तुरूपों में प्रकट होता है। अतएव स्पिनोजा विश्वात्मवादी (पैन्थीस्ट) और विश्वरूपत्ववादी (पैन्कॉस्मिस्ट) दोनों हैं; जिस रूप में जगत् में देखते हैं, उसी रूप में ईश्वर का अस्तित्व है और ईश्वर की अभिव्यक्ति में ही जगत् की सत्ता है।[1]"

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ग्यारहवाँ संस्करण, भाग २०, पृ० ६८३ ए, पेन्थीज्म के अन्तर्गत।

इस उद्धरण के प्रथम दो वाक्यों में जो कुछ कहा गया है, उपनिषदों में उसके अनुरूप अभेदवादी विचार मिलते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य हैं कि जब हम एक को जान लेते हैं, तब सब कुछ जान लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हम मिट्टी के एक पिण्ड की वास्तविक प्रकृति को समझ लेते हैं तब हम उन वस्तुओं की प्रकृति को समझ लेते हैं जो मिट्टी से बनी हैं (छां० उ० ६, १, ४); जब आत्मा को देखते, सुनते और जानते हैं तब यह सब कुछ जान लेते हैं; ब्रह्म, क्षत्र, ये लोक, ये देव, ये तत्त्व—सब कुछ आत्मा हैं (बृ० उ०, ४, ४, ६)। ऐसे वाक्य भी मिलते हैं कि आरम्भ में एक मात्र सत् था, अद्वैत। उसने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने प्रकाश उत्पन्न किया। इस कथन का यह तात्पर्य है कि सत्तावान् प्रत्येक वस्तु ईश्वर का रूप अथवा परिणाम है। उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं और शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र १, ४, २३-२७ पर अपने भाष्य में ऐसे अनेक उल्लेखों को उद्धृत किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उपनिषदों का अभेदवाद स्पिनोजा के अन्तिम वाक्य के अनुरूप है अर्थात् ईश्वर विश्व से परि-छिन्न नहीं है अपितु विश्वोत्तीर्ण है। किन्तु इस मत के विरुद्ध यह आपत्ति है कि ब्रह्म तो आत्मस्वरूप है काव्यस्वरूप नहीं, जिसको अंशों में बाँटा जा सके और एक अंश तो विश्व में व्याप्त हो तथा दूसरा उससे बाहर रह जाय। श्वेताश्वतर उपनिषद् के एक स्थल (६, १९) से इस बात का समर्थन होता है! बादरायण ने ब्रह्मसूत्र २, १, २६-२७ में उक्त असंगति को दूर किया है। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यद्यपि उपनिषद् ब्रह्म को जगत् की योनि मानते हैं, किन्तु साथ ही वे ब्रह्म की विश्व से पृथक् सत्ता का भी समर्थन करते हैं (छां० उ० ३, १२, ६; ६, ३, २)। ये दोनों ही बातें इस दृष्टि से असंगत हैं कि ब्रह्म आत्मा है और अंशों में विभाज्य नहीं है। इस प्रकार यद्यपि इन दोनों बातों में असंगति है फिर भी आगम के प्रमाण के आधार पर दोनों ही बातों को स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि ब्रह्म और जगत् का वास्तविक स्वरूप मानव-बुद्धि की पहुँच के परे है। आगम की प्रामाणिकता को न मानने वाले नास्तिकों को उक्त कठिनाई का यह समाधान स्वीकार नहीं होगा। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि बादरायण को स्पिनोजा के पैन्थीज्म की परिभाषा का अन्तिम पक्ष स्वीकार नहीं था अर्थात् उनके अनुसार उपनिषद् यह नहीं कहते कि "जिस रूप में हम जगत् में देखते हैं उसी रूप में ईश्वर का अस्तित्व है और ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में ही जगत् की सत्ता है।" उन्होंने जिस असंगति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है वह ब्रह्म की अविभाज्यता पर आधारित है। किन्तु यदि इस विचार को न ला कर हम यह कल्पना करें कि एक दृष्टि से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथा जगत् में उसका अनुभव कर सकते हैं और दूसरी दृष्टि से वह अविकारी रहता है तथा ध्येय एवं उपास्य बनता है, तो कोई असंगति नहीं दिखती। जो भी हो मुझे बादरायण का मत ठीक लगता है और उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अभेदवाद ठीक वैसा ही नहीं है, जैसा कि स्पिनोजा ने प्रतिपादित किया है।

यह अभेदवाद भी उपनिषदों का केवल एक सिद्धान्त है। जेउत की ओर संकेत उल्लेख किया गया है उनमें एक ही दर्शन के नहीं, अपितु अनेक दर्शनती या भेदवादी किग़ौद्धदर्शन के भी, बीज मिलते हैं। ब्रह्म को विश्व से भिन्न कहा गया है। का उदय जगत् और जीव का अन्तर्यामी है, इतना कहकर जब जगत् से ब्रह्म का ५.३)। बतलाया जाता है, तब दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जीव और जगत् में ईश्वैर का अन्तर्भाव बतलाकर देववाद का प्रतिपादन किया जाता है। उदाहरण के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् (३, ७, ७–३०) में कहा गया है कि जो पृथ्वी में रहते हुए भी पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी स्वयं जिसका शरीर है और जो अन्तर्यामी होकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह अमृत अन्तर्यामी आत्मा है। आगे के अनुच्छेदों में संख्या तीस तक जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य, चन्द्र-तारक, दिशा, तम, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, रेत और विज्ञान सब के लिए उसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यहाँ पर अन्तरात्मा को पृथ्वी से लेकर विज्ञान तक सबसे भिन्न कहा गया है। फिर भी आत्मा उनमें निवास करती है और अन्दर से ही उनका नियमन करती है। वे उसके शरीर हैं। बृहदारण्यक के इस खण्ड का उपसंहार यह कहते हुए होता है कि यह आत्मा अदृष्ट है, किन्तु स्वयं द्रष्टा है; अश्रुत है, किन्तु स्वयं श्रोता है; अमत है, किन्तु स्वयं मन्ता है; अविज्ञात है, किन्तु स्वयं विज्ञाता है। उससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है। यहाँ पर हिन्दू देववाद की यह विशेषता स्पष्ट हो जाती हैं कि ईश्वर एकमात्र द्रष्टा, एकमात्र श्रोता और एकमात्र विज्ञाता है, अर्थात् वह सर्वद्रष्टा, सर्वश्रोता और सर्वज्ञ है; उसको न कोई देख सकता है, न सुन सकता है और न जान सकता है। वह सब विषयों से भिन्न है, किन्तु उनमें रहता है और उनका नियमन करता है। ईश्वर के इस प्रकार अन्तर्यामी होने की बात उपनिषदों के अनेक स्थलों में कही गई है। अन्तर्यामी होते हुए भी ईश्वर जगत् से भिन्न है, अतएव भक्तिपूर्ण ध्यान का विषय हो सकता है और सत्य, ज्ञान और शुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का विश्वानुगत्व स्पिनोजा द्वारा प्रतिपादित पेन्थीज्म मात्र नहीं है। इसलिए भगवद्गीतां जैसे देवपरक ग्रन्थ में ईश्वर के विश्वानुगत्व व्यंजक वाक्यों को प्रक्षिप्त कहना असंगत है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार बादरायण ने ईश्वर के विश्वानुग और विश्वोत्तीर्ण होने और साथ ही अखण्ड बने रहने में प्रतीत होने वाली असंगति का समाधान किया है। मेरा ऐसा विचार है कि शंकराचार्य ने बादरायण के मत की अच्छी व्याख्या की है। लेकिन एक आपत्ति करते हुए वे अपना यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि जगत् के रूप में ब्रह्म का तथाकथित विकास अज्ञानवश कल्पित होता है और वह सत्य नहीं है अर्थात् जगत् भ्रम है। जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करने वाले दो सिद्धान्त हैं—परिणामवाद और विवर्त्तवाद। प्रथम वास्तविक विकास का सूचक है

और दूसरा भ्रमहेतुक विकास का। विवर्त्तवाद शंकराचार्य का सिद्धान्त है, जिसके कारण शंकराचार्य का दर्शन आध्यात्मिक एकत्ववादी न होकर अद्वैतवादी है, जब कि ब्रह्मसूत्र के लेखक बादरायण प्रथम सिद्धान्त के पोषक हैं। यह निम्नलिखित बात से स्पष्ट है। उन्होंने ब्रह्म की परिभाषा दी है कि जिससे प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है और जिसमें प्रत्येक वस्तु लीन होती है, वह ब्रह्म है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में वे इस आपत्ति का उत्तर देते हैं कि जो चित् है वह विकसित होकर अचित् नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र २, १, १४ की व्याख्या करते हुए स्वयं शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं कि बादरायण परिणामवादी हैं। तथापि अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए शंकराचार्य निराधार रूप से यह कल्पना करते हैं कि परिणामवाद स्वीकार करते हुए भी बादरायण के मन में समस्त पदार्थों के भ्रमहेतुक होने का विचार है।

शंकराचार्य के इसी विवर्त्तवाद का वैष्णव और शैवधर्म के उत्तरवर्ती सम्प्रदायों ने विरोध किया। विवर्त्तवाद ईश्वर और भक्त के सम्बन्ध का पूर्णतः अपलाप करता है, कारण कि उस स्थिति में भ्रम के नष्ट हो जाने पर केवल एक आत्मा रह जाती है। अधिकांश सम्प्रदायों ने बादरायण के परिणामवाद को स्वीकार किया, किन्तु जहाँ तक ईश्वर, जीव और जगत् के भेद का प्रश्न है (जो उनके भक्तिमूलक सिद्धान्तों की प्रमाणिकता के लिए आवश्यक था, उसकी व्याख्या उन्होंने विकास के विभिन्न प्रकारों को अपना कर की। इस तरह उन्होंने बादरायण द्वारा इंगित असंगति को भी दूर कर दिया, क्योंकि बादरायण द्वारा प्रस्तुत समाधान की उनको आवश्यकता नहीं थी। रामानुज कहते हैं कि जीवात्माओं और अचेतन जगत् के बीज ब्रह्म में उसके लक्षण अथवा शरीर के रूप में विद्यमान हैं। उनसे युक्त ब्रह्म जगत् के रूप में विकसित होता है और इस प्रकार तीन भिन्न प्रकार के पदार्थों को जन्म देता है—अचेतन जगत्, जीवात्मा और ईश्वर। निम्बार्क का कहना है कि जीव और जगत् ईश्वर के लक्षण अथवा शरीर नहीं है, अपनी सत्ता के लिए वे ईश्वर पर निर्भर हैं। सूक्ष्मरूप में वे उसकी शक्ति हैं, जो चेतन और अचेतन जगत् के रूप में विकसित होती है। विष्णुस्वामी और वल्लभ कहते हैं कि परब्रह्म जगत्, जीव और अन्तर्यामी ईश्वर के रूप में प्रकट होता है, किन्तु विकास-क्रम में उसके चित् और आनन्द उसकी रहस्यात्मक शक्ति के द्वारा तिरोहित हो जाते हैं। वल्लभ परब्रह्म के दो और भी प्रकार बतलाते हैं, जिनका उनके प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है। मध्व ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते और ब्रह्म के विकास का भी अपलाप करते हैं। वे पाँच नित्य भेदों का प्रतिपादन करते हैं—ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत् जीव और जगत्, जीव और जीव तथा अचेतन पदार्थों में परस्पर भेद।

प्राचीन शैव सम्प्रदायों में पाशुपत सांख्य के प्रधान को स्वीकार करके उसको अचेतन जगत् का उपादान कारण बतलाते हैं और पशुपति को निमित्त कारण। ब्रह्मसूत्र २, २, ३८ की व्याख्या करते हुए श्रीकंठशिवाचार्य कहते हैं कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार शैव आगमों पर आधारित एक दर्शन शिव को

जगत् का केवल निमित्त कारण मानता था। यह शैवसिद्धान्त की ओर संकेत जान पड़ता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि शैवसिद्धान्त द्वैतवादी या भेदवादी है। उनके अनुसार वायवीय-संहिता में यह वर्णन है कि पहले शिव से शक्ति का उदय हुआ, फिर शक्ति से माया का और माया से अव्यक्त का (१, ७, ३)। माया का तात्पर्य शिव की अद्‌भुत सर्जनात्मक शक्ति से है, जैसा कि श्लोक ३ और ७ से प्रकट होता है। वे एक अन्य श्लोक उद्‌धृत करते हैं, जिसमें कहा गया है कि शक्ति से पृथ्वी तक प्रत्येक वस्तु शिव-तत्त्व से उत्पन्न होती है। इस प्रकार शक्ति के माध्यम से शिव जगत् के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण हैं। जो लोग शिव से सृष्टि का विकास मानते हैं, वे शक्तिकी उद्‌भावना करते हैं, किन्तु जो शैव दार्शनिक शिव से भिन्न माया अथवा प्रधान को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि स्वतंत्र रूप से उसका विकास होता है, उनको शक्ति की उद्‌भावना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ब्रह्मसूत्र १, ४, २७ पर श्रीकंठ 'एक मात्र शिव विद्यमान था' श्वेताश्वतर उपनिषद् के (शिव एव केवलः ४, १८) इस कथन की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, 'चेतन और अचेतन जगत् के रूप में शक्ति से युक्त एक मात्र शिव विद्यमान था, वह एक था।' श्रीकंठ यहाँ पर शक्ति-समन्वित शिव को उपादान कारण मानते हैं। इस दृष्टि से उनका मत निम्बार्क के समान है, किन्तु तुरन्त बाद वे चित् और अचित् को शिव का शरीर बतलाते हैं और रामानुज की तरह विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। वे वस्तुतः शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं करते। लिंगायतों का सिद्धान्त वही है, जो श्रीकंठशिवाचार्य के सिद्धान्त का प्रथम प्रकार है। शक्तिविशिष्ट शिव स्रष्टा हैं अर्थात् जगत् के निमित्त और उपादान कारण हैं। काश्मीर शैवमत के अनुसार जगत् की सृष्टि का कारण ईश्वर की इच्छा है, उसका कोई उपादान कारण नहीं है। ईश्वर स्वयं में जगत् को प्रकट करता है।

इनमें से अधिकांश सम्प्रदाय स्पिनोजा के विश्वात्मवाद का परिहार करते हैं। ईश्वर के विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण होने में जो असंगति है उसका भी वे यह कह कर परिहार करते हैं कि जड़ और चेतन जगत् के बीज ईश्वर के साथ उसके गुण, शरीर अथवा उसकी शक्ति के रूप में सम्बद्ध हैं, उन्हीं का विकास होता है, और ईश्वर स्वयं अविकारी रहता है। विष्णुस्वामी और वल्लभ यह मानते हैं कि पुरुषोत्तम का ही जगत् के रूप में विकास होता है, किन्तु साथ ही उसकी विश्वोत्तीर्णता को भी स्वीकार करते हैं और इस प्रकार बादरायण का अनुगमन करते हैं। ईश्वर के कुछ गुणों को अव्यक्त करके भेदों को जन्म देनेवाली उस रहस्यमयी शक्ति की तुलना स्पिनोजा द्वारा उल्लिखित स्वतःनिर्धारिणी शक्ति से की जा सकती है। काश्मीरी शैव ईश्वर को उपादान कारण नहीं मानते जिसका विकास होता हो और इस प्रकार असत् से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं।

अनुक्रमणिका

विशिष्ट धार्मिक ग्रन्थ